काव्य प्रकाश

आचार्य विश्वेश्वर

ग्रन्थ-परिचय

'काव्यप्रकाश' की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सूत्रशैली और विषयबाहुल्य है। भरतमुनिसे लेकर भोजराजतक लगभग १२०० वर्षोंमें अलङ्कारशास्त्रके विषयमें जिस विशाल साहित्यका निर्माण हुआ उसका सम्पूर्ण सारतत्व 'काव्यप्रकाश' है। पूर्ववर्ती आचार्योंके ग्रन्थोंमें विषयप्रतिपादनकी दृष्टिसे जो न्यूनता या त्रुटियाँ रह गयी थीं, आचार्य मम्मटने उन सबको दूर करनेमें पूर्ण सफलता प्राप्त की है। फलतः इस ग्रन्थमें शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि समग्र तत्वोंका यथार्थ मूल्याङ्कन हो सका है।

यह साहित्यशास्त्रका अत्यन्त प्रौढ़ प्रसिद्ध एवं महान् ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन मतोंकी आलोचना है और पद-पदपर दार्शनिक ग्रन्थियाँ उलझी हुई हैं। यही कारण है कि पचासों टीकाओंके बाद भी इसकी दुरूहता बनी हुई है। आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि दार्शनिक ग्रन्थियोंको सुलझानेमें सिद्धहस्त हैं। अतः उनके द्वारा प्रस्तुत यह हिन्दी व्याख्या 'काव्यप्रकाश' का अध्ययन-अध्यापन करनेवालोंके लिए निश्चय ही वरदान-रूप सिद्ध होगी। ९६ पृष्ठोंकी विस्तृत भूमिकामें आदिकालसे लेकर अबतकके साहित्यशास्त्रका सारा इतिहास सुन्दर रूपमें दिया गया है।

मूल्य : १६०.००

काव्यप्रकाशः

आचार्य विश्वेश्वर

ज्ञानमण्डल लिमिटेड
विक्रमभवन, बी० ३०/५ ए, लंका, वाराणसी–२२१००५

मूल्य : १६०) रुपया

काव्यप्रकाशः

ज्ञानमण्डल-ग्रन्थमालाका ९२वाँ ग्रन्थ

काव्यप्रकाशः

[श्रीमम्मटाचार्यविरचित काव्यप्रकाशकी हिन्दी व्याख्या]

व्याख्याकार

स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

सम्पादक

डॉ० नरेन्द्र, एम. ए., डी. लिट्.

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य : एक सौ साठ रुपये

प्रथम संस्करण, भाद्रपद, संवत् २०१७ वि०
द्वितीय संस्करण, आश्विन, संवत् २०१८ वि०
तृतीय संस्करण, श्रावण, संवत् २०२४ वि०
चतुर्थ संस्करण, श्रावण, संवत् २०२७ वि०
पंचम संस्करण, श्रावण, संवत् २०३१ वि०
षष्टम संस्करण, संवत् २०४२ वि०
संस्करण १९९८

© ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०
प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
मुद्रक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सन्त कबीर रोड, वाराणसी, २२१ ००१

विषयसूची

प्रथम उल्लास

[काव्य-प्रयोजन-कारण-स्वरूपनिर्णय]

द्वितीय उल्लास

[शब्दार्थ-स्वरूप-निर्णय]

तृतीय उल्लास

[अर्थव्यञ्जकता-निर्णय]

चतुर्थ उल्लास

[ध्वनि-निर्णय]

पञ्चम उल्लास

[ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्ण-भेदनिर्णय]

षष्ठ उल्लास

[शब्दार्थचित्र-निरूपण]

सप्तम उल्लास

[दोषदर्शन]

अष्टम उल्लास
[गुणालङ्कारभेद-निर्णय]

नवम उल्लास

[शब्दालङ्कार-निर्णय]

दशम उल्लास

[अर्थालङ्कार-निर्णय]

भूमिका

नामकरण

काव्यसौन्दर्यकी परख करनेवाले शास्त्रका नाम 'काव्यशास्त्र' है। काव्यशास्त्रके प्रारम्भिक युगमें इसके लिए मुख्यरूपसे 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता था। इसीलिए काव्यशास्त्रके आदि युगके सभी आचार्योंने अपने ग्रन्थोंका नाम 'काव्यालङ्कार' रखा है। भामहका कारिकारूपमें लिखा हुआ काव्यशास्त्रका आदि ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नामसे ही प्रसिद्ध है। उद्भटने भी अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' रखा है। रुद्रटके काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कार' है। वामनने सूत्ररूप में लिखे हुए अपने ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कारसूत्र' रखा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीनकालमें 'काव्यशास्त्र'के लिए 'काव्यालङ्कार' नाम ही अधिक प्रचलित पाया जाता है। इस नाममें आया हुआ 'अलङ्कार'शब्द सौन्दर्य अर्थको बोधन करनेवाला है। वामनने "सौन्दर्यम् अलङ्कारः"[1] सूत्र लिखकर अलङ्कारशब्दको सौन्दर्यपरक प्रतिपादन किया है। अन्य सब आचार्योंने भी काव्यके सौन्दर्याधायक धर्मोंको ही 'अलङ्कार' नामसे व्यवहृत किया, "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते"[2] आदि वचन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार 'काव्यालङ्कार' शब्दका अर्थ काव्य-सौन्दर्य होता है और उससे लक्षणा द्वारा काव्यसौन्दर्यपरक शास्त्रका ग्रहण होता है। इसीलिए काव्यसौन्दर्यकी परीक्षाके आधारभूत मौलिक सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेवाले ये सब प्राचीन ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' नामसे कहे जाते हैं। इन ग्रन्थोंमें केवल अलङ्कारोंका ही वर्णन नहीं है अपितु सौन्दर्यकी परीक्षाके लिए गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदि जिन-जिन तत्त्वोंके ज्ञानकी आवश्यकता है उन सभीका प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इन नामोंमें आये हुए 'अलङ्कार' शब्दको सौन्दर्यपरक मानकर काव्यसौन्दर्यके प्रतिपादक शास्त्रोंके लिए 'काव्यालङ्कार' नामका प्रयोग उचित प्रतीत होता है।

बादको अनेक स्थलोंपर इस शास्त्रके लिए 'काव्यालङ्कार'के बजाय केवल 'अलङ्कारशास्त्र' नामका प्रयोग ही पाया जाता है। 'प्रतापरुद्रीय'की टीकामें 'अलङ्कारशास्त्र' नामके प्रतिपादनके लिए 'छत्रिन्याय'का अवलम्बन किया गया है। उन्होंने लिखा है—'यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते'[3]। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि इस शास्त्रमें रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि अनेक विषयोंका विवेचन किया गया है परन्तु 'छत्रिन्याय'से उसे केवल अलङ्कारशास्त्र कहा जाता है। 'छत्रिन्याय'का अभिप्राय यह है कि कहीं बहुतसे व्यक्ति जा रहे हैं, उनमें दो-चार या एक-दो व्यक्ति छाता लगाये हुए, छत्रधारी हैं, उन दो-चार छत्रधारी व्यक्तियोंकी प्रधानता मानकर उनके साथ चलनेवाले छत्ररहित अन्य अनेक व्यक्तियोंका भी 'छत्रिणो यान्ति' आदि पदोंसे ग्रहण हो जाता है और व्यवहार उन दो-चार छातेवालोंके कारण उस समुदायके अनेक छत्ररहित व्यक्तियोंको भी 'वे छातेवाले जा रहे हैं' इस प्रकार कहा जाता है। इसी तरह अलङ्कारशास्त्रमें अलङ्कारके अतिरिक्त रसादि अनेक विषयोंका प्रतिपादन होते हुए भी अलङ्कारको प्रधान मानकर

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र १-२। २. काव्यादर्श २-१। ३. प्रतापरुद्रीय-टीका, पृ० ३।

'अलङ्कारशास्त्र' नामसे उनका ग्रहण हो जाता है। यह 'प्रतापरुद्रीय'के टीकाकारका अभिप्राय है। अलङ्कारशास्त्र नामकी व्याख्याके विषयमें अन्य विद्वानोंका भी प्रायः यही मत है।

परन्तु हमें यह व्याख्या अधिक रुचिकर प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह है कि काव्यमें अलङ्कारकी प्रधानता नहीं है, वह काव्यका आत्मा नहीं है, काव्यका आत्मा तो रस है। अलङ्कारकी स्थिति तो केवल कटक-कुण्डल आदिके समान गौण है। कटक-कुण्डल आदि मनुष्य के उत्कर्षाधायक धर्म तो हो सकते हैं, जीवनाधायक नहीं। कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारोंको धारण करनेवाला व्यक्ति बड़ा आदमी माना जा सकता है, पर उनके हटा देनेपर या उनसे रहित व्यक्ति मनुष्य न रहे यह नहीं हो सकता है। शरीरका जीवनाधायक तत्त्व आत्मा है, इसी प्रकार काव्यका जीवनाधायक तत्त्व रस है। इसीलिए रसादिके रहते उनको गौण करके और गौण अलङ्कारोंको प्रधान मानकर उनके आधारपर इस शास्त्रका 'अलङ्कारशास्त्र' यह नामकरण उचित प्रतीत नहीं होता। इसीलिए हम इस व्याख्याके पक्षमें नहीं हैं। हमारे विचारमें वामनके मतानुसार अलङ्कार शब्दको सौन्दर्यपरक मानकर अलङ्कार-शास्त्रको 'सौन्दर्यशास्त्र' या 'काव्यसौन्दर्यशास्त्र' मानना अधिक सङ्गत और उचित प्रतीत होता है।

काव्यके साथ 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग

प्रारम्भमें, जैसा कि हम देख चुके हैं, इस शास्त्रका नाम केवल 'काव्यालङ्कार' था। शास्त्र शब्दका प्रयोग उसके साथ नहीं होता था। आगे उसका और अधिक विकास होनेपर उसका महत्त्व बढ़ानेके लिए उसके साथ 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग होने लगा। सामान्य रूपसे 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रं' शासन करनेवाला होनेसे 'शास्त्र' कहलाता है। शासनका अर्थ मनुष्यको किसी कार्यमें प्रवृत्त करना या किसी कार्यसे निवृत्त करना होता है। वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ मनुष्योंको सत्कर्ममें प्रवृत्त होने और असत्कार्योंसे निवृत्त होनेका आदेश देते हैं इसलिए वे 'शास्त्र' कहे जाते हैं। मुख्य रूपसे शासन करनेवाले अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति करनेवाले ग्रन्थ 'शास्त्र' कहलाते हैं। काव्यका मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं, रसास्वादन या 'सद्यः परनिर्वृति' है 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश काव्यका गौण प्रयोजन है। इसलिए काव्य 'प्रभुशब्दसम्मित' वेद-शास्त्र आदिसे भिन्न है। इसलिए 'काव्यशास्त्र'में प्रयुक्त 'शास्त्र' शब्द 'शासनात् शास्त्रं' इस व्युत्पत्तिको लेकर प्रयुक्त नहीं हुआ है।

वेदान्तदर्शनमें 'शास्त्र' शब्दकी एक और व्युत्पत्ति की गयी है। 'शंसनात् शास्त्रं' अर्थात् केवल शासन करनेवाले विधि-प्रतिषेधपरक ग्रन्थ ही 'शास्त्र' नहीं कहलाते, अपितु किसी गूढ़ तत्त्वका 'शंसन' प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ भी 'शास्त्र' कहलाते हैं। इस व्युत्पत्तिके करनेका कारण यह है कि वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय—'ब्रह्म'—'प्रवृत्ति-निवृत्ति' या विधि-प्रतिषेधका विषय नहीं माना गया है। तब उसका प्रतिपादन शास्त्रमें कैसे सम्भव होगा यह शङ्का 'ब्रह्म'के विषयमें उठायी गयी है। उस शङ्काके निराकरणके लिए 'शंसनात् शास्त्रं' यह दूसरे प्रकारकी व्युत्पत्ति भाष्यकारने की है। इसके अनुसार 'ब्रह्म' जैसे गूढ़ तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त आदिके लिए 'शास्त्र' शब्दके प्रयोगका और विधि-प्रतिषेधरहित 'ब्रह्म'के शास्त्रप्रतिपाद्यत्वका समर्थन किया गया है। इसलिए शासनात्मक न होनेपर भी अर्थात् विधि-प्रतिषेध रहित होनेपर भी किसी गूढ़ तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ 'शास्त्र' नामसे कहे गये हैं। इसी व्युत्पत्तिको लेकर अलङ्कारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि नामोंमें 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग हुआ है। काव्यके साथ 'शास्त्र' शब्दका सम्बन्ध जुड़ जानेसे उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया।

प्राचीन नाम 'काव्यालङ्कार'में उतना महत्त्व प्रतीत नहीं होता है जितना 'काव्यशास्त्र' या 'अलङ्कारशास्त्र' नामोंमें प्रतीत होता है।

'काव्यशास्त्र' शब्दके प्रयोगका आधार

ग्यारहवीं शताब्दीमें 'सरस्वतीकण्ठाभरण'के रचयिता भोजदेवने मुख्य रूपसे इस शास्त्रके लिए 'काव्यशास्त्र' पदका प्रयोग किया है। परन्तु उन्होंने 'शास्त्र' शब्दकी विधि-प्रतिषेधपरक 'शासनात् शास्त्रं' इस पहली व्युत्पत्तिको लेकर ही 'शास्त्र' शब्दका प्रयोग माना है। उन्होंने लिखा है—

'यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणं।
तदध्येयं विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥'[1]

इसका अर्थ यह है कि विधि या निषेधका ज्ञान करानेवाला अर्थात् शासन करनेवाला 'शास्त्र' है उसका अध्ययन करना चाहिये क्योंकि उसीसे लोकव्यवहारका सञ्चालन होता है। इस विधि और प्रतिषेधका ज्ञान करानेवाले मुख्य तीन साधन हैं—(१) काव्य, (२) शास्त्र तथा (३) इतिहास। इन तीनोंके मिश्रणसे तीन और बन जाते हैं—(१) काव्य और शास्त्रको मिलाकर काव्यशास्त्र, (२) काव्य और इतिहासको मिलाकर काव्येतिहास, (३) शास्त्र और इतिहासको मिलाकर शास्त्रेतिहास। इस प्रकार भोजदेवके मतमें विधि और प्रतिषेधकी व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञानके कारण छः हो जाते हैं—(१) काव्य, (२) शास्त्र, (३) इतिहास, (४) काव्यशास्त्र, (५) काव्येतिहास, (६) शास्त्रेतिहास। इनका प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥'[2]

इस प्रकार भोजदेवने काव्य, काव्यशास्त्र और काव्येतिहास तीनोंको विधि-प्रतिषेधका ज्ञान करानेवाला माना है। इस प्रकार उन्होंने काव्यके सब प्रयोजनोंमेंसे 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' अर्थात् विधि-प्रतिषेधको ही काव्यका मुख्य प्रयोजन माना है। पर यह वस्तुतः बहुजनसमादृत पक्ष नहीं है। अधिकांश विद्वानोंकी दृष्टिमें उपदेश काव्यका मुख्य प्रयोजन नहीं, गौण प्रयोजन है। उसकी अपेक्षा 'सद्यः परनिर्वृति'—अलौकिकानन्दानुभूति या रसास्वादन ही काव्यका मुख्य प्रयोजन है। भोजदेवके ध्यानमें 'शास्त्र' शब्दकी कदाचित् 'शासनात् शास्त्रं'वाली एक ही व्युत्पत्ति थी इसीलिए उन्होंने काव्यशास्त्रमें भी शासनकी प्रधानता मान ली है। पर ऐसा करके उन्होंने कदाचित् काव्यके साथ न्याय नहीं किया है। काव्यका प्रधान उद्देश्य शासन नहीं है अन्यथा वेद, शास्त्रादिसे उसका भेद ही क्या रह जायगा। काव्यका प्रधान लक्ष्य 'सद्यः परिनिर्वृति' अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूति या रसास्वादन ही है। यही उसका वेद, शास्त्र आदिसे विभेदक मुख्य धर्म है। भोजदेव इस तत्त्वकी रक्षा नहीं कर सके हैं। 'काव्य'के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़कर उन्होंने उसकी गौरववृद्धि करनेका यत्न तो किया है, पर उस यत्नमें काव्यके आत्माको भूल गये हैं। 'शासनात् शास्त्रं'के स्थानपर यदि 'शंसनात् शास्त्रं' इस व्युत्पत्तिको लेकर शास्त्र शब्दका प्रयोग मानते तो उससे काव्यका आत्मा भी सुरक्षित रहता और उसकी गौरववृद्धि भी होती।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण २-१३८। २. सरस्वतीकण्ठाभरण २-१३९।

'साहित्य' शब्दका प्रयोग

ऊपर हम देख चुके हैं कि 'काव्यशास्त्र'के लिए प्रारम्भमें 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता था। उसमें 'अलङ्कार' शब्द सौन्दर्यपरक था अर्थात् काव्यसौन्दर्यकी विवेचना करनेवाले शास्त्रके लिए 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता था और प्राचीन सभी आचार्योंने इसी आधारपर अपने ग्रन्थोंके नाम 'काव्यालङ्कार' रखे थे। परन्तु इसके साथ ही एक और शब्द भी है जो इस शास्त्रके लिए प्रयुक्त पाया जाता है, वह है 'साहित्य' शब्द। इधर नवीन युगमें तो यह शब्द 'काव्यशास्त्र'के अन्य सब नामोंकी अपेक्षा अधिक प्रचलित है और इसका श्रेय कदाचित् चौदहवीं शताब्दीके विश्वनाथको है। उन्होंने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यदर्पण' रखा है। इधरके नवीन युगमें यह ग्रन्थ पठन-पाठनकी प्रणालीमें बहुत अधिक प्रचलित रहा इसलिए काव्यसौन्दर्यकी विवेचना करनेवाले शास्त्रके लिए 'साहित्य' शब्द अधिक प्रचलित हो गया और 'काव्यालङ्कार' या 'काव्यशास्त्र' जैसे शब्दोंका प्रयोग बहुत ही कम हो गया। विश्वनाथसे पूर्व ग्यारहवीं शताब्दीमें अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने भी 'साहित्यमीमांसा' नामक अपने दूसरे ग्रन्थमें 'साहित्य' शब्दका प्रयोग किया था। परन्तु उनका यह ग्रन्थ अधिक प्रचलित नहीं हुआ इसीलिए काव्य-शास्त्रके लिए 'साहित्य' शब्दके प्रचारका श्रेय विश्वनाथको ही दिया जा सकता है।

परन्तु विश्वनाथ इस शब्दके प्रयोगके आदिप्रवर्तक नहीं हैं। इसका आदि मूल तो काव्यशास्त्रके आदि आचार्य भामहके 'काव्यालङ्कार'में ही पाया जाता है। भामहने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें ही 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' इस प्रकार काव्यका लक्षण किया अर्थात् शब्द और अर्थके 'साहित्य'का नाम ही काव्य है। शब्दार्थके 'साहित्य'का अभिप्राय खोलते हुए दशम शताब्दीमें वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने लिखा है—

> साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
> अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥'[१]

इसके अनुसार काव्यमें सौन्दर्याधानके लिए शब्द और अर्थ दोनोंकी एक-सी मनोहारिणी स्थितिका नाम 'साहित्य' है। अर्थात् काव्यमें जितने सुन्दर अर्थका वर्णन किया जा रहा हो उतने ही सुन्दर शब्दोंका सन्निवेश होना चाहिये। अथवा जैसे सुन्दर शब्दोंका प्रयोग किया जा रहा हो उसीके अनुरूप सुन्दर अर्थका समन्वय होना चाहिये। शब्द, अर्थगौरवके अनुरूप हो, न कम न अधिक, और अर्थ, शब्दसौन्दर्यके अनुरूप हो, न कम न अधिक; यही शब्द और अर्थकी 'अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः' हुई। इसीका नाम शब्द और अर्थका 'साहित्य' है। इस प्रकारके 'साहित्य'से युक्त शब्द और अर्थका नाम ही काव्य है यह भामहके 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' इस काव्यलक्षणका अभिप्राय है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकने भी शब्द और अर्थके इस 'साहित्य'को अपने काव्यलक्षणमें समाविष्ट किया है। उन्होंने काव्य-लक्षण करते हुए लिखा है—

> 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥'[२]

अर्थात् सहृदयोंको आह्लादित करनेवाले सुन्दर कविव्यापारसे युक्त रचनामें समुचित रीतिसे स्थित साहित्ययुक्त शब्दार्थका नाम ही काव्य है। इस प्रकार भामह तथा कुन्तक दोनोंने शब्द और अर्थके

१. वक्रोक्तिजीवित १-१७। २. वक्रोक्तिजीवित १-७।

'साहित्य'के आधारपर ही अपने काव्यलक्षण किये हैं और इस आधारपर ही 'काव्यशास्त्र'के लिए 'साहित्य' शब्दका प्रयोग होता है। यह प्रयोग यों तो आदिकालसे होता आया है और उसीके आधारपर नवम शताब्दीमें काव्यमीमांसाकार राजशेखरने "पञ्चमीसाहित्यविद्या इति यायावर्यः"[1] लिखकर इस शास्त्रके लिए 'साहित्यविद्या' या साहित्यशास्त्र नामका निर्देश किया है और उसी आधारपर ग्यारहवीं शताब्दीमें रुय्यकने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यमीमांसा' तथा चौदहवीं शताब्दीमें विश्वनाथने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यदर्पण' रखा।

'क्रियाकल्प' शब्दका प्रयोग

इस प्रकार हमने देखा है कि काव्यसौन्दर्यकी परख करनेवाले इस शास्त्रके लिए (१) 'काव्यालङ्कार', (२) 'काव्यशास्त्र', (३) 'अलङ्कारशास्त्र', (४) 'साहित्यशास्त्र', (५) 'साहित्य-विद्या' आदि अनेक नामोंका प्रयोग करते आये हैं। परन्तु इन सब नामोंसे भिन्न इस शास्त्रके लिए एक और भी नाम प्रयुक्त है और वह है 'क्रियाकल्प'। यह नाम कदाचित् इन सब नामोंसे अधिक प्राचीन है। इसका निर्देश वात्स्यायनके 'कामशास्त्र'में गिनायी गयी ६४ कलाओंमें आता है। 'क्रियाकल्प' 'काव्य-क्रियाकल्प'का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। इसका पूरा नाम 'काव्यक्रियाकल्प' अर्थात् 'काव्यशास्त्र' है। केवल 'कामशास्त्र'में ही नहीं अपितु 'ललितविस्तर' नामक बौद्ध ग्रन्थमें भी 'क्रियाकल्प' शब्दका प्रयोग किया गया है। टीकाकार जयमङ्गलार्कने उसका अर्थ 'क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालङ्कार इत्यर्थः' इस प्रकार किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कलाओंके अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ 'क्रियाकल्प' शब्द काव्यालङ्कार अथवा अलङ्कारशास्त्रके अर्थमें भी प्रयुक्त हुआ है। वाल्मीकि-रामायणके उत्तरकाण्ड (अध्याय ९४, श्लोक ४-१० तक) में लव-कुशके गानको सुननेके लिए रामकी सभामें वैयाकरण, नैगम, स्वरज्ञ, गान्धर्व आदि विद्याओंके विशेषज्ञोंकी उपस्थितिका वर्णन किया गया है, उसीके साथ 'क्रियाकल्प' तथा 'काव्यविद्'का वर्णन भी पाया जाता है। उसमें 'काव्यविद्'का अर्थ केवल काव्यरसको ग्रहण करनेमें समर्थ व्यक्ति है तथा 'क्रियाकल्पविद्' का अभिप्राय काव्यसौन्दर्यकी परीक्षामें समर्थ व्यक्ति है। रामायणके श्लोकका सम्बद्ध भाग निम्नलिखित प्रकार है—

'क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।'[2]

इस प्रकार 'काव्यशास्त्र'के लिए (१) काव्यालङ्कार, (२) काव्यशास्त्र, (३) अलङ्कारशास्त्र, (४) साहित्यशास्त्र, (५) क्रियाकल्प; इन पाँच नामोंका प्रयोग प्रायः होता रहा है। भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन और कुन्तकने इनमेंसे 'काव्यालङ्कार' शब्दको अधिक पसन्द किया है इसलिए अपने ग्रन्थोंके नाम 'काव्यालङ्कार' रखे हैं, कुन्तकका ग्रन्थ यद्यपि 'वक्रोक्तिजीवित' नामसे प्रसिद्ध है परन्तु इसके दो भाग हैं—एक मूल कारिकाभाग और दूसरा वृत्तिभाग। दोनों भागोंके रचयिता स्वयं कुन्तक ही हैं। उन्होंने अपने वृत्तिभागका नाम 'वक्रोक्तिजीवित' रखा है और इसी नामसे यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है, परन्तु उसके मूलकारिका भागका नाम 'काव्यालङ्कार' ही है। इसीलिए कुन्तकने प्रारम्भमें ही लिखा है कि—

'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।'

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० ४। २. वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड, ९४-७। ३. वक्रोक्तिजीवित १-२।

इससे प्रतीत होता है कि वक्रोक्तिजीवितकारने भी अपने मूल ग्रन्थका नाम 'काव्यालङ्कार' ही रखा था। इस प्रकार बहुत समयतक इस शास्त्रके लिए 'काव्यालङ्कार' शब्दका प्रयोग होता रहा, परन्तु पीछे ऐसा अनुभव हुआ कि भिन्न-भिन्न आचार्योंके सभी ग्रन्थोंके लिए एक ही 'काव्यालङ्कार' नाम उचित नहीं है इसलिए दण्डीने सातवीं शताब्दीमें अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यादर्श' रखा और नवम शताब्दीमें राजशेखरने अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यमीमांसा' तथा ग्यारहवीं शताब्दीमें मम्मटने अपने ग्रन्थका नाम 'काव्यप्रकाश' रखा और चौदहवीं शताब्दीमें विश्वनाथने 'साहित्यदर्पण' नामसे इस विषयपर अपने ग्रन्थकी रचना की।

उद्गम

'साहित्यशास्त्र'के उद्गमके विषयमें राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'के प्रारम्भमें एक आख्यायिका दी है। आख्यायिका पौराणिक शैलीकी जान पड़ती है। इसमें प्रामाणिक तत्त्व कम हैं, फिर भी उससे 'साहित्यशास्त्र'के उद्गमके विषयमें एक विचारधाराका विषय मिलता है इसलिए उसे यहाँ दे देना उपयुक्त ही होगा। राजशेखरने लिखा है—

"अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुष्षष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयोः वृन्दीयसामपि वन्द्यः 'काव्यपुरुषः' आसीत्। तञ्च सर्वसमयमिदं दिव्येन-चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिनं भूर्भुवस्वस्त्रितयवर्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्यविद्याप्रवर्तनायै प्रायुंक्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।

"तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालङ्कारिकम् कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमार इति। ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।

"इत्थंकारञ्च प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे। इतीयं प्रयोजकाङ्गवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।"—काव्यमीमांसा, पृ० ३-४

इसका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है—

"अब काव्यकी विवेचना आरम्भ करते हैं। भगवान् श्रीकण्ठ शिवने इस काव्यविद्याका उपदेश परमेष्ठी, वैकुण्ठादि चौंसठ शिष्योंको किया था। उनमेंसे प्रथम शिष्य स्वयम्भू—ब्रह्मदेवने इस विद्याका द्वितीय बार उपदेश अपनी इच्छासे उत्पन्न (अयोनिज) शिष्यों—ऋषियों—को किया। इन शिष्योंमें सरस्वतीका पुत्र 'काव्यपुरुष' भी एक था, जगद्वन्द्य देवता भी जिसकी वन्दना करते थे। ब्रह्मदेवने त्रिकालज्ञ और दिव्यदृष्टि द्वारा भविष्यकी बातोंको जाननेवाले उस 'काव्यपुरुष'को भू, भुवः और स्वर्ग तीनों लोकोंमें रहनेवाली प्रजामें काव्यविद्याका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। काव्यपुरुषने अठारह भागोंमें विभक्त काव्यविद्याका उपदेश सबसे प्रथम सहस्राक्षादि दिव्य काव्यविद्यास्नातकोंको किया। उनमेंसे एक-एक शिष्यने अठारह भागोंमें विभक्त उस काव्यविद्याके एक-एक भागमें विशेषता प्राप्त करके अपने-अपने विषयपर पृथक्-पृथक् ग्रन्थोंकी रचना की।

"सहस्राक्ष इन्द्रने कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण (भाग) का निर्माण किया। इसी प्रकार उक्तिगर्भने उक्तिविषयक ग्रन्थका निर्माण किया। सुवर्णनाभने रीतिविषयक, प्रचेताने अनुप्रासविषयक,

यमने यमकसम्बन्धी, चित्राङ्गदने चित्रकाव्यविषयक, शेषने शब्दश्लेषपर, पुलस्त्यने वास्तव अर्थात् स्वभावोक्तिपर, औपकायनने उपमा अलङ्कारके सम्बन्धमें, पाराशरने अतिशयोक्तिके सम्बन्धमें, उतथ्यने अर्थश्लेषपर, कुबेरने शब्द और अर्थ उभयालङ्कारोंके सम्बन्धमें, कामदेवने विनोदसम्बन्धी, भरतने नाट्यविषयपर, नन्दिकेश्वरने रसविषयपर, धिषण--बृहस्पति--ने दोषपर, उपमन्युने गुणोंके सम्बन्धमें और कुचमारने औपनिषदिक विषयोंपर स्वतन्त्र रूपसे अपने-अपने ग्रन्थोंकी रचना की।

"इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयोंकी ग्रन्थरचनाओंसे काव्यविद्या अनेक भागोंमें विभक्त होकर छिन्न-भिन्न-सी हो गयी। इसलिए अत्यावश्यक काव्यविद्याके सभी विषयोंको संक्षिप्त करके हमने अठारह अधिकरणोंमें 'काव्यमीमांसा' नामक इस ग्रन्थकी रचना की है।"

इस प्रकार राजशेखरने काव्यशास्त्रके उद्गमके ऊपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है। परन्तु इस प्रकारका उल्लेख अन्य किसी ग्रन्थमें नहीं मिलता है।

वेदोंमें काव्यशास्त्रके बीज

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोणके अनुसार वेद सब सत्य विद्याओंके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। सब सत्य विद्याओंकी उत्पत्ति और विकास वेदोंसे ही हुआ है इसलिए सभी विद्याओंके मूल तत्त्वोंका अनुसन्धान वेदोंमें किया जाता है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी ऋग्वेदको विश्व-साहित्यका सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। इसीलिए अपनी अनुसन्धानप्रक्रियामें वे भी प्रत्येक विषयका बीज ऋग्वेदमें खोजनेका प्रयत्न करते हैं। इसी दृष्टिसे साहित्यशास्त्रके मूल सिद्धान्तोंका वेदोंमें अन्वेषण करनेका यत्न किया गया है। यों साक्षात् साहित्यशास्त्रका वेदोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। वेदाङ्गोंमें भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः विद्याओंकी गणना की गयी है, पर उनमें साहित्यका नाम नहीं आता। इसलिए वेद और वेदाङ्गोंसे साहित्यशास्त्रका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है फिर भी वेदको 'देवका अमर काव्य' कहा गया है--"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"[1]के वैदिक वचनमें 'देवके काव्य'के रूपमें वेदका ही निर्देश किया गया है और वेदके निर्माता परमात्माके लिए वेदोंमें अनेक जगह 'कवि' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसलिए वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्यका सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। इसलिए काव्यसौन्दर्यके निरूपक साहित्यशास्त्रमें काव्यसौन्दर्यके आधायक जिन गुण, रीति, अलङ्कार, ध्वनि आदि तत्त्वोंका विवेचन किया गया है वे सभी तत्त्व मूल रूपमें वेदमें पाये जाते हैं। वेदोंमें रचनाके माधुर्य, ओज और प्रसादादि गुणोंके उदाहरण अनेक स्थानोंपर पाये जाते हैं। गुणोंके आधारपर ही रीतियोंका निर्धारण होता है। इसलिए रीतियोंके उदाहरण भी वेदमें खोजे जा सकते हैं। उपमा और रूपक आदि अलङ्कारोंकी तो वेदोंमें भरमार है। एक-एक मन्त्रमें अनेक जगह रूपक और उपमा आदिका प्रयोग देखा जा सकता है--

'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासाः॥'[2]

की उपमा कैसी सुन्दर उपमा है। अनेक लोग विद्या पढ़ते हैं पर उसका रहस्य खुलता नहीं, अनेक लोग महत्त्वकी बातें सुनते हैं पर उनका भाव समझमें नहीं आता। ऐसे ही लोगोंको लक्ष्यमें रखकर मन्त्रमें कहा गया है, 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं।' 'त्व' अर्थात् 'एके' कुछ लोग ऐसे हैं जो देखते हुए भी वाणीके

१. अथर्ववेद १०-८-३२। २. ऋग्वेद १०-७१-४।

स्वरूपको नहीं देख पाते हैं और 'शृण्वन् अपि न शृणोत्येनां', सुनकर भी उसको सुन नहीं पाते हैं। ये दोनों विरोधाभासके कितने सुन्दर और प्रासादिक, प्रसादगुणयुक्त मनोहर उदाहरण हैं। तीसरे वे लोग हैं जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है जैसे सुन्दरतम वेश-भूषामें अलङ्कृत होकर पत्नी अपने पतिके सामने अपने सौन्दर्यको पूर्ण रूपमें प्रदर्शित करती है। 'उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासा' इस उपमाका यही भाव है। यह कितनी सुन्दर उपमा है। दूसरी जगह—'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः'में उषा हँसती हुई-सी अपने 'अप्सः' रूपाणि अर्थात् सौन्दर्यको प्रकाशित करती है में 'हंसती हुई-सी सौन्दर्यको प्रकाशित करती हैं', कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा है।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'[1]

इस मन्त्रमें यों तो दर्शनशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है, परन्तु काव्य या साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे भी वह एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है। वेदके दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार सृष्टिमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि, अनन्त मौलिक तत्त्व हैं। ईश्वर प्रकृतिके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है और जीव उस सृष्टिमें अपने कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखरूप फलोंका भोग करता है। इस एक मन्त्रमें सारे दर्शनोंका रहस्य समाविष्ट कर दिया गया है। पर इस जटिल दार्शनिक तत्त्वका निरूपण 'दिव्य काव्य' वेदमें हुआ है इसलिए वह काव्यके समान सुन्दर प्रतीत होता है। मन्त्रमें ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों तत्त्वोंको अपने नामोंसे न कहकर 'रूपकालङ्कार'में दो पक्षियों और एक वृक्षके रूपमें प्रदर्शित किया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पलवृक्ष के रूपमें है। ईश्वर और जीव दोनों 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' दो 'सुपर्णा' सुन्दर पंखोंवाले, 'सयुजा' साथ रहनेवाले और मित्ररूप पक्षी हैं। वे दोनों पक्षी 'समानं वृक्षं परिषस्वजाते' एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृतिपर स्थित हैं। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' उन दोनोंमेंसे एक—जीव—उस वृक्षके फलोंको खाता है अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार सृष्टिमें सुख-दुःखरूप फलोंका भोग करता है और 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति', दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा 'अनश्नन्' फलोंका भोग न करता हुआ 'अभिचाकशीति' संसारमें चारों ओर अपने सौन्दर्यको प्रकाशित करता है। यह इस मन्त्रका भाव है। काव्यकी मनोहर भाषामें दार्शनिक तत्त्वका ऐसा सुन्दर निरूपण सारे साहित्यमें कहीं और देखनेको नहीं मिलता है। रूपककी कल्पना कैसी सुन्दर बनी है और उसके साथ 'सुपर्णा, सयुजा, सखाया, समानं, परिषस्वजाते'के सुन्दर अनुप्रासने तो सोनेमें सुगन्धका काम किया है। 'अनश्नन्नन्यः अभिचाकशीति'में नकारका अनुप्रास माधुर्यकी अभिव्यञ्जना कर रहा है। 'अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति' फलका भोग न करते हुए भी अपने तेजको, सौन्दर्यको प्रकाशित कर रहा है यह विभावना अलङ्कारका सुन्दर उदाहरण है। 'विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते', बिना हेतुके जहाँ कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन हो वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है। फलका भोग या भक्षण ही दैहिक सौन्दर्यका जनक है पर यहाँ 'अनशनन्' न खानेपर भी 'अभिचाकशीति' सौन्दर्यके प्रकाशका उल्लेख पाया जाता है। इसलिए यह विभावना अलङ्कारका उदाहरण है। 'काव्यप्रकाश'के 'यः कौमारहरः' इत्यादि अनलङ्कृतिवाले उदाहरणके खण्डनमें 'साहित्यदर्पण'की अपनायी गयी प्रक्रियाके अनुसार यदि इसको उलट दिया जाय तो यह 'विशेषोक्ति'का उदाहरण बन जायेगा। 'सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः' हेतुके होनेपर भी फलका न होना 'विशेषोक्ति' अलङ्कार कहलाता है। यहाँ 'अनशनन्'

१. ऋग्वेद १-१६४-२०।

रूप सौन्दर्याभावका कारण विद्यमान है परन्तु सौन्दर्याभावरूप कार्य विद्यमान नहीं है क्योंकि 'अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति', न खाते हुए भी वह अपने सौन्दर्यको प्रकाशित कर रहा है। इसलिए यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है।

इस मन्त्रमें न केवल रूपक, अनुप्रास, विभावना या विशेषोक्ति अलङ्कार ही पाये जाते हैं, अपितु 'सयुजा' और 'सखाया' विशेषणोंसे जीवात्मा और परमात्माकी नित्यता एवं सच्चिद्रूपताकी अभिव्यक्ति भी होती है, इसलिए वे पदद्योत्य ध्वनिके उदाहरण भी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस एक ही मन्त्रमें रूपक, अनुप्रास, विभावना, विशेषोक्ति चार अलङ्कारों, माधुर्य गुण और पदद्योत्य ध्वनि आदि काव्यके अनेक महत्त्वपूर्ण अङ्गोंका समावेश पाया जाता है। इस प्रकारके अन्य सैकड़ों मन्त्र पाये जाते हैं जिनमें साहित्यशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका सुन्दर समावेश हुआ है। इन मन्त्रोंका जितना ही अधिक आलोडन किया जाय उतना ही उनका सौन्दर्य प्रस्फुटित होता जायगा।

वेदाङ्ग निरुक्तमें उपमाका विवेचन

ऊपरके प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि वेदोंमें साहित्यशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका सुन्दर समावेश हुआ है। पर वह व्यावहारिक प्रयोगमात्र है, उनका शास्त्रीय विवेचन वहाँ नहीं किया गया है। निरुक्त-कारने इस दिशामें कुछ थोड़ा-सा प्रयास किया है। उपमा अलङ्कार सारे अलङ्कारोंका बीज है, इसीसे वैदिक साहित्यमें उसका प्रयोग पाया जाता है। निरुक्तकारने इस उपमालङ्कारका शास्त्रीय विवेचन करनेका यत्न किया है। उन्होंने तृतीय अध्यायके तृतीय पादमें अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्यके मतका उल्लेख करते हुए 'उपमा'का लक्षण इस प्रकार किया है—

'यद् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः'

अर्थात् जो ऊपरसे भिन्न होनेपर उसके सदृश हो वह इनका अर्थात् उपमाका कर्म अर्थात् विषय होता है।

'ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा, कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते।'

अर्थात् अधिक गुणवाले अथवा अत्यन्त प्रख्यात उपमानके साथ 'कनीयांसं' कम गुणवाले अथवा 'अप्रख्यातं', कम प्रसिद्धिवाले उपमेयका सादृश्य उपमामें दिखलाया जाता है। यह उपमाका सामान्य लक्षण है और उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्रमें भी इसी रूपमें इसको स्वीकार किया जाता है। परन्तु निरुक्तकारने 'अथापि कनीयसा ज्यायांसम्', छोटे-से बड़ेकी उपमा अर्थात् न्यून गुणवाले उपमानके साथ अधिक गुणवाले उपमेय-की उपमाका भी वर्णन किया है और उसके अनेक उदाहरण दिये हैं। नवीन साहित्यशास्त्रमें इस प्रकारकी उपमाको 'हीनोपमा' कहा जाता है और दोषकी कोटिमें गिना जाता है। परन्तु निरुक्तकारने उसे दोषाधा-यक नहीं माना है अपितु सुन्दर उपमाका रूप ही माना है। इसका उदाहरण उन्होंने ऋग्वेदसे इस प्रकार उद्धृत किया है—

'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीतां।
इयन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः ॥'[1]

इस मन्त्रमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकारके उच्च तत्त्वोंका प्रतिपादन किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टिसे इसमें मनुष्यके लिए इन्द्रियसंयमका उपदेश किया गया है। 'रशनाभिर्दशभि-

१. ऋग्वेद १०-४-६।

रभ्यधी तां', दस रसनाओंसे अर्थात् दस इन्द्रियोंसे अपना संयम करे अर्थात् अपनी दशों इन्द्रियोंका कठोरताके साथ नियन्त्रण करे। इसके लिए मन्त्रके प्रथम चरणमें 'तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू', जंगलमें रहनेवाले तस्कर अर्थात् लुटेरोंको उपमानरूपमें प्रस्तुत किया गया है। 'वनर्गू' वनगामिनौ अर्थात् वनमें रहनेवाले, 'तस्कराः' लुटेरे, 'तनूत्यजेव' अपने प्राणोंपर खेलकर भी जैसे परद्रव्यापहरणरूप कार्यका सम्पादन अत्यन्त निष्ठुर होकर भी करते हैं इसी प्रकार प्रेयोमार्गके पथिक मानवको निष्ठुरताके साथ या दृढ़ताके साथ अपनी दसों इन्द्रियोंका नियन्त्रण करना चाहिये और इस इन्द्रियसंयम द्वारा 'शुचयद्भिरङ्गैः', पवित्र अङ्गोंसे 'रथम् युक्त्वा', अपने जीवन-रथका सञ्चालन करना चाहिये। इस प्रकार संयत जीवन व्यतीत करनेसे, 'यन्ते अग्ने नव्यसी मनीषा', हे अग्रगन्तः! प्रतिदिन जीवनके उन्नत पथपर चलनेवाले तुमको 'नव्यसी मनीषा' प्रतिदिन आत्मसाक्षात्कारके मार्गसे नूतन ज्ञान, नूतन स्फूर्ति प्राप्त होगी, यह इस मन्त्रका अर्थ है। इसमें अपनी इन्द्रियोंके संयमके लिए तस्करोंकी दृढ़ताको उपमान बनाया गया है। यों तो तस्करोंका उपमान बनानेके कारण यह हीनोपमा है पर इन्द्रियदमनके लिए अपेक्षित दृढ़ता या निष्ठुरताका प्रदर्शक वह एक बहुत ही सुन्दर उपमान है इसलिए निरुक्तकारने इस हीनोपमाको दोष न मानकर अलङ्कार ही माना है।

वदमें 'इव'के अतिरिक्त उपमावाचक अन्य अनेक शब्द भी आते हैं। उनके आधारपर अनेक उदाहरण निरुक्तकारने प्रस्तुत किये हैं। इनमें 'आ' और 'चित्' भी वेदके उपमावाचक शब्द हैं। सूर्य रात्रिके अन्धकारको नष्ट करता है। इसका वर्णन करते हुए—'जार आ भगम्' यह उपमा वेदमें दी गयी है। उसमें 'आ' उपमावाचक शब्द है। 'था'को भी वेदमें उपमावाचक शब्दके रूप में प्रयुक्त किया जाता है—'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्व थेमथा'में 'था' शब्द 'इव'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'प्रत्नथा'का अर्थ 'प्रत्न इव', 'पूर्वथा'का पूर्व इव, 'विश्व था'का विश्व इव आदि है। 'यथा' और 'वत्' आदि भी लोकके समान वेदमें उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त होते हैं—

'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति'[1]

में 'यथा' शब्द उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार—

'प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।'[2]

में 'वत्' शब्द उपमावाचक शब्दके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। निरुक्तकारने 'कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा आदि उपमाके अनेक भेद भी किये हैं। 'लुप्तोपमा'का दूसरा नाम 'अर्थोपमा' भी है। 'सिंहः पुरुषः', 'काकः पुरुषः' आदि इस उपमाके उदाहरण हैं। इनमें सिंह आदि शब्द प्रशंसा-परक और काक पद निन्दाव्यञ्जक हैं। यही उत्तरवर्ती कालमें रूपकालङ्कारके रूपमें व्यवहृत हुआ है।

वेदाङ्ग व्याकरणशास्त्रमें उपमाका निरूपण

'निरुक्त'के समान ही व्याकरण'की गणना भी छः वेदाङ्गोंमें की गयी है। वर्तमान व्याकरण-ग्रन्थोंके देखनेसे पता चलता है कि व्याकरणशास्त्रपर अनेक आचार्योंने ग्रन्थ लिखे थे। परन्तु इस समय उनकी उपलब्धि नहीं हो रही है। इस समय केवल पाणिनिव्याकरण ही उपलब्ध हो रहा है।

१. ऋग्वेद ५-७८-८। २. ऋग्वेद १-४५-३।

उसमें भी 'निरुक्त'के समान या उससे भी अधिक स्पष्ट रूपमें 'उपमा' अलङ्कारका निरूपण पाया जाता है। उपमा अलङ्कारमें (1) उपमान, (2) उपमेय, (3) साधारणधर्म और (4) उपमावाचक शब्द—ये चार मुख्य भाग होते हैं। पाणिनिसूत्रोंमें उन सबका स्पष्ट निर्देश पाया जाता है—

'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्'—अष्टाध्यायी २-३-७२
'उपमानानि सामान्यवचनैः' " २-१-५५
'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' " २-१-५६

इन सूत्रोंमें उपमान, उपमेय आदि शब्दोंका स्पष्ट रूपसे प्रयोग गया गया है। इतना ही नहीं, अपितु उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने उपमाके 'श्रौती' और 'आर्थी' रूपसे जो भेद किये हैं उनका भी विस्तृत विवेचन व्याकरणशास्त्रमें पाया जाता है। अथवा यों कहना चाहिये कि अलङ्कारशास्त्रमें वह विवेचन व्याकरणके आधारपर ही किया गया है। साहित्यदर्पणकारने श्रौती और आर्थी उपमाका लक्षण बताते हुए लिखा है—

'श्रौती यथेव वा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।
आर्थी तुल्य-समानाद्या तुल्यार्थो यत्र वा वतिः॥' सा० द० १०-१६

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ उपमानके साथ 'यथा', 'इव', 'वा' आदि शब्दोंका प्रयोग किया जाय अथवा 'तत्र तस्येव' (अष्टाध्यायी १-५-११६) सूत्रसे 'इव'के अर्थमें 'वति' प्रत्यय किया जाय वहाँ 'श्रौती' उपमा होती है और जहाँ तुल्य, समान आदि उपमावाचक शब्दोंका प्रयोग किया जाय अथवा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (अष्टा० ५-१-११५) सूत्रसे 'वति' प्रत्यय किया जाय वहाँ 'आर्थी' उपमा होती है। काव्यप्रकाशकारने भी पूर्णोपमाके भेदोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'साग्रिमा
श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा॥'

—का० प्र०, का० ८७, सू० १२७

'अग्रिमा' अर्थात् पूर्णोपमा 'श्रौती' और 'आर्थी' भेदसे दो प्रकारकी होती है और उनमेंसे प्रत्येक वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत तीन प्रकारकी हो जाती है। इस प्रकार 'पूर्णोपमा'के छः भेद बन जाते हैं। यथा, इव, वा आदि शब्दोंके योगमें 'श्रौती' और तुल्य आदि शब्दोंके योगमें 'आर्थी' उपमा क्यों मानी जाती है इसका उपपादन करते हुए काव्यप्रकाशकारने लिखा है—

"यथेववादिशब्दाः यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा तथैव तत्र तस्येव इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादानेऽपि।

"'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने एव 'इदञ्च तच्च तुल्यं' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी। तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ।"

इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'यथा', 'इव' आदि शब्द जिसके बाद या साथमें प्रयुक्त होते हैं वही उपमान होता है और षष्ठी विभक्तिके समान श्रवणमात्रसे ही यहाँ इस सम्बन्धकी प्रतीति हो जाती है इसलिए उनके होनेपर 'श्रौती' उपमा मानी जाती है। इसी प्रकार 'तत्र तस्येव' सूत्रके द्वारा 'वति'

प्रत्यय होनेपर भी श्रवणमात्रसे ही उपमानसम्बन्धकी प्रतीति हो जाती है इसलिए उसके योगमें भी श्रौती उपमा होती है।

तुल्य, समानादि उपमावाचक अन्य शब्दोंकी स्थिति इससे भिन्न है। यथा, इव आदि शब्द सदा उपमानके साथ ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु तुल्य, समानादि शब्दोंके विषयमें यह बात नहीं है। वे कभी उपमानके साथ प्रयुक्त होते हैं, कभी उपमेयके साथ और कभी दोनोंके साथ, जैसे—'तेन तुल्यं मुखम्।' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका सम्बन्ध 'तेन' इस उपमेयके साथ है। उपमानके साथ नहीं। 'तत्तुल्यमस्य' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग उपमानके साथ है उपमेयके साथ नहीं और 'इदञ्च तच्च तुल्यं' इस उदाहरणमें 'तुल्य' शब्दका प्रयोग 'इदं' और 'तत्' अर्थात् उपमेय और उपमान दोनोंके साथ है इसलिए इन शब्दोंके प्रयोगमें उपमान और उपमेयकी प्रतीति तुरन्त नहीं होती। विचार करनेके बाद निश्चय होता है कि यहाँ तुल्य शब्दका सम्बन्ध किसके साथ है। इसलिए इस प्रकारके स्थलोंमें 'आर्थी' उपमा मानी जाती है। इन दोनों भेदोंमें 'तत्र तस्येव' तथा 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः, इन दो व्याकरणसूत्रोंका उपयोग होता है। इसलिए इन उपमाभेदोंके ऊपर व्याकरणशास्त्रका प्रभाव स्पष्ट दिखलायी देता है। यही नहीं, इन दोनों भेदोंके वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत जो भेद किये गये हैं वे तो पूर्णतः व्याकरणके आधारपर ही किये गये हैं।

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥'

इस उदाहरणमें 'अम्भोरुहवत्'में 'तत्र तस्येव' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेसे तद्धितगत श्रौती उपमा है। 'कुम्भाविव'में 'इवेन नित्यसमासः विभक्त्यलोपश्च' इस नियमके अनुसार 'कुम्भ' शब्दके साथ 'इव' शब्दका नित्यसमास होनेसे समासगत श्रौती उपमा है और 'शरदिन्दुर्यथा'में वाक्यगत श्रौती उपमा है। इस प्रकार एक ही श्लोकमें श्रौती उपमाके तद्धितगत, समासगत तथा वाक्यगत, तीनों भेदोंके उदाहरण आ जाते हैं। इसी प्रकार—

'मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥'

इस उदाहरणमें 'सुधावत्', पदमें 'सुधया तुल्यं सुधावत्' इस विग्रहमें 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्रसे 'वति' प्रत्यय होनेके कारण तद्धितगत आर्थी उपमा है। 'पल्लवतुल्य'में समासगत आर्थी उपमा तथा 'मृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले'में वाक्यगत आर्थी उपमा है।

पूर्णोपमाके ये श्रौती और आर्थी भेद कुछ अंशमें व्याकरणके सूत्रोंसे नियन्त्रित होते हैं। परन्तु लुप्तोपमाके पाँच भेद तो पूर्ण रूपसे व्याकरणके सूत्रोंसे ही नियन्त्रित होते हैं—

'आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च स्यादेवं पञ्चधा पुनः॥' सा० द० १०-१६

'वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि ॥'

—का० प्र०, का० १०, सूत्र १३०

के अनुसार आधार तथा कर्म अर्थोंमें क्रमशः 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिक तथा उसके मूलभूत 'उपमानादाचारे' (अष्टा० ३-१-१०) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय होनेपर दो प्रकारकी तथा 'कर्तुः क्यङ्-सलोपश्च' (अष्टा०

३-१-११) सूत्रसे क्यङ् प्रत्यय होनेपर तीसरी प्रकारकी एवं 'उपमाने कर्मणि' (अष्टा० ३-४-४५) सूत्रसे उपमानभूत कर्म तथा कर्ता उपपद रहते किसी धातुसे 'ण्मुल्' प्रत्यय करनेपर चौथी और पाँचवीं धर्मलुप्ता उपमा होती है। इस प्रकार धर्मलुप्ता उपमाके पाँचों भेद एकदम व्याकरणसूत्रोंसे ही नियन्त्रित होते हैं। इन पाँचों भेदोंके उदाहरण एक ही श्लोकमें निम्नलिखित प्रकार आ जाते हैं--

'अन्तःपुरीयसि रणेषु सुतीयसि त्वं,
पौरं जनं तव सदा रमणीयते श्रीः।
दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्दु-
सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश।।'

इस उदाहरणमें 'रणेषु अन्तःपुरीयसि' यह आधार अर्थमें 'अधिकरणाच्च' इस वार्तिकसे 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'अन्तःपुरे इव आचरसि अन्तःपुरीयसि' रूप बनता है। 'पौरं जनं सुतीयसि' इसमें 'सुतमिव आचरसि सुतीयसि' यह रूप 'उपमानादाचारे' (अष्टा० ३-१-१०) सूत्रसे क्यच् प्रत्यय करनेपर बनता है। 'रमणीयते श्रीः'में 'रमणी इव आचरति' इस अर्थमें 'कर्तुः क्यङ सलोपश्च' (अष्टा० ३-१-११) सूत्रसे क्यङ प्रत्यय होकर 'रमणीयते' रूप बनता है। 'अमृतद्युतिदर्शं दृष्टः' और 'इन्दुसञ्चारं संचरति' इन दोनों उदाहरणोंमें 'उपमाने कर्मणि च' (अष्टा० ३-४-४५) सूत्रसे क्रमशः कर्म तथा कर्ता उपपद रहते 'ण्मुल्' प्रत्यय होकर यह रूप बने हैं। इस प्रकार उपमाके भेदोंपर व्याकरणशास्त्रका पर्याप्त नियन्त्रण प्रतीत होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद तथा वेदाङ्गोंमें काव्यशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका बीज पर्याप्त रूपमें पाया जाता है।

कालविभाग

इस प्रकार हमने वैदिक साहित्यसे लेकर विक्रमसे लगभग ५०० वर्ष पूर्व पाणिनिके कालतक अलङ्कारशास्त्रकी स्थितिपर पिछली पंक्तियोंमें विचार किया। परन्तु इस कालमें अलङ्कारशास्त्रके मौलिक तत्त्वोंका पर्याप्त मात्रामें उल्लेख मिलते हुए भी उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण प्राप्त नहीं होता है। उसका शास्त्रीय निरूपण मुख्यतः भरतमुनिसे प्रारम्भ होता है। भरतमुनिका काल प्रायः विक्रमसे २ शताब्दी पूर्वसे लेकर २ शताब्दी बादतकके बीचमें विभिन्न विद्वानों द्वारा नियत किया जाता है। इस प्रकार विक्रमसे दो शताब्दी पूर्वसे लेकर १८वीं शताब्दीतकके पण्डितराज जगन्नाथ, आशाधर भट्ट और अलङ्कारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डिततक अलङ्कारशास्त्रके साहित्यका निर्माण होता रहा है। विक्रमसे पूर्व द्वितीय शताब्दीसे लेकर १८ वीं शताब्दीतक लगभग २ हजार वर्षके बीचमें अलङ्कारशास्त्रका इतिहास फैला हुआ है। इस कालका विभाजन कई प्रकारसे विद्वानोंने किया है। अधिकांश विद्वानोंने इस कालको चार भागोंमें विभक्त किया है--

१. प्रारम्भिक काल (अज्ञातकालसे लेकर भामहतक)

२. रचनात्मक काल (भामह ,, ,, आनन्दवर्धनतक, अर्थात् ६०० विक्रमीसे ८०० विक्रमीतक)

३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धनकालसे लेकर मम्मटतक, अर्थात् ८०० विक्रमीसे १००० विक्रमीतक)

४. व्याख्याकाल (मम्मटकालसे लेकर जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर पण्डिततक, अर्थात् १००० विक्रमीसे १७५० विक्रमीतक

१. प्रारम्भिक काल

इन चार कालविभागोंमें पहला--प्रारम्भिक काल है। यह अज्ञातकालसे प्रारम्भ होकर ७वीं शताब्दीके प्रारम्भमें भामहतक आता है। इस कालमें मुख्य रूपसे भरत और भामह दो ही मुख्य आचार्य पाये जाते हैं। भरतका 'नाटचशास्त्र' ग्रन्थ साहित्यशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ है उसमें रस और नाटकके सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन बहुत सुन्दर रूपसे किया गया है। परन्तु वह सब मूलभूत है, बीजभूत है। आगे उसका विस्तार अन्य आचार्योंने किया है। 'नाटचशास्त्र'के १६ वें अध्यायमें केवल ४ अलङ्कार, १० गुण और १० दोषोंका ही विवेचन किया गया है जो अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे एक रूपरेखामात्र ही कहा जा सकता है।

भरतके बाद मेधावी रुद्र आदि उनके कुछ टीकाकार हुए हैं पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। उनके बाद वास्तवमें भामह ही अलङ्कारशास्त्रके प्रथम आचार्य पाये जाते हैं और उनका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रका मुख्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें इन्होंने भरतके चार अलङ्कारोंके स्थानपर ३८ स्वतन्त्र अलङ्कारोंका विवेचन किया है। भट्टिकाव्यके निर्माता भट्टिने इसीके आधारपर अपने ग्रन्थमें अलङ्कारोंका निरूपण किया है।

२. रचनात्मक काल

साहित्यशास्त्रका दूसरा महत्त्वपूर्ण काल रचनात्मक काल है जो भामह (६०० विक्रमी) से लेकर आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी) तक २०० वर्षोंमें फैला हुआ है। इस रचनात्मक कालमें साहित्य-शास्त्रके आगे कहे जानेवाले अलङ्कारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय तथा ध्वनिसम्प्रदाय चारों मुख्य सम्प्रदायोंके मौलिक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है। इन चारों सम्प्रदायोंके मौलिक साहित्यका निर्णय करनेवाले आचार्य इस कालमें ही हुए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं--

१. अलङ्कारसम्प्रदाय--	भामह, उद्भट, रुद्रट
२. रीतिसम्प्रदाय--	दण्डी, वामन
३. रससम्प्रदाय--	लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक आदि
४. ध्वनिसम्प्रदाय--	आनन्दवर्धन

यह काल साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसमें जहाँ एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रटने काव्यके बाह्य अलङ्कारोंका निरूपण किया, वहाँ दूसरी ओर दण्डी और वामनने काव्य-की रीति और उसके गुणोंकी विवेचना की। भरतनाटचशास्त्रके प्रसिद्ध 'रससूत्र'की व्याख्या करनेवाले लोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक आदिने नाटचशास्त्रपर टीका लिखकर 'रससिद्धान्त'को स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया और इसी कालमें आनन्दवर्धनाचार्यने अपना 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखकर ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना की।

३. निर्णयात्मक काल

आनन्दवर्धनसे लेकर मम्मटतक साहित्यशास्त्रका तीसरा महत्त्वपूर्ण काल है जो निर्णयात्मक कालके नामसे प्रसिद्ध है। यह काल ८०० विक्रमीसे लेकर १००० विक्रमीतक दो सौ वर्षोंके बीच

फैला हुआ है। 'ध्वन्यालोक'की प्रसिद्ध टीका 'लोचन' एवं 'नाटयशास्त्र'की 'अभिनवभारती' टीकाके निर्माता अभिनवगुप्त, वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट इस युगके प्रधान आचार्य हैं। इनमेंसे कुन्तक पाँचवें वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक हैं और महिमभट्ट ध्वनिसिद्धान्तके कट्टर विरोधी हैं। कुन्तकका 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रन्थ वक्रोक्तिसिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला उत्कृष्ट ग्रन्थ है और महिमभट्टका 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्तका आमूल खण्डन करनेवाला उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त रुद्रभट्ट, भोजराज तथा धनिक और धनञ्जय भी इसी कालके उज्ज्वल रत्न हैं।

४. व्याख्याकाल

साहित्यशास्त्रका चौथा महत्त्वपूर्ण काल व्याख्याकालके नामसे प्रसिद्ध है जो मम्मटसे लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डिततक अर्थात् १००० से लेकर १७५० तक लगभग ७½ सौ वर्षोंमें फैला हुआ है। यह सबसे लम्बा काल है। इसमें अनेक आचार्य हुए जिनमेंसे हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदिने काव्यकी सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना की है और साहित्यके सम्पूर्ण विषयोंको लेकर अपने ग्रन्थोंकी रचना की है। रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदिने केवल अलङ्कारोंके विवेचनमें ही अपनी शक्तिका व्यय किया है। शारदातनय, शिङ्गभूपाल तथा भानुदत्त आदिने इस सिद्धान्तके विवेचनमें श्लाघनीय प्रयत्न किया है। गौडीय, वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामीका सहयोग भी इस कार्यमें श्लाघनीय रहा है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदिने कविशिक्षाके विषयपर अपने ग्रन्थोंका निर्माण किया है। इस कालके आचार्योंका वर्गीकरण हम विविध सम्प्रदायोंके अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार कर सकते हैं—

१. ध्वनिसम्प्रदाय—मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र तथा विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि।

२. रससम्प्रदाय—शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रुपगोस्वामी आदि।

३. कवि-शिक्षा—राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि।

४. अलङ्कारसम्प्रदाय—पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि।

प्रकारान्तरसे कालविभाग

यह एक शैलीसे कालविभाजन किया गया है, जिसमें साहित्यशास्त्रके दो हजार वर्षके लम्बे इतिहासको चार भागोंमें विभक्त किया है। दूसरे विद्वानोंने ध्वनिसिद्धान्तको साहित्यशास्त्रका मुख्य सिद्धान्त मानकर इस कालको तीन भागोंमें विभक्त किया है—

१. पूर्वध्वनिकाल—प्रारम्भसे आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी) तक

२. ध्वनिकाल—आनन्दवर्धन (८०० विक्रमी) से मम्मट (१००० विक्रमी) तक

३. पश्चात् ध्वनिकाल—मम्मट (१००० विक्रमी)से जगन्नाथ (१७५० विक्रमी) तक

साहित्यशास्त्रके सम्प्रदाय

कालविभागके उपर्युक्त प्रकरणमें ध्वनिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय आदि कुछ सम्प्रदायोंकी चर्चा आयी है। इन सम्प्रदायोंकी स्थापना काव्यात्मभूत तत्त्वके विषयमें मतभेदके कारण हुई है। जो लोग रसको काव्यका आत्मा मानते हैं वे रससम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। जो अलङ्कारोंको ही काव्यका आत्मा मानते हैं वे अलङ्कारसम्प्रदायके अनुयायी कहे जाते हैं। इसी प्रकार 'रीतिरात्मा काव्यस्य', रीतिको ही

काव्यका आत्मा माननेवाले रीतिसम्प्रदायके अन्तर्गत आते हैं। 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेवाले ध्वनिसम्प्रदायके अनुयायी तथा 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्', वक्रोक्तिको काव्यका आत्मा माननेवाले वक्रोक्तिसम्प्रदायके अनुयायी कहे जाते हैं। इस प्रकार साहित्यशास्त्रमें प्रायः (१) रस-सम्प्रदाय, (२) अलङ्कारसम्प्रदाय, (३) रीतिसम्प्रदाय, (४) वक्रोक्तिसम्प्रदाय तथा (५) ध्वनि-सम्प्रदाय ये पाँच सम्प्रदाय पाये जाते हैं। भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथतक लगभग दो हजार वर्षोंमें साहित्यशास्त्रमें जितने आचार्य हुए हैं वे प्रायः इन्हीं सम्प्रदायोंमेंसे किसी-न-किसी सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

१. रससम्प्रदाय

इन पाँचों सम्प्रदायोंमेंसे सबसे मुख्य तथा प्राचीन सम्प्रदाय कदाचित् रससम्प्रदाय है। रस-सम्प्रदायके संस्थापक भरतमुनि हैं। यद्यपि राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में भरतसे भी पहले नन्दिकेश्वरको रससिद्धान्तका प्रतिष्टापक माना है, किन्तु नन्दिकेश्वरका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसलिए उपलब्ध साहित्यके आधारपर साहित्य शास्त्रके पितामह भरतको ही रससम्प्रदायका संस्थापक माना जाता है। रसके विषयमें सबसे पहिला विवेचन भरतके 'नाटचशास्त्र'में ही पाया जाता है। भरतमुनिका 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह प्रसिद्ध रससूत्र ही रससिद्धान्तका प्राण-भूत है। उत्तरवर्ती आचार्योंने इसीके आधारपर रसका विवेचन किया है। इसलिए भरतमुनिको ही रस सम्प्रदायका आदिप्रवर्तक मानना होगा। भरतमुनिने 'नाट्यशास्त्र'के छठे अध्यायमें रसोंका और सातवें अध्यायमें भावोंका बहुत विस्तारके साथ सिवेचन किया है। यही रससिद्धान्तका आधार है।

भरतमुनिके रससिद्धान्तके व्याख्याकारके रूपमें भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शङ्कुक, अभिनव-गुप्त आदि पाँच आचार्य बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके मतोंकी चर्चा प्रकृत ग्रन्थ 'काव्यप्रकाशमें की गयी है। उनके मतोंका अन्तर क्या है इसे 'काव्यप्रकाश'की प्रकृत टीकामें दिखलाया गया है, उसे वहींसे (पृष्ठ १००-१०९ तक) देखना चाहिये। 'काव्यप्रकाश'का यह सारा विवरण भरतनाटचशास्त्रकी 'अभिनव-भारती' टीकाके आधारपर दिया है।

२. अलङ्कारसम्प्रदाय

रससम्प्रदायके बाद दूसरा स्थान अलङ्कारसम्प्रदायका आता है। कालक्रमसे भरतके बाद होनेवाले दूसरे आचार्य भामह इस अलङ्कारसम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके व्याख्याकार 'भामह-विवरण'के निर्माता उद्भट और उनके बाद हुए दण्डी, रुद्रट आदि और पश्चाद्वर्ती प्रतिहारेन्दुराज तथा जयदेव आदि अनेक आचार्य इस अलङ्कारसम्प्रदायके अन्तर्गत आ जाते हैं। अलङ्कारसम्प्रदायके अनुयायी भी रसकी सत्ता मानते हैं किन्तु उसे प्रधानता नहीं देते हैं। उनके मतमें काव्यका प्राणभूत जीवनाधायक तत्त्व अलङ्कार ही है। अलङ्कारविहीन काव्यकी कल्पना वैसी ही है जैसे उष्णताविहीन अग्निकी कल्पना। 'चन्द्रालोक'के निर्माता जयदेवने काव्यप्रकाशकारके काव्यलक्षणमें आये 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि', अर्थात् 'कहीं-कहीं अलङ्कारहीन शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं' इस अंशपर कटाक्ष करते हुए लिखा है—

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥'

अर्थात् काव्यप्रकाशकार जो अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थको भी काव्य मानते हैं वे उष्णताविहीन

अग्निकी सत्ता क्यों नहीं मानते ? अलङ्कारसम्प्रदायवादी, काव्यमें अलङ्कारोंको ही प्रधान मानते हैं और इसका अन्तर्भाव रसवदलङ्कारोंमें करते हैं। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन् और समाहित, चार प्रकारके रसवदलङ्कार माने जाते हैं। भामह और दण्डी दोनोंने इन रसवदलङ्कारोंके भीतर ही रसका अन्त-अन्तर्भाव किया है—

'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा।'

—भामह, काव्यालङ्कार ३-६

'मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।'

—दण्डी, काव्यादर्श ३-५१

३. रीतिसम्प्रदाय

कालक्रममें अलङ्कारसम्प्रदायके बाद रीतिसम्प्रदायका स्थान आता है। रीतिसम्प्रदायके संस्थापक भामहके बाद होनेवाले वामन हैं। वामनने काव्यमें अलङ्कारकी प्रधानताके स्थानपर रीतिकी प्रधानताका प्रतिपादन किया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[1] यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है। इसीलिए उन्हें रीतिसम्प्रदायका प्रवर्तक माना जाता है। रीति क्या है इसका विवेचन करते हुए उन्होंने 'विशिष्ट-पदरचना रीतिः'[2] अर्थात् विशिष्ट पदरचनाका नाम 'रीति' है यह लक्षण किया है। आगे उस 'विशेष'की व्याख्या करते हुए 'विशेषो गुणात्मा'[3] अर्थात् रचनामें माधुर्यादि गुणोंका समावेश ही उसकी विशेषता है और यह विशेषता ही 'रीति' है। इस प्रकार इस सिद्धान्तमें 'गुण' और 'रीति'का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए रीतिसम्प्रदायको 'गुणसम्प्रदाय'के नामसे भी कहा जाता है।

वामनने 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः'[4] तथा 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'[5] इन दो सूत्रोंको लिखकर गुण तथा अलङ्कारोंका भेद प्रदर्शित करते हुए अलङ्कारोंकी अपेक्षा गुणोंके विशेष महत्त्वको प्रदर्शित किया है। गुण काव्यशोभाके उत्पादक होते हैं। अलङ्कार केवल उस शोभाके अभिवर्द्धक होते हैं। इसलिए काव्यमें अलङ्कारोंकी अपेक्षा गुणोंका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए वामनने अलङ्कारोंकी प्रधानताको समाप्त कर गुणोंकी प्रधानताका प्रतिपादन करनेवाले रीतिसम्प्रदायकी स्थापना की। मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्योंने 'रीति'की उपयोगिता तो स्वीकार की है किन्तु उसे काव्यका आत्मा स्वीकार नहीं किया है। उनके मतमें 'रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्', काव्यमें रीतियोंकी स्थिति वैसी ही है जैसे शरीरमें आँख, नाक, कान आदि अवयवोंकी। इन अवयवोंकी रचना शरीरके लिए उपयोगी भी है और शरीरशोभाकी जनक भी है फिर भी उसे आत्माका स्थान नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार काव्यमें 'रीति'का महत्त्व तथा शोभाजनकत्व होनेपर भी उसे काव्यका आत्मा नहीं कहा जा सकता है।

४. वक्रोक्तिसम्प्रदाय

कालक्रमसे वामनके रीतिसिद्धान्तके बाद उसको दबाकर वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तक माने जाते हैं। कुन्तकने काव्यमें रीतिकी प्रधानताको समाप्त कर 'वक्रोक्ति'की प्रधानताकी स्थापना की। वैसे काव्यमें 'वक्रोक्ति'का मूल्य भामहने भी स्वीकार किया है—

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र १-२-६। २. का० सू० १-२-७। ३. का० सू० १-२-८। ४. का० सू० ३-१-१। ५. का० सू० ३-१-२।

'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥'

——भामह, काव्यालङ्कार २-८५

इसी प्रकार दण्डीने 'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्' (काव्यादर्श, २-३६३) लिखकर वक्रोक्तिके महत्त्वका प्रतिपादन किया है। और वामनने भी 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' (काव्यालङ्कारसूत्र, ४-३-८ की वृत्ति) लिखकर काव्यमें 'वक्रोक्ति'का स्थान माना है। किन्तु उन सबके मतसे वक्रोक्ति सामान्य अलङ्कारादिरूप ही है। कुन्तकने वक्रोक्तिको जो गौरव प्रदान किया है वह उन आचार्योंने नहीं दिया है। इसलिए कुन्तक ही इस सम्प्रदायके संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने इस वक्रोक्तिसिद्धान्तके ऊपर भी 'वक्रोक्तिजीवित' नामक अपने विशाल एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है।

वक्रोक्तिजीवितकारने अपने पूर्ववर्ती रीतिसिद्धान्तको भी परिमार्जित करके अपने यहाँ स्थान दिया है। वामनकी पाञ्चाली, वैदर्भी, गौडी आदि 'रीतियाँ' देशभेदके आधारपर मानी जाती थीं। कुन्तकने उनका आधार देशको न मानकर रचनाशैलीको माना है और उनके लिए 'रीति'के स्थानपर 'मार्ग' शब्दका प्रयोग किया है। वामनकी वैदर्भी रीतिको कुन्तक 'सुकुमारमार्ग' कहते हैं। इसी प्रकार गौडी रीतिको 'विचित्रमार्ग तथा पाञ्चाली रीतिको 'मध्यममार्ग' नामसे कहते हैं।

५. ध्वनिसम्प्रदाय

कालक्रमसे वक्रोक्तिसम्प्रदायके बाद ध्वनिसम्प्रदायका उदय हुआ। इस सम्प्रदायके संस्थापक आनन्दवर्धनाचार्य माने जाते हैं। इनके मतमें 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', काव्यका आत्मा ध्वनि है। इन सभी सम्प्रदायोंमें ध्वनिसम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा है। यों इसके विरोधमें भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उस विरोधसे ध्वनिसिद्धान्त वैसा ही अधिकाधिक चमकता गया जैसे अग्निमें तपानेपर स्वर्णकी कान्ति बढ़ती जाती है। ध्वनिसिद्धान्तके विरोधमें वैयाकरण, साहित्यक, वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक सभीने आवाज उठायी, किन्तु अन्तमें काव्यप्रकाशकार मम्मटने बड़ी प्रबल युक्तियों द्वारा उन सबका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी पुनः स्थापना की। इसीलिए उनको 'ध्वनिप्रतिष्ठापक परमाचार्य' कहा जाता है।

भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथतक लगभग दो हजार वर्षोंके दीर्घकालके भीतर इन सम्प्रदायोंका विकास और सङ्घर्ष होता रहा है। इस बीचमें लगभग चालीस-पैंतालीस मुख्य आचार्योंने इस साहित्यिक विकासके कार्यमें अपना योगदान किया है। उनका परिचय इस सारे सङ्घर्ष एवं विकासको समझनेमें उपयोगी होगा; इसलिए निम्नलिखित पंक्तियोंमें हम साहित्यशास्त्रके उन प्रमुख आचार्योंका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करनेका यत्न करते हैं।

साहित्यशास्त्रके आचार्योंका परिचय

भरतमुनि

भरतमुनि साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें सबसे प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। भरत नामसे पाँच विभिन्न व्यक्तियोंका उल्लेख संस्कृत साहित्यमें पाया जाता है–१. दशरथके पुत्र भरत, २. दुष्यन्तके पुत्र भरत, ३. मान्धाताके प्रपौत्र भरत, ४. जड़भरत और ५. 'नाटचशास्त्र'के प्रवर्तक भरतमुनि।

हमें यहाँ केवल अन्तिम अर्थात् नाटचशास्त्रकार भरतमुनिके विषयमें ही विवेचन करना है, क्योंकि साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें उन्हींकी गणना की जाती है। अन्य भरतोंका साहित्यशास्त्रके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

भरतमुनिके कालका निर्णय करना बड़ा कठिन कार्य है। कुछ विद्वान् भरत नामको एक काल्पनिक नाम मानते हैं। डॉ० मनमोहन घोषका 'नाटचशास्त्र'का अंग्रेजी अनुवाद 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' बंगालसे अभी सन् १९५० में प्रकाशित हुआ है। उसमें भी उन्होंने भरतमुनिको एक काल्पनिक व्यक्ति माना है। इस मतके माननेवाले लोगोंका यह विचार है कि प्रारम्भमें जो नटगण स्वाँग भरते थे वे स्वाँग भरनेके कारण 'भरत' कहलाते थे। बादमें उनके आदिपुरुषके रूपमें भरतमुनिकी कल्पना कर ली गयी। परन्तु यह मत वास्तवमें ठीक नहीं है। भरतमुनि काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। सारे साहित्यशास्त्रमें उनको 'नाटचशास्त्र'के प्रवर्तकरूपमें स्मरण किया गया है। 'मत्स्यपुराण'के २४ वें अध्यायमें २७-३२वें श्लोकतक ६ श्लोकोंमें भरतमुनिका उल्लेख अनेक बार किया गया है। उनमें यह कथा कही गयी है कि भरतमुनिने देवलोकमें 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटकका अभिनय करवाया था। उसमें अप्सरा उर्वशी लक्ष्मीका अभिनय कर रही थी। देवसभामें इन्द्रके साथ राजा पुरूरवा भी उपस्थित थे। पुरूरवाके रूपको देखकर उर्वशी उस समय ऐसी मोहित हो गयी कि वह अपना अभिनय करना भूल गयी। इसपर भरतमुनिने अप्रसन्न होकर पुरूरवा और उर्वशी दोनोंको शाप दे दिया। महाकवि कालिदासने भी इस घटनाकी ओर सङ्केत किया है और भरतमुनिके नामका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥'

—विक्रमोर्वशीय २-१८

भरतके 'नाटचशास्त्रमें भी देवलोकमें भरतमुनिके द्वारा किये जानेवाले अभिनयका वर्णन किया गया है। इसमें भरतमुनिके सौ पुत्रोंकी लम्बी सूची भी दी गयी है और साथमें अप्सराओंके नामोंकी सूची दी गयी है, जिनके द्वारा भरतमुनिने अभिनयकी योजना की थी। संस्कृतके सभी नाटकोंकी समाप्ति प्रायः 'भरतवाक्य'के साथ होती है। और अभिनवगुप्त आदि सभी प्राचीन लेखकोंने भरतमुनिको ' 'नाटचशास्त्र'का प्रवर्तक माना है, इसलिए उनको कल्पित व्यक्ति कहना उचित नहीं है।

भरतमुनिके कालका निर्णय कर सकना यद्यपि बहुत कठिन है फिर भी जो लोग उनको ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं वे उनका समय ५०० विक्रमपूर्वसे लेकर प्रथम शताब्दीतकके बीचमें मानते हैं। अश्वघोष नामक बौद्ध दार्शनिक तथा कवि, विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें हुए हैं। उनका 'सारिपुत्रप्रकरण' नामक एक नाटचग्रन्थ भी खण्डित अवस्थामें अभी मिला है। आलोचकोंकी सम्मतिमें उसके ऊपर भी भरतमुनिके 'नाटचशास्त्र'का प्रभाव दिखायी देता है। इसलिए भरतमुनिका काल उनसे पहिले अवश्य ही मानना होगा। अतएव कुछ विद्वान् लोग विक्रमपूर्व पञ्चम शताब्दीसे लेकर विक्रमकालके बीचमें कहीं भरतमुनिका समय मानते हैं।

भरतमुनिका एकमात्र ग्रन्थ 'नाटचशास्त्र' है। यों नामसे तो वह नाटचके विषयका ही ग्रन्थ प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह समस्त कलाओंका विश्वकोष है। स्वयं भरतमुनिने 'नाटचशास्त्र'का परिचय देते हुए लिखा है—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।।'[1]

जो बात उन्होंने नाटचके विषयमें कही है वही बात उनके 'नाटचशास्त्र'पर भी चरितार्थ होती है । उनका 'नाटचशास्त्र' न केवल नाटचका ही अपितु समस्त ललित एवं उपयोगी कलाओंका आकरग्रन्थ है ।

वर्तमान 'नाटचशास्त्र' प्रायः ६,००० श्लोकोंका ग्रन्थ है । इसलिए उसको 'षट्साहस्री संहिता' भी कहा जाता है । पर इसके पूर्व उसका १२,००० श्लोकोंका भी कोई संस्करण रहा होगा क्योंकि उसकी 'द्वादशसाहस्री संहिता'का भी उल्लेख पाया जाता है । शारदातनयने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें इन दोनों संस्करणोंका उल्लेख किया है और उनमेंसे 'द्वादशसाहस्री संहिता'का रचयिता वृद्ध-भरतको और 'षट्साहस्री संहिता'का रचयिता भरतको बतलाया है । उन्होंने लिखा है—

'एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाटचवेदस्य संग्रहः ।।'[2]

नाटचशास्त्रका वर्तमान संस्करण 'षट्साहस्री' संस्करण है । इसमें कुल ३६ अध्याय हैं । निर्णयसागरसे प्रकाशित प्रथम संस्करणमें 'नाटचशास्त्र'के ३७ अध्याय दिखलाये गये थे । परन्तु 'नाटच-शास्त्र'के प्राचीन टीकाकार अभिनवगुप्तने उसमें केवल ३६ अध्यायोंका वर्णन करते हुए लिखा है—

'षट्त्रिंशकात्मकजगद्-गगनावभाससंविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम् ।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन् वन्दे शिवं.....................................।।'

'नाटचशास्त्र'का सम्पादन

सन् १८२५ में विलसन महोदयने कुछ संस्कृत नाटकोंका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था । उस समय 'नाटचशास्त्र'की कोई प्रति सर्वसाधारणके लिए सुलभ न थी । विलसन महोदयको भरत-मुनिके 'नाटचशास्त्र'का उल्लेख तो विभिन्न ग्रन्थोंमें मिला, परन्तु उसकी कोई प्रति उपलब्ध न हो सकी, इसलिए उस समय उन्होंने बड़े दुःखके साथ यह लिखा कि भरतमुनिका 'नाटचशास्त्र' तो सर्वदाके लिए लुप्त हो गया प्रतीत होता है । इसके चालीस वर्ष बाद सन्१८६५ में फ्रेड्रिक हाल महोदयको 'नाटच-शास्त्र'की एक प्रति प्राप्त हुई । परन्तु वह अत्यन्त अशुद्ध थी इसलिए वे उसका सम्पूर्ण रूपसे सम्पादन तथा प्रकाशन न कर सके । फिर भी उन्होंने उसके कुछ अध्यायोंको अपने सम्पादित 'दशरूपक'के साथ प्रकाशित किया ।

हाल महोदयके इस प्रकाशनसे 'नाटचशास्त्रके बिलकुल लुप्त हो जानेकी धारणाका निराकरण हो गया, इसलिए विद्वान् लोग हस्तलिखित ग्रन्थोंके भण्डारोंमें इस 'नाटचशास्त्र'की अन्य प्रतियोंकी खोज बड़ी तत्परतासे करने लगे । सन् १८७४ में हेमान नामक जर्मन विद्वान्ने 'नाटचशास्त्र'की एक और नयी प्रतिका पता लगाकर गौटिंगेन नगरकी राजकीय विज्ञान-परिषद्की विवरणपुस्तकमें 'नाटचशास्त्र'-का एक विस्तृत परिचय प्रकाशित किया । उसके बाद सन् १८८० में रैग्नो नामक फ्रांसके एक विद्वान्ने

१. ना० शा० १-११७ । २. भावप्रकाशन, पृ० २८७ ।

'नाट्यशास्त्र'के १५वें तथा १६ वें अध्यायोंको प्रकाशित किया। उसके बाद सन् १८८४ में उन्हीं रैग्नो महोदयने ६ठें तथा ७वें अध्यायोंको प्रकाशित किया।

रैग्नो महोदयके शिष्य ग्रौसे नामक दूसरे फ्रेंच विद्वान्ने अपने गुरुके कार्यको आगे बढ़ाते हुए सन् १८८८ में नाटचशास्त्रके संगीतविषयक २८ वें अध्यायको सम्पादित करके प्रकाशित किया और उसके बाद भी 'नाटचशास्त्र'के सम्पादनमें अनवरत तत्पर रहे। अनेक कठिनाइयोंके होते हुए भी सन् १८९८ में उन्होंने 'नाट्यशास्त्र'के प्रारम्भिक १४ अध्यायोंका एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया।

ग्रौसेके इस संस्करणके प्रकाशित होनेके पूर्व फ्रांसके प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् प्रो० शिल्वाँ लेबी ने अपने भारतीय नाटकविषयक ग्रन्थमें भरतके 'नाटचशास्त्र'के कुछ अध्यायोंका विवेचन किया था, पर वह बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता था। इसी बीचमें ग्रौसेके संस्करणसे पहले हमारे भारतमें भरत-नाटचशास्त्रका प्रथम संस्करण निर्णयसागर प्रेस, बम्बईकी काव्यमाला सीरीजमें प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन स्वर्गीय श्री पण्डित शिवदत्तजी तथा श्री काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब महोदयने किया था।

इतना कार्य हो चुकनेपर भी 'नाटचशास्त्र'का समझना और उसकी समुचित व्याख्या कर सकना विद्वानोंके लिए एक समस्या ही बनी हुई थी। क्योंकि ये संस्करण पर्याप्त शुद्ध न थे और न उनकी कोई टीका आदि अबतक मिल सकी थी। सर्तमान २० वीं शताब्दीके आरम्भमें डॉ० सुशीलकुमार दे महोदयने 'नाटचशास्त्र'की 'अभिनवभारती' नामक प्राचीन टीकाकी एक प्रति खोजकर निकाली। इस टीकाके रचयिता कश्मीरके प्रसिद्ध विद्वान् श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य हैं। बादको मद्रासके प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामकृष्ण कवि महोदयने 'अभिनवभारती' टीका और मूल 'नाट्यशास्त्र'को सम्पादित करनेका भार उठाया और सन् १९२६ में उसके सात अध्यायोंका प्रथम भाग तथा सन् १९३४ में द्वितीय भाग १८ अध्यायतकका प्रकाशित किया। इसका तृतीय भाग भी अब प्रकाशित हुआ है और चतुर्थ भाग भी शीघ्र प्रकाशित होनेकी आशा है।

'अभिनवभारती'के प्रकाशनसे यह आशा हुई थी कि 'नाटचशास्त्र'का रहस्य स्पष्ट हो जायगा। और बहुत-कुछ अंशोंमें ऐसा हुआ भी है। परन्तु दुःखकी बात यह है कि 'अभिनवभारती'की जो प्रतियाँ उपलब्ध हुई वे सब अत्यन्त दूषित थीं। उनका पाठ अत्यन्त अशुद्ध था। सम्पादक महोदयको जिस प्रकारका पाठ हस्तलिखित प्रतियोंमें मिला उसको उन्होंने उसी रूपमें छाप दिया था। परन्तु वह पाठ इतना अधिक अशुद्ध और असङ्गत है कि उससे ग्रन्थका अभिप्राय समझ सकना नितान्त असम्भव है।

उसके सम्बन्धमें विद्वानोंका कहना तो यह है कि 'अभिनवभारती'का पाठ इतना अधिक अशुद्ध है कि यदि स्वयं अभिनवगुप्ताचार्य भी स्वर्गसे उतरकर आ जायें तो वर्तमान पाठको देखकर वे भी अपने अभिप्रायको नहीं समझ सकते।

इस प्रकारकी अशुद्धियोंके दो कारण हुए हैं। एक तो यह कि सम्पादक महोदयको जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी उसे अनेक स्थानोंपर कीड़ों ने खा डाला था। इसलिए उन स्थानोंपर क्या पाठ था यह पढ़ा नहीं जा सकता। इसी कारणसे मुद्रित संस्करणमें अनेक जगह पाठ लुप्त-सा दिखायी देता है। दूसरा कारण यह है कि पाण्डुलिपिके पृष्ठोंपर संख्या पड़ी हुई नहीं थी। इसलिए कहीं-कहींपर जहाँ कि पृष्ठोंको किसीने इधर-उधर करके रख दिया था, वे वहीं छाप दिये गये। इस प्रकार उनके मुद्रणमें भी भूल हो गयी है, अर्थात् पाठोंका पौर्वापर्य बिगड़ गया है। ऐसी अवस्थामें किसी पाठका अर्थ समझमें आ ही कैसे सकता है।

हमारा संस्करण

हमने अभी 'अभिनवभारती'का पाठसंशोधनकर नवीन संस्करण प्रस्तुत किया है जो दिल्ली विश्वविद्यालयकी 'हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्'की ओरसे प्रकाशित हो गया है। इसमें हमने अपनी विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धतिसे पाठोंका संशोधन करनेका यत्न किया है। जहाँपर कीड़ोंके खा जानेके कारण हस्तलिखित पाण्डुलिपियोंमें पाठ न पढ़े जा सकनेसे मुद्रित प्रतिमें पाठ लुप्त हो गये थे वहाँ हमने प्रसङ्गके अनुसार लुप्त पाठकी पूर्ति करनेका यत्न किया है। जहाँ दो-चार अक्षरोंका ही लोप हुआ था वहाँ तो हमारा संशोधित पाठ निश्चय ही ठीक बैठ गया है। पर जहाँ लम्बा पाठ लुप्त हो गया था वहाँ भी अक्षरशः नहीं तो भी ग्रन्थकारका भाव पूर्णतः संशोधित पाठमें आ गया है। इसी प्रकार जहाँ पृष्ठोंके व्युत्क्रमसे रख दिये जानेके कारण मुद्रित संस्करणमें पाठ उलट-पलटकर अस्थानमें छप गये थे वे भी प्रायः ठीक स्थानपर कर दिये गये हैं। पाठोंका यह संशोधन बड़ा असाध्य कार्य था। पर मैंने उसे करनेका यत्न किया है। यदि विद्वानोंको सन्तोषप्रद हुआ तो हम अपना श्रम सफल समझेंगे और यदि इस कार्यमें कोई भूल-चूक हुई हो तो विद्वानोंके परामर्शका आदर करते हुए अगले संस्करणमें और आवश्यक सुधार करनेका यत्न करेंगे।

भरतमुनिके टीकाकार

भरतमुनिके 'नाटचशास्त्र'की यद्यपि केवल एक ही टीका 'अभिनवभारती' अबतक उपलब्ध हुई है परन्तु उसे देखनेसे विदित होता है कि उनके पूर्व अन्य अनेक टीकाकारोंने 'नाटचशास्त्र'पर टीकाएँ लिखी थीं। किन्तु वे सब कालक्रमसे विलुप्त हो गयीं या कम-से-कम अबतक प्राप्त नहीं हो सकी हैं। इनमेंसे १. भट्टोद्भट, २. भट्टलोल्लट, ३. भट्टशङ्कुक और ४. भट्टनायक इन चार व्याख्याकारोंका उल्लेख तो काव्यप्रकाशकारने भी किया है। भरतके 'रससूत्र'की व्याख्यामें इन चारोंके मतोंका उल्लेख अभिनवभारतीकारने भी किया है। इनके साथ पाँचवें अभिनवगुप्त और छठे कीर्तिधरको मिलाकर 'सङ्गीतरत्नाकर'के लेखक श्री शार्ङ्गदेवने भरतके छः टीकाकारोंका उल्लेख निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

'व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपरः॥'

इन छः टीकाकारोंके अतिरिक्त 'अभिनवभारती'में ७. राहुल, ८. भट्टयन्त्र और ९. हर्षवार्तिकका उल्लेख अपनी टीकामें किया है। राहुलके मतका उल्लेख करते हुए 'अभिनवभारती'के चतुर्थ अध्यायमें पृष्ठ १७२ पर लिखा है—

'यथाह राहुलः—
परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रियः।
सखी च नाटचधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम्॥'

अभिनवभारतीकारने पृष्ठ २०८ पर भट्टयन्त्रके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'शिक्षार्हस्वेच्छान्यनृत्तकतिपयनाटचाङ्गकृतं नृत्तमभ्यासफलमिति भट्टयन्त्रः।

इसी पृष्ठ २०८ पर अभिनवभारतीकारने 'नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्यः' लिखकर कीर्तिधरके नामका भी उल्लेख किया है!

वार्तिककारके मतका उल्लेख 'अभिनवभारती'के पृष्ठ १७२ पर भी किया गया है और फिर पृष्ठ २०७ पर भी उनका उल्लेख किया है। दोनोंमें अन्तर यह है कि पहिली जगह अर्थात् पृष्ठ १७२ पर केवल 'वार्तिककृताप्युक्तम्' इस रूपमें नामके बिना वार्तिककारका उल्लेख किया है। और दूसरी जगह अर्थात् पृष्ठ २०७ पर 'इति हर्षवार्तिकम्' इस रूपमें वार्तिकके साथ हर्ष नामको जोड़कर उसका उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि 'नाट्यशास्त्र'पर वार्तिक लिखनेवाले कदाचित् हर्षदेव या श्रीहर्ष आदि नामका कोई व्यक्ति रहा होगा।

इन नौ टीकाकारोंका उल्लेख 'अभिनवभारती' तथा 'सङ्गीतरत्नाकर' आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनके अतिरिक्त मातृगुप्ताचार्य नामक एक दसवें व्यक्तिका नाम भी इस प्रसङ्गमें लिया जाता है। राघवभट्टने 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की टीकामें पृष्ठ १५ पर भरतके आरम्भ तथा बीचके लक्षणवाले पद्योंको उद्धृत कर उनका भेद दिखलानेके लिए मातृगुप्ताचार्यका उल्लेख करते हुए लिखा है—[1]

'अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्यैरुक्तः..........।
क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम् ॥'

इसी प्रकार 'नाटचप्रदीप'के निर्माता सुन्दरमिश्र (१६१३ ई०) ने 'नाटचशास्त्र' ५-२५ तथा ५-२८ से नान्दी-लक्षणको उद्धृत करते हुए लिखा है—

'अस्य व्याख्याने मतृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयमुदाहृता।'

इस लेखसे प्रतीत होता है कि उन्होंने भी भरतनाट्यशास्त्रपर कोई व्याख्या लिखी थी। इस प्रकार भरतमुनिके व्याख्याकारोंके रूपमें प्रायः दस विद्वानोंका उल्लेख पाया जाता है परन्तु उनमेंसे एक 'अभिनवभारती'को छोड़कर अन्य किसीका टीकाग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है। और यह भी विदित नहीं होता है कि उन्होंने सारे 'नाटचशास्त्र' के ऊपर अपनी टीकाएँ लिखी थीं अथवा उसके किसी विशेष भागपर ही अपनी व्याख्याएं की थीं। केवल एक 'अभिनवभारती' व्याख्या ऐसी है जो 'नाटच-शास्त्र'के अधिकांश भागपर की गयी है। किन्तु कुछ अध्यायोंमें और कुछ स्थलोंपर वह भी उपलब्ध नहीं होती। जो कुछ उपलब्ध होती है वह भी अशुद्ध पाठोंके कारण दुरूह है। अच्छे-अच्छे विद्वान् भी पाठदोषके कारण उसे समझ नहीं सकते। हमने केवल तीन अध्यायों (१, २ तथा ६) का पाठसंशोधन किया है। उतना भाग तो अब सुबोध हो गया है, परन्तु शेष भाग अभी संशोधनकी अपेक्षा रखता है।

२. मेधावी

साहित्यशास्त्रके इतिहासमें भरतमुनिके बाद मुख्य रूपसे भामहका नाम आता है। परन्तु इन दोनोंके बीचमें छः-सात सौ वर्षका व्यवधान पड़ता है। भरतमुनिका समय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विक्रमके पूर्व प्रथम शताब्दी या विक्रमके बाद प्रथम शताब्दीतक माना जाता है। भामहका काल, जैसा कि आगे कहेंगे, विक्रमके षष्ठ शतकका पूर्वार्द्ध माना जाता है। इतना लम्बा बीचका काल साहित्यक आचार्योंसे शून्य ही पड़ा रहा हो ऐसा सम्भव नहीं है। इस बीचमें भी अनेक आचार्य हुए होंगे।

१. नाटचशास्त्र (बड़ोदा), पृ० १७२। २. ना० शा० (बड़ोदा), पृ० २०८।

परन्तु दैवदुर्विपाकसे आज हमको उनका कोई पता नहीं चलता है। इन्हीं बीचके आचार्योंमें मेधावी या मेधाविरुद्र नामके अलङ्कारशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य हो चुके हैं। उनका पता हमें भामह, रुद्रटके व्याख्याकार नमिसाधु और राजशेखर आदिके ग्रन्थोंसे मिलता है।

मेधावी आचार्यके जिस मुख्य सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें की गयी है वह उनका उपमादोषोंके विवेचनका सिद्धान्त है। उन्होंने १. हीनता, २. असम्भव, ३. लिङ्गभेद, ४. वचनभेद, ५. विपर्यय, ६. उपमानाधिक्य तथा ७. उपमानासादृश्य—इन सात प्रकारके उपमादोषोंका विशेष रूपसे निरूपण किया था। इसकी चर्चा भामह, नमिसाधु तथा वामनने अपने ग्रन्थोंमें की है। भामहने इस विषयका विवेचन करते हुए लिखा है—

'हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदौ विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र ते च पृथक्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-३९, ४०

रुद्रटके, 'काव्यालङ्कार' (११-२४) की टीकामें इसी विषयकी चर्चा करते हुए उसके टीकाकार नमिसाधुने लिखा है—

'अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणान्मेधावि-प्रभृतिभिरुक्तं यथा लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः ...तदेतन्निरस्तम्।'

मेधावीने जिन सात उपमादोषोंका प्रतिपादन किया था उनमेंसे विपर्ययको हीनता या अधिकता दोषके अन्तर्गत करके वामनने सातके स्थानपर केवल छः उपमादोषोंका प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड्दोषा इति।'

—वामन, काव्यालङ्कारसूत्र ४-२-११ की वृत्ति

वामनने यद्यपि भामह और नमिसाधुकी तरह यहाँ मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु इस विवेचनको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि मेधावीके सात दोषोंवाले सिद्धान्तके आलोचना-रूपमें ही इसे लिखा है।

दोषोंके अतिरिक्त अलङ्कारोंके विवेचनमें भी भामह और दण्डीने मेधावीके सिद्धान्तकी चर्चा की है। भामह आदि उत्तरवर्ती आलङ्कारिकोंने 'यथासंख्य' तथा 'उत्प्रेक्षा' दो अलग-अलग अलङ्कार माने हैं, परन्तु मेधावी 'उत्प्रेक्षा'को अलग अलङ्कार न मानकर कहीं-कहीं 'संख्यान' नामसे ही उसका कथन करते हैं। इसी बातका प्रतिपादन करते हुए भामहने लिखा है—

'यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचित्॥'

—भामह, काव्यालङ्कार २-८८

दण्डीने इस संख्यान नामको उत्प्रेक्षाका वाचक न कहकर यथासंख्यका ही दूसरा नाम माना है और उसीको 'क्रम' नामसे भी कोई आचार्य कहते हैं यह लिखा है—

'यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि ।'

—दण्डी, काव्यादर्श २-२८३

दण्डीके इस लेखमें यद्यपि मेधावीके नामका उल्लेख नहीं किया गया है और न उनके उत्प्रेक्षाको 'संख्यान' नामसे कहनेकी चर्चा की गयी है फिर भी उसमें मेधावीके द्वारा प्रयुक्त 'संख्यान' नामकी चर्चा हुई है इसलिए हमने उसको यहाँ दे दिया है।

मेधाविरुद्रके तीसरे जिस सिद्धान्तकी चर्चा उत्तरवर्ती साहित्यमें पायी जाती है, वह है शब्दोंका चतुर्धा विभाग। व्याकरण आदि शास्त्रोंमें शब्दोंके १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग, ४. निपात और ५. कर्मप्रवचनीय नामसे पाँच विभाग किये गये हैं, परन्तु मेधाविरुद्रने इनमेंसे कर्मप्रवचचीयको छोड़ केवल १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात, चार ही विभाग किये हैं। इसकी चर्चा करते हुए रुद्रट-काव्यालङ्कारकी टीकामें नमिसाधुने लिखा है—

'एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः ।'

—रुद्रट, काव्यालङ्कारकी टीका २-२, पृ० ६

'निरुक्त'के रचयिता यास्कमुनिने भी 'निरुक्त'के प्रारम्भमें शब्दोंका विभाजन करते हुए 'तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' लिखकर नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात चार प्रकारका पदविभाग ही स्वीकार किया है। 'कर्मप्रवचनीय'को अलग विभाग नहीं माना है। इसी प्रकार मेधाविरुद्रने भी 'कर्मप्रवचनीय'को छोड़कर केवल चार प्रकारका ही पदविभाग माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेधाविरुद्रके अनेक सिद्धान्तोंकी चर्चा भामह तथा उनके परवर्ती ग्रन्थोंमें हुई है। इसलिए उन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा होगा जो दुर्भाग्यवश आज उपलब्ध नहीं होता है। राजशेखरके लेखसे यह भी जान पड़ता है कि मेधावी जन्मान्ध थे। राजशेखरने लिखा है—

प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते ।'

काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२

राजशेखरके इस लेखसे प्रतीत होता है कि मेधाविरुद्र प्रतिभावान्, उच्च कोटिके कवि भी थे। परन्तु दुःखकी बात है कि आज उनका न काव्यग्रन्थ मिलता है और न अलङ्कारग्रन्थ ही पाया जाता है।

३. भामह

भरतमुनिके बाद अलङ्कारशास्त्रके दूसरे आचार्य, जिनका ग्रन्थ भी मिलता है, भामह हैं। भामहका समय विद्वानोंने षष्ठ शतकका पूर्वार्द्ध माना है। इसका आधार यह है कि उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कार'के पञ्चम परिच्छेदमें न्यायनिर्णयका वर्णन करते हुए बौद्ध आचार्य दिङ्नागके 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस प्रत्यक्षलक्षणको उद्धृत किया है। दिङ्नागका समय ५०० ई० के लगभग माना

जाता है। दिङ्नागके बाद उनके व्याख्याकार आचार्य धर्मकीर्तिका समय ६२० ई० के लगभग माना जाता है। धर्मकीर्तिने दिङ्नागके प्रत्यक्ष-लक्षणमें थोड़ा-सा संशोधनकर 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्' यह प्रत्यक्षलक्षण किया है। इसमें 'अभ्रान्तम्' पद जोड़ दिया गया है। किन्तु भामहके ग्रन्थमें दिये हुए प्रत्यक्षलक्षणमें 'अभ्रान्तम्' पद नहीं है। इससे अनुमान होता है कि भामह दिङ्नागके बाद और धर्मकीर्तिके पहिले अर्थात् ५०० तथा ६२० ई० के बीच में हुए हैं।

भामह और कालिदास

वस्तुतः भामहके कालका निर्णय करना बड़ा कठिन काम है। उनके ग्रन्थमें अन्य लोगोंके लेखोंके कुछ सङ्केत पाये जाते हैं जिनके कारण विद्वानोंमें उनके पौर्वापर्यके निर्णयमें विभिन्न मत पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए भामहके 'काव्यालङ्कार'में—

'अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः ॥ १-४२
अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।
कथं दूत्यं प्रपद्येरन् इति युक्त्या न युज्यते ॥ १-४३
यदि चोत्कण्ठया यत् तदुन्मत्त इव भाषते।
तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥' १-४४

इन कारिकाओंमें 'अयुक्तिमत्' दोषकी विवेचना करते हुए साधारण अवस्थामें मेघ आदिको दूत बनानेके वर्णनको 'अयुक्तिमत्' दोष कहा है। क्योंकि दूर देशमें विचरण करनेवाले और वाणीरहित अथवा अव्यक्त वाणीवाले होनेसे वे दौत्यकार्य कर ही नहीं सकते। इसलिए उनको दूत बनाना 'अयुक्तिमत्' दोष माना जाता है। इसके साथ उन्होंने यह भी लिखा है कि यह तो हो सकता है कि उन्मत्तावस्थामें उनको दूतरूपमें प्रयुक्त किया जा सके, क्योंकि बड़े-बड़े विद्वान् इस रूपमें उनका प्रयोग करते हैं।

यह जो वर्णन भामहके ग्रन्थमें मिलता है इससे प्रतीत होता है कि इस आलोचनाके समय उनके सामने कालिदासका 'मेघदूत' ग्रन्थ विद्यमान था। और कालिदास जैसे महाकविके द्वारा उस मेघको दूत बनाये जानेका वर्णन देखकर ही उन्होंने 'सुमेधोभिः प्रयुज्यते' लिखा है। इसलिए भामह कालिदासके उत्तरवर्ती हैं। इसके विपरीत डॉ० टी० गणपति शास्त्री आदि कुछ विद्वानोंका मत है कि भामह कालिदाससे बहुत पूर्ववर्ती रहे होंगे, क्योंकि भामहने मेधावी, रामशर्मा, अश्मकवंश, रत्नाहरण आदि अत्यन्त अप्रसिद्ध ग्रन्थकारोंके नामोंका तो स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया है किन्तु कालिदास जैसे महाकविका नामतः कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदासका नाम उनको विदित नहीं था। यह जो मेघको दूत बनाने आदिकी चर्चा की है वह सामान्य रूपसे ही की है, उसका कालिदासके 'मेघदूत'से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भामह और माघ

माघकविविरचित 'शिशुपालवध' महाकाव्यमें द्वितीय सर्गमें निम्नलिखित श्लोक आता है—

'नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥'

—माघ २-२८

इसमें सत्कवि, शब्द और अर्थ दोनोंकी अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार राजनीतिज्ञ भाग्य और पौरुष दोनोंकी अपेक्षा रखता है। इस युक्तिसे काव्यके साथ शब्द और अर्थ दोनोंका जो सम्बन्ध सूचित किया गया है इस आधारपर कुछ विद्वानोंका विचार है कि माघकी यह उपमा भामहके काव्य-लक्षणके आधारपर स्थित होती है। भामहने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह काव्यका लक्षण किया है। इन विद्वानोंका विचार है कि माघकविकी यह उपमा भामहके काव्यलक्षणके आधारपर बनी है। इसलिए भामह माघके पूर्ववर्ती हैं। यह प्रो० पाठकका मत है। इसके विपरीत डॉ० जे० नोबुलका कहना है कि यह युक्ति बिलकुल निस्सार है। यदि इसी युक्तिसे काम लिया जाय तो फिर कालिदासके 'रघुवंश'में जो 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' लिखा गया है वह भी कालिदासने भामहके काव्यलक्षणके आधारपर ही लिखा होगा। परन्तु यह सब बात ठीक नहीं।

भामह और भास

इसी प्रकारकी कल्पनाओंके आधारपर कुछ विद्वान् भामह और भासका भी सम्बन्ध जोड़नेका यत्न करते हैं। भामहने 'काव्यालङ्कार'के चतुर्थ परिच्छेदमें निम्नाङ्कित श्लोक लिखे हैं—

'विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चारशून्यताम् ॥३९॥
अन्तर्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम् ॥ ॥४०॥
यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि ॥४१॥'

इन श्लोकोंमें वत्सराज उदयनकी कथाकी चर्चा की गयी है। गणपति शास्त्रीका कथन है कि भामहने यह चर्चा भास कविके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटकके आधारपर की है। इसकी सम्पुष्टिमें उन्होंने एक युक्ति यह भी दी है कि इसी प्रसङ्गमें भामहने अगले ४३ वें श्लोकमें लिखा है—

'हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसा ॥'

इसीसे मिलता-जुलता निम्नलिखित प्राकृत गद्यभाग 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'में आया है—

'मम भादा हदो अणेण मम पिदा अणेण मम सुदो।'

भामहके उपर्युक्त श्लोकों और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटिकाकी कथा तथा उक्त 'हतो येन मम भ्राता' आदि वाक्यकी समानताके आधारपर टी. गणपति शास्त्रीने यह परिणाम निकाला है कि भामह भासके बाद हुए हैं, किन्तु दूसरे विद्वानोंकी सम्मतिमें यह ठीक नहीं है। वत्सराज उदयनकी कथा 'बृहत्कथा'में मूल रूपसे आती है। अन्यत्र जहाँ कहीं भी उसका उल्लेख किया गया है वह सब 'गुणाढ्य'की 'बृहत्कथा'से ही लिया गया है। 'बृहत्कथामञ्जरी' और 'कथासरित्सागर' 'बृहत्कथा' के संक्षिप्त रूप हैं। उनमें भी वत्सराज उदयनकी कथा आती है। भामहने जो वत्सराज उदयनकी कथाका यह उल्लेख किया है वह भासके 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'के आधारपर नहीं, अपितु 'बृहत्कथामञ्जरी' या 'कथासरित्सागर'के आधारपर ही किया है। अतः इस युक्तिके आधारपर भामहको भासका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेका प्रयत्न ठीक नहीं है।

भामह और भट्टि

महाकवि भट्टि भी संस्कृत साहित्यके महान् कवि हुए हैं। उनकी कल्पना बड़ी विचित्र है। उन्होंने 'रावणवध' नामक एक महाकाव्य लिखा है। जिस प्रकार माघने 'शिशुपालवध' काव्य लिखा है, उसी प्रकार इनका 'रावणवध' महाकाव्य है। किन्तु माघके काव्यका नाम कविके नामसे 'माघ'के रूपमें ही प्रसिद्ध हो गया है। 'शिशुपालवध' नाम उसकी अपेक्षा कम प्रचलित है। उसी प्रकार भट्टि कविके 'रावणवध' महाकाव्यका मुख्य नाम गौण हो गया है। उसके स्थानपर उसे अब 'भट्टिकाव्य' ही कहा जाता है। इस 'भट्टिकाव्य'की रचना काठियावाड़के 'बलभी' राज्य, जिसे अब 'वल' कहते हैं, के राजा धरसेनके समयमें हुई है। 'भट्टिकाव्य'के अन्तमें कविने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'काव्यमिदं विहितं मया बलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य प्रेयकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥'

—२२-३५

'भट्टिकाव्य'में रचनाकालका इतना परिचय होनेपर भी उसका समय कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काठियावाड़के इतिहासके अनुसार 'बलभी'में धरसेन नामके चार राजा राज्य कर चुके हैं। इनमेंसे किस 'धरसेन'के समयमें 'भट्टिकाव्य'की रचना हुई यह नहीं कहा जा सकता। प्रो० मजूमदारने सन् ४७३ ई० के मन्दसोर सूर्यमन्दिरके लेखमें कहे हुए वत्सभट्टिको ही 'भट्टिकाव्य'का रचयिता माना है। इसके समर्थनके लिए उनकी यह युक्ति है कि मन्दसोरके शिलालेखके श्लोक 'भट्टि-काव्य'के शरद्वर्णनके श्लोकोंसे बहुत मिलते-जुलते हैं। इसके विपरीत प्रो० कीथने इस मतका उग्रताके साथ खण्डन किया है। इसी प्रकार प्रो० काणे, प्रो० पाठक आदि अन्य विद्वानोंका भी 'भट्टिकाव्य'के रचनाकालके विषयमें मतभेद पाया जाता है। इसलिए इसके कालका यथार्थ निर्णय बड़ा कठिन काम है।

भामहने 'काव्यालङ्कार'के द्वितीय परिच्छेदमें निम्नलिखित श्लोक दिया है—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥'

—२-२०

इसी श्लोकका भावानुवाद 'भट्टिकाव्य'के श्लोकमें निम्नलिखित प्रकार किया गया है—

'व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥"

—२२-३४

भामह और भट्टिके इन दोनों श्लोकोंमें इतना अधिक साम्य है कि इन दोनोंमेंसे किसी एकने दूसरेके श्लोकका भावानुवाद किया है यह बात बिलकुल निश्चित ही है। किन्तु भामहने भट्टिका अनुवाद किया है अथवा भट्टिने भामहका यह बात तबतक नहीं कही जा सकती जबतक उनके कालका ठीक निर्णय नहीं हो जाता है। इसीलिए विद्वानोंमें इस विषयमें मतभेद पाया जाता है।

भामह और न्यासकार

पाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'पर 'काशिका' वृत्ति और उसके ऊपर जिनेन्द्रबुद्धिकी 'काशिका-

विवरणपञ्जिका' टीका मिलती है। इस 'काशिकाविवरण-पञ्जिका'की अधिक प्रसिद्धि 'न्यास' नामसे पायी जाती है। 'काशिका'के ऊपर जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'के पहिले हरदत्तने 'पदमञ्जरी' नामकी एक और टीका की थी। 'भविष्यत्पुराण'के आधारपर डॉ० याकोबीने (जे० आर० ए० एस०, बम्बई, भाग २३, पृष्ठ ३१) लिखा है कि हरदत्तका देहावसान ८७८ ई० के लगभग हुआ। अर्थात् हरदत्त-का समय नवम शताब्दीमें पड़ता है। डॉ० कीलहार्न आदि विद्वानोंका मत है कि जिनेन्द्रबुद्धिने अनेक स्थानोंपर 'पदमञ्जरी'की बिलकुल नकल की है। इसका अर्थ यह होता है कि जिनेन्द्रबुद्धिका काल हरदत्तके बाद दशम शताब्दीमें पड़ता है। भामहके 'काव्यालङ्कार'में षष्ठ परिच्छेदमें एक स्थानपर न्यासकारके मतका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिद्रुदाहरेत् ॥
सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा ॥—६,३६-३७

इन श्लोकोंमें न्यासकारके मतका उल्लेख देखकर प्रो० पाठकने यह सिद्धान्त निकाला कि भामह न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिके पश्चात् हुए हैं और जिनेन्द्रबुद्धिका समय उन्होंने इत्सिगके वृत्तान्तके आधारपर सप्तम शताब्दीमें निश्चय किया है। इस प्रकार प्रो० पाठकने भामहका समय अष्टम शताब्दीमें स्थिर किया है। किन्तु डॉ० त्रिवेदी आदि अन्य विद्वान् इस मतको नहीं मानते हैं। उनके कथनानुसार यहाँ जिस न्यासग्रन्थका उल्लेख किया गया है वह जिनेन्द्रबुद्धिकी 'काशिकाविवरणपञ्जिका' नहीं अपितु कोई अन्य ही ग्रन्थ है। 'न्यास' शब्द सामान्य रूपसे व्याकरणकी टीका या व्याख्याग्रन्थोंके लिए प्रयुक्त होता है। जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'के अतिरिक्त अन्य भी अनेक न्यासग्रन्थोंका उल्लेख पाया जाता है। माधवाचार्यने अपनी 'माधवीया धातुवृत्ति'में 'क्षेमेन्द्रन्यास', 'न्यासोद्योत', 'बोधिन्यास', 'शाकटायन-न्यास' आदि अनेक न्यासोंका उल्लेख किया है। बाणभट्टके 'हर्षचरित'में 'कृतगुरुपदन्यासाः' पद आया है। इसकी व्याख्या करते हुए उनके टीकाकार शङ्करने 'कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिविवरणं यैः' यह लिखा है। यहाँ 'न्यास' पदसे टीकाकारने वृत्ति या विवरण अर्थ ही लिया है। उससे जिनेन्द्रबुद्धिके 'न्यास'का ग्रहण नहीं किया गया है। अन्यथा न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धिको बाणभट्टका भी पूर्ववर्ती मानना होगा। इसलिए जो लोग 'न्यासकार' पदका उल्लेख देखकर भामहको जिनेन्द्रबुद्धिके बादमें होनेवाला सिद्ध करना चाहते हैं उनका मत ठीक नहीं है।

भामह और दण्डी

भास और भट्टिके समान दण्डीके साथ भी भामहकी अनेक उक्तियोंका असाधारण सादृश्य पाया जाता है। अनेक उक्तियाँ तो ऐसी हैं जो भामहके 'काव्यालङ्कार' तथा दण्डीके 'काव्यादर्श'में बिलकुल एक ही रूपमें पायी जाती हैं। उदाहरणके लिए हम कुछ उक्तियाँ नीचे उद्धृत करते हैं जो इन दोनों ग्रन्थोंमें शब्दशः समान रूपमें उपलब्ध होती हैं—

१. 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्।' भामह १-१९। काव्यादर्श १-१४।
२. 'मन्त्रिदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।' भामह १-२०। काव्यादर्श १-१७।
३. 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः।' भामह १-२७। काव्यादर्श १-२९।

४. 'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ।।' भामह ३-५। काव्यादर्श २-२७६।

५. 'तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।' भामह ३-५३। काव्यादर्श २-३६४।

६. 'अपार्थं व्यर्थमेकार्थं...विरोधि च।' भामह ४-१, २। काव्यादर्श ३-१२५, १२६।

७. 'समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थकमिष्यते।' भामह ४-८। काव्यादर्श ३-१२८।

८. 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।' भामह २-८७। काव्यादर्श २-२४४।

९. आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।' भामह २-६६। काव्यादर्श २-४।

१०. 'प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।' भामह ३-१। काव्यादर्श २-५।

ये दस उदाहरण ऐसे हैं जो भामहके 'काव्यालङ्कार' और दण्डीके 'काव्यादर्श'में न केवल अर्थतः अपितु शब्दतः भी प्रायः एक रूपमें ही उपलब्ध होते हैं। कहीं बिलकुल नाममात्रका भेद पाया जाता है; जैसे, द्वितीय उदाहरणके अन्तमें 'अपि' शब्दके स्थानपर भामहने 'च यत्' शब्दका प्रयोग किया है। इसी प्रकार तीसरे उदाहरणके अन्तमें 'उदयादयः'के स्थानपर भामहमें 'उदयान्विताः' प्रयोग पाया जाता है। इन नाममात्रके भेदोंके अतिरिक्त ये दसों स्थल भामह और दण्डीमें बिलकुल एक-से पाये जाते हैं।

कुछ स्थल मिलते हैं जिनमें एक-दूसरेके मतकी आलोचना की गयी प्राप्त होती है; जैसे, भामहने काव्यके—

'सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ।।'—१–१८

(१) सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य, (२) अभिनेयार्थ अर्थात् नाटक, (३) आख्यायिका, (४) कथा तथा (५) अनिबद्ध अर्थात् मुक्तक ये काव्यके पाँच भेद किये हैं। इनमें आख्यायिका तथा कथाको काव्यका अलग-अलग भेद माना है। किन्तु दण्डीने अपने 'काव्यादर्श'में इसका खण्डन करते हुए लिखा है—

'तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्वयाङ्किता।'—१–२८

भामहने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधावीके आधारपर उपमाके सात दोष बतलाये हैं। किन्तु दण्डीने इस मतकी आलोचना करते हुए लिखा है—

'न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।।'—२–५१

भामह और दण्डीके ग्रन्थोंमें इस प्रकारके सारूप्य तथा वैरूप्यके उदाहरण बहुत अधिक मात्रामें पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इनमेंसे किसी एकने दूसरेके आधारपर ही अपने ग्रन्थमें उन प्रसङ्गोंका उल्लेख किया है। इसी आधारपर भामह और दण्डीके पौर्वापर्यके विषयमें विद्वानोंमें बड़ा तीव्र वाद-विवाद बहुत दिनोंतक चलता रहा। सबसे पहले एम० टी० नरसिंह अयङ्गर'ने सन् १९०५में 'जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी' (पृ० ३५५)में इस प्रश्नको उठाया और दण्डीको भामहका पूर्ववर्ती सिद्ध करनेका यत्न किया। परन्तु इनके मतका बड़ा विरोध हुआ। डॉ० त्रिवेदीने 'प्रताप-रुद्रयशोभूषण'की भूमिकामें, प्रो० रङ्गाचार्यने 'काव्यादर्शकी' भूमिकामें, गणपति शास्त्रीने 'स्वप्नवासव-

दत्ता'की भूमिकामें और प्रो० पाठकने 'कविराजमार्ग'की भूमिका में दण्डीको भामहके पूर्व ठहरानेवाले नरसिंह आयङ्गरके मतका विस्तारके साथ खण्डन किया। अपने देशमें ही नहीं, डॉ० जैकोबीने भी (जेड० एस० एम० जी०, पृ० १३४-१३९पर) दण्डीको भामहका पूर्ववर्ती बतलानेवाले श्री नरसिंह आयङ्गरके मतका खण्डन किया। इन सब विवादोंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिकांश विद्वान् भामहको ही दण्डीका पूर्ववर्ती माननेके पक्षमें हैं।

भामहको दण्डीका पूर्ववर्ती माननेके विषयमें एक युक्ति और है। दण्डीके 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक एक नवीन ग्रन्थका परिचय अभी हालमें प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थके आरम्भमें जो श्लोक दिये गये हैं उनमें—

'भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः..........॥'

आदि श्लोकमें महाकवि बाणभट्ट तथा मयूरभट्टका उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त दण्डीने अपनेको महाकवि भारविका प्रपौत्र घोषित किया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी महाकवि बाणके बाद हुए हैं। बाणभट्टके 'हर्षचरित'के आधारपर यह निश्चित बात है कि बाणभट्ट हर्षवर्धनकी राजसभामें थे। हर्षवर्धनका राज्यकाल ६०६-६४८ ई० तक माना जाता है। इसलिए बाणभट्टका काल भी सप्तम शताब्दीका मध्यभाग है। उस दशामें दण्डीका समय आठवीं शताब्दीमें होना चाहिये। दण्डी बाणभट्टके बाद हुए हैं और भामह बाणभट्टके पहिले हुए हैं इसलिए भामह दण्डीके निश्चय ही पूर्ववर्ती हैं। इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।

भामह बाणभट्टसे पहिले हुए हैं इस बातकी सिद्धि आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थके आधारपर होती है। 'ध्वन्यालोक'के चतुर्थ उद्योतमें—

'दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥'

यह कारिका आयी है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्यमें पूर्वकवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें भी कवि रसका समावेश करके उनमें नवीनता ला सकता है और वे पुराने अर्थ भी रसके सम्पर्कसे ऐसे ही नवीन प्रतीत होने लगते हैं जैसे वसन्तमें पुराने वृक्ष भी नवीन और आकर्षक हो जाते हैं। इसीका उदाहरण देते हुए आनन्दवर्धनने लिखा है—

'तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकार-समाश्रयेण नवत्वं। यथा—धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः इत्यादौ—

शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।...
...इत्यादिषु सत्स्वपि।'

इसका अभिप्राय यह है कि 'शेषो हिमगिरिः' इत्यादि पूर्ववर्ती श्लोकमें वर्णित पुराने अर्थको ही 'अधुना धरणीधारणाय त्वं शेषः' इस नवीन वाक्यमें कहा गया है, किन्तु उसमें शब्द- शक्त्युत्थ अलङ्कार ध्वनिके सन्निवेशसे विशेष चमत्कार आ जानेसे उसमें नवीनता प्रतीत होने लगी है। इसी प्रकार पूर्वकवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें नवीन चमत्कारका आधान करके उनमें नूतनता उत्पन्न की जा सकती है। इस आशयसे आनन्दवर्धनाचार्यने यहाँ यह उदाहरण दिया है।

इस उदाहरणमें जो दो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। आनन्दवर्धना-

चार्यने 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' इत्यादि श्लोकको पुराना वर्णन माना है और उसी अर्थको नवीन रूपमें प्रस्तुत करनेवाला 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इस वाक्यको नवीन वाक्य माना है। आनन्दवर्धनाचार्य जिस 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च' आदिको पुराना वाक्य कहते हैं वह भामहके 'काव्यालङ्कार'में आया हुआ तीसरे परिच्छेदका २७ वाँ श्लोक है। और 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' रूप जिस वाक्यको वे नवीन वाक्य कहते हैं वह बाणभट्टके 'हर्षचरित'के चतुर्थ उच्छ्वासके १५ वें अनुच्छेदमें आया है। अर्थात् बाणभट्टका यह वाक्य भामहके वाक्यकी अपेक्षा नवीन है। इसका अर्थ हुआ कि भामह बाणभट्टसे बहुत पहिले हुए हैं और दण्डी बाणभट्टके बाद में हुए हैं। इसलिए भामह दण्डीके पूर्ववर्ती हैं इसमें कोई सन्देह रह ही नहीं जाता है।

भामहका धर्म

जिस प्रकार भामहके कालके विषयमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद पाया जाता है उसी प्रकार उनके धर्मके विषयमें भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। भामहके 'काव्यालङ्कार'के प्रथम श्लोकमें—

'प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते ॥'—का० १—१

" 'सार्वसर्वज्ञ'को नमस्कार किया गया है।" 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' इत्यादि 'कमरकोश'के आधारपर कुछ लोगोंने 'सर्वज्ञ' पदको बुद्धका नाम मानकर यह अर्थ लगा लिया है कि इसमें बुद्धको नमस्कार किया गया है इसलिए भामह बौद्ध आचार्य जान पड़ते हैं। परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है। 'कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः' इत्यादि 'अमरकोश'के अनुसार 'सर्वज्ञ' पद शिवके नामोंमें भी पढ़ा गया है। तब उससे शिव अर्थ न लेकर बुद्ध अर्थ ही कैसे लिया जा सकता है? उसके साथमें 'सार्व' पद और है। उसका अर्थ सबके लिए हितकारी है। वह जैसे बुद्धके साथ जुड़ सकता है वैसे ही शिवके साथ भी जुड़ सकता है। इसलिए इस पदके आधारपर भामहको बौद्ध नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत उनके ग्रन्थके भीतर वैदिक प्रक्रियाओं, वैदिक कथाओंका विशेष रूपमें उल्लेख पाया जाता है, बौद्ध कथाओं या बौद्ध प्रक्रियाओं आदिका उल्लेख बिलकुल नहीं पाया जाता है। इसलिए उनको बौद्ध नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार कथाओं आदिके उदाहरणरूपमें 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थके निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे भामहके वैदिक धर्मके प्रति अनुरक्तिकी ही सूचना मिलती है—

'भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
अलङ्करिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा ॥ ४-४८

युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मितसुरिव प्रजाः ॥ २-५५

समग्रगगनायाममानदण्डो रथाङ्गिणः।
पादो जयति सिद्धस्त्रीमुखेन्दुनवदर्पणः ॥ ३-३६

कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
पातां वः शम्भु-शर्वाण्याविति प्राहुर्विसन्ध्यदः ॥ ४-२७

विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ ॥ ४-२१

उदात्तशक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमत् ॥ ३-११

'भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः ।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः ।।' ५-५६

इत्यादि श्लोकोंमें शिव, विष्णु, पार्वती, ब्रह्मा आदि देवताओंका वर्णन और सोमपान आदि याज्ञिक क्रियाओंका उल्लेख वैदिक धर्मके प्रति भामहका स्पष्टरूपसे अनुराग सूचित करता है। रामचन्द्र, भरत, दिलीप, प्रद्युम्न और पुरूरवाका उल्लेख भी वैदिक धर्मके प्रति उनके अगाध प्रेमको ही सूचित करता है। इसमें कहीं भी कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिससे भामहको बौद्ध माननेका सङ्केत मिल सकता हो। अतएव भामहको बौद्ध सिद्ध करनेका प्रयास असङ्गत है।

अपने वंशपरिचयके रूपमें केवल एक पंक्ति भामहके ग्रन्थके अन्तिम भागमें पायी जाती है। उसमें उन्होंने अपने पिताका नाम 'रक्रिलगोमिन' बतलाया है—

अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्यम् ।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिनसूनुनेदम् ।।'

इस श्लोकमें ग्रन्थकारने अपना नाम 'भामह' और अपने पिताका नाम 'रक्रिलगोमिन' बतलाया है। इसके अतिरिक्त इनके जीवनका और कोई परिचय इनके ग्रन्थमें नहीं मिलता है।

भामहके ग्रन्थ

भामहका आज हमें केवल 'काव्यालङ्कार' ही एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध होता है। किन्तु साहित्य-शास्त्रके ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि उन्होंने इस 'काव्यालङ्कार'के अतिरिक्त छन्दः-शास्त्र और अलङ्कारशास्त्रके विषयमें कुछ और ग्रन्थोंकी भी रचना की थी, किन्तु दुर्भाग्यवश वे ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। उन ग्रन्थोंके उद्धरण भामहके नामसे विविध ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए, 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की टीकामें राघवभट्टने—

'क्षेमं सर्वगुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः ।' इति भामहोक्तेः

(अभि० शा०, टीका नि० सा०, पृ० ४) लिखकर भामहके किसी छन्दःशास्त्रविषयक ग्रन्थसे उसके उद्धृत किये जानेकी सूचना दी है। इसी टीकामें दूसरे स्थान (पृ० १०) पर राघवभट्टने उनके किसी अलङ्कारविषयक ग्रन्थसे निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है—

'तल्लक्षणमुक्तं भामहेन—
पर्यायोक्तं प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते ।
वाच्य-वाचकशक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ।। इति ।
उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यं—
यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता ।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ।।'

पर्यायोक्त अलङ्कारके जिस लक्षण और उदाहरणको राघवभट्टने यहाँ भामहके नामसे उद्धृत किया है, उन दोनोंमेंसे कोई भी भामहके वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में नहीं पाया जाता है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में भामहके अनुसार पर्यायोक्त अलङ्कारके लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित प्रकार दिये गये हैं—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा ।।'—का० ३-८

लक्षणका पूर्वार्द्ध भाग तो थोड़े-से अन्तरसे भामहके लक्षणसे मिल जाता है किन्तु उत्तरार्द्ध भागका उल्लेख वर्तमान लक्षणमें नहीं पाया जाता है और हयग्रीववधस्थ उदाहरण तो यहाँ बिलकुल ही नहीं पाया जाता है। उद्भटके 'काव्यालङ्कार'में पर्यायोक्तका यह लक्षण कुछ अन्तरसे मिल जाता है और हयग्रीववधस्थ जिस श्लोकको उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किये जानेकी चर्चा राघवभट्टने की है वह उदाहरण 'काव्यप्रकाश'में पाया जाता है।

ऐसा हो सकता है कि राघवभट्टके पास भामहके 'काव्यालङ्कार'की जो प्रति रही हो उसमें पर्यायोक्तका लक्षण इसी रूपमें दिया गया हो जिस रूपमें उन्होंने उद्धृत किया है और हयग्रीववधस्थ श्लोक भी उदाहरणरूपमें दिया गया हो, किन्तु दूसरी किसी प्रतिमें जिसके आधारपर वर्तमान काव्यालङ्कारका सम्पादन किया गया है, ये दोनों भाग लिखनेसे रह गये हों। लक्षणके विषयमें तो इतना ही भेद है कि राघवभट्टने जो लक्षण उद्धृत किया है वह पूरा एक श्लोक है, किन्तु वर्तमान 'काव्यालङ्कार'में दिया हुआ लक्षण आधे श्लोकमें ही आ गया है। वर्तमान 'काव्यालङ्कार'का लक्षण अपूर्ण-सा भी जान पड़ता है। राघवभट्टने जो लक्षण दिया है वह पूर्ण लक्षण है। इसलिए ऐसा अनुमान होता है कि वर्तमान 'काव्यालङ्कार'की पाण्डलिपिमें लक्षणकी एक पंक्ति लिखनेसे छूट गयी है। इसी प्रकार पर्यायोक्तके अनेक उदाहरण 'काव्यालङ्कार'में पाये जाते हैं। सम्भव है इनके साथ हयग्रीव-वधस्थ एक और भी उदाहरण रहा हो। परन्तु यह बात तभी सम्भव हो सकती है जब 'हयग्रीववध'के प्रणेताका काल भामहके पूर्व निश्चित किया जा सके अन्यथा नहीं। किन्तु यह बात निश्चित है कि केवल इस श्लोकके आधारपर भामहके अलङ्कारविषयक किसी अन्य ग्रन्थकी कल्पना नहीं की जा सकती है। उनका छन्दःशास्त्रविषयक तो दूसरा ग्रन्थ हो सकता है किन्तु अलङ्कारशास्त्रके विषयमें तो 'काव्यालङ्कार'के रहते अन्य दूसरा ग्रन्थ लिखे जानेकी कोई सङ्गति नहीं लगती है।

छन्दःशास्त्रके विषयमें भामहने किसी ग्रन्थकी रचना की थी यह बात अन्य साहित्यग्रन्थोंमें भामहके नामसे उद्धृत किये गये उद्धरणोंसे प्रतीत होती है। उनमेंसे एक उदाहरण तो हम 'अभिज्ञानशाकुन्तल'की राघवभट्टकृत टीकामेंसे ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। उसी प्रकारका दूसरा उद्धरण 'वृत्तरत्नाकर'की टीकामें नारायणभट्टने इस प्रकार दिया है—

'तदुक्तं भामहेन—

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदिवर्णात् धनशता-
न्युवर्णाद् अख्यातिः सरभसमृवर्णाद्धरहितात् ॥
तथा ह्योचः सौख्यं ङ-ञ-णरहितादक्षरगणात्
पदादौ विन्यस्ताद् भ-र-ब-ह्-ल-हाहाविरहितात् ॥'

—वृत्तरत्नाकर, पृ० ६

'तदुक्तं भामहेन—

देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति वियशो ङस्तथा चः सुखं छः
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झ-ञौ ट-ठौ खेददुःखे।
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धं
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदुःखं पवर्गः ॥

यो लक्ष्मीं रश्च दाहं व्यसनमथ ल-वौ शः सुखं षश्च खेदं
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धि करोति ।
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख-मरण-पटुर्वर्णविन्यासयोगः
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ।।'

—वृत्तरत्नाकर, पृ० ७

यद्यपि ये सब उद्धरण बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं फिर भी इनके आधारपर यह सम्भावना मानी जा सकती है कि भामहने सम्भव है छन्दःशास्त्रविषयक कोई अन्य ग्रन्थ लिखा हो।

भामहभट्टके नामसे एक ग्रन्थ और मिलता है और वह है वररुचिके 'प्राकृत-प्रकाश' नामक प्राकृत-व्याकरणग्रन्थकी 'प्राकृतमनोरमा' नामक टीका। प्राकृत-व्याकरणमें इस टीकाका बड़ा महत्त्व माना जाता है। पिशल आदि प्राकृत-व्याकरणके विद्वानोंने 'काव्यालङ्कार' और 'प्राकृतमनोरमा' दोनोंके निर्माता एक ही भामहको माना है। इस प्रकार भामहके १. 'काव्यालङ्कार' तथा २. 'प्राकृतमनोरमा' दो ग्रन्थ तो उपलब्ध होते हैं और तीसरे छन्दःशास्त्रविषयक ग्रन्थकी भी रचना उन्होंने की थी इस बातका अनुमान किया जाता है। 'प्राकृतमनोरमा' 'प्राकृतप्रकाश'की टीका है। 'काव्यालङ्कार' स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें ६ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें ६० श्लोक हैं और उनमें काव्यके शरीरका वर्णन किया गया है; द्वितीय और तृतीय परिच्छेदमें मिलाकर १६० श्लोक हैं। द्वितीय तथा तृतीय दोनों परिच्छेदोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेदमें दोषोंका निरूपण किया है और उसमें ५० श्लोक हैं। पञ्चम परिच्छेदके ७० श्लोकोंमें न्यायनिर्णयका प्रतिपादन किया है और षष्ठ परिच्छेदके ६० श्लोकोंमें शब्दशुद्धिका विवेचन किया गया है। इस प्रकार 'काव्यालङ्कार'में कुल मिलाकर ४०० श्लोक हैं जो ६ परिच्छेदोंमें विभक्त हैं। भामहने स्वयं इस सबका विवरण निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः ।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः ।।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम् ।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैः भामहेन क्रमेण वः ।।'

भामहके टीकाकार

भामहका 'काव्यालङ्कार' अलङ्कारशास्त्रका प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है जिसमें अलङ्कारशास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्रके रूपमें दिखाई पड़ता है। इसके पूर्व भरतके 'नाटचशास्त्र'में नवें अध्यायमें गौणरूपसे काव्यके गुण, दोष, अलङ्कार आदिके लक्षण किये गये थे, किन्तु वे सब 'नाट्यशास्त्र'के अङ्गरूपमें ही थे। स्वतन्त्ररूपमें अलङ्कारशास्त्रको एक अलग शास्त्रका रूप प्रदान करनेवाला भामहका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ ही है। इसके ऊपर नवम शताब्दीमें कश्मीरके राजा जयादित्यकी राजसभाके सभापति उद्भटने 'भामहविवरण' नामसे एक टीका लिखी थी। किन्तु दुर्भाग्यसे वह 'भामहविवरण' आजतक उपलब्ध नहीं हुआ है। केवल साहित्यके विभिन्न ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर उसका उल्लेख पाया जाता है। उद्भटका स्वयं भी एक 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' ग्रन्थ है, जो अब प्रकाशित हो चुका है। उसपर प्रतीहारेन्दुराजने 'लघुविवृति' नामक टीका लिखी है। इस टीकामें प्रतीहारेन्दुराजने इस 'भामहविवरण'का उल्लेख इस प्रकार किया है—

'विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपितः ।' (पृ० १३)

अभिनवगुप्ताचार्यने भी 'ध्वन्यालोकलोचन'में कई जगह भामहके ऊपर 'उद्भट'के विवरणका उल्लेख किया है।

४. दण्डी

भामहके बाद दूसरे आचार्य, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर स्वतन्त्ररूपसे ग्रन्थरचना की, दण्डी हैं। भामह और दण्डीके पौर्वापर्यके निरूपणके प्रसङ्गमें हम पीछे देख चुके हैं कि दण्डीका काल अष्टम शताब्दीमें पड़ता है। दण्डीने अपने 'अवन्तिसुन्दरीकथा'में अपनेको महाकवि भारविका प्रपौत्र बतलाया है और बाण तथा मयूर कविकी प्रशंसा की है। अतएव उनका समय सप्तम शताब्दीमें राजा हर्षवर्धन (राज्यकाल ६०६-६४८ तक) की राजसभामें रहनेवाले बाणभट्टके बाद अर्थात् आठवीं शताब्दीमें है।

दण्डीके ग्रन्थ

'शार्ङ्गधरपद्धति'में श्लोकसंख्या १७४ पर राजशेखरके नामसे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया गया है—

'त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदा त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥'

अर्थात् तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव और तीन गुणोंके समान दण्डी कविके तीन ग्रन्थ सारे संसारमें प्रसिद्ध हैं। इस श्लोक द्वारा राजशेखरने दण्डीके तीन ग्रन्थोंको विश्वविश्रुत बतलाया है। किन्तु अभी कुछ समय पूर्वतक विद्वानोंको दण्डीके तीन ग्रन्थोंके नामोंका भी पता नहीं था। दण्डीके १. 'काव्यादर्श' तथा २. 'दशकुमारचरित' दो ग्रन्थ तो लोकप्रसिद्ध हैं किन्तु इनका तीसरा ग्रन्थ कौन-सा है इसका पता इस २०वीं शताब्दीके आरम्भमें विद्वानोंको नहीं था। डॉ० पिशलने 'मृच्छकटिक'को दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कहनेका साहस कर डाला। 'दशकुमारचरित'की भूमिकामें डॉ० पीटर्सनने तथा डॉ० जैकोबीने 'छन्दोविचिति' नामक ग्रन्थको दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कहा है। किन्तु यह सिद्धान्त भी गलत निकला। उसके बाद कुछ लोगोंने 'कलापरिच्छेद' नामक किसी ग्रंथको दण्डीकी तृतीय रचना माना। परन्तु यह बात भी केवल कल्पनामात्र ही ठहरी। उसमें कोई तत्त्व नहीं निकला। इस प्रकार दण्डीका तीसरा ग्रन्थ कौन-सा है इसके विषयमें विद्वज्जन अभीतक अन्धकारमें थे। 'प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जैक्शन्स ऑव् दि सेकेंड ओरिएण्टल कान्फ्रेंस', पृ० १९८२०१ तथा 'जनरल ऑफ दि मिथिक सोसाइटी' भाग १३, पृ० ६७१-६८५ के अनुसार अभी दक्षिणभारतमें स्थित, मद्रासके हस्तलिखित ग्रन्थोंके राजकीय पुस्तकालयमें 'अवन्तिसुन्दरीकथा' नामक एक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि मिली है। इसके प्रारम्भिक भागके देखनेसे स्पष्टरूपसे विदित होता है कि यह ग्रन्थ दण्डीने लिखा है। इसीमें दण्डीने अपनेको भारविका प्रपौत्र कहा है। इस प्रकार इस 'अवन्तिसुन्दरीकथा'को मिलाकर दण्डीके तीन ग्रन्थ बन जाते हैं।

एक बातको जानकर और आश्चर्य होगा कि अभीतक कुछ लोग ऐसे भी हैं जो 'दशकुमारचरित'के दण्डीकृत होनेमें सन्देह करते हैं। श्री त्रिवेदीने अपने सम्पादित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'की भूमिकामें

तथा श्री आगाशेने 'दशकुमारचरित'की भूमिकामें इस प्रकारका सन्देह प्रदर्शित किया है। श्री आगाशेका कहना यह है कि 'काव्यादर्श'के प्रणेता दण्डी बड़े कठोर आलोचक हैं।

'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥'

—काव्यादर्श १–७

'काव्यादर्श'के इस सिद्धान्तके अनुसार दण्डी काव्यमें एक तनिक-से भी दूषणको सहन नहीं करते हैं। सुन्दर चेहरेपर यदि एक भी कोढ़का दाग हो जाय तो जैसे मुखका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सुन्दर काव्यमें एक भी दोष आ जानेपर काव्यका सारा सौन्दर्य जाता रहता है। इसलिए काव्यमें एक भी दोषकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह दण्डीका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके आधार-पर आगाशे महोदयका कहना है कि "दशकुमारचरित', जिसमें कि सैकड़ों दोष पाये जाते हैं, किसी भी अवस्थामें दण्डीकी रचना नहीं हो सकता है।

ग्राम्यत्व दोषके विवेचनमें दण्डीने—

'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते॥'

—काव्यादर्श १–६३

'हे कन्ये, मैं तुमको चाहता हूँ फिर तुम मुझको क्यों नहीं चाहती हो' इस बातको भी दण्डीने ग्राम्य दोषका उदाहरण माना है और इस प्रकारकी उक्तिको भी वैरस्यापादक माना है। परन्तु 'दशकुमार-चरित'में इससे भी कहीं अधिक ग्राम्यताके उदाहरण पाये जाते हैं। इससे भी आगाशे महोदयने अपने इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेका यत्न किया है कि 'दशकुमारचरित' दण्डीकी रचना नहीं है।

परन्तु इस बातको लिखते समय आगाशे महोदयने सिद्धान्त और व्यवहारके सार्वत्रिक भेदकी ओर ध्यान नहीं दिया है। सिद्धान्त और व्यवहारका यह भेद तो सब जगह पाया जाता है। सिद्धान्त या लक्ष्यबिन्दु तो सदा ऊँचा होता है और रखना भी चाहिये। किन्तु व्यवहारमें उसका उतना शुद्धरूपमें पालन लगभग असम्भव है। इसलिए यदि दण्डीके सिद्धान्त और व्यवहारमें अन्तर पाया जाता है तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। दण्डी ही क्यों, कोई भी महाकवि आजतक ऐसे निर्दोष काव्यकी रचना नहीं कर सका है जिसके ऊपर अँगुली न उठायी जा सके। कोई भी कवि या कोई व्यक्ति किसी भी कार्यको करे, सिद्धान्ततः यही चाहता है कि उसके कार्यमें कोई कमी न रहने पाये, कोई दोष न निकाल सके, परन्तु फिर भी मनुष्यके प्रत्येक काममें कोई-न कोई दोष रह ही जाता है। व्यक्तिविवेककारने लिखा है—

'स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम्।
वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्॥'

वैद्य स्वयं अपथ्यका सेवन करते हुए भी दूसरोंको अपथ्यका निषेध करता है। दण्डीने जो 'काव्यादर्श'में तनिक-से भी काव्यदोषकी उपेक्षा न करनेकी बात लिखी है वह सब वैद्यके अपथ्यसेवनके निषेधक आदेशके समान है और 'कन्ये कामयमानं मां' आदि श्लोकमें तो दण्डीने यही दिखलाया है कि बातको इस प्रकार

नग्न रूपमें कहना सहृदयोंके लिए रुचिकर नहीं होता है। उसी बातको यदि थोड़ी-सी शैली बदलकर यों कह दिया जाय कि--

'कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः॥'

--काव्यादर्श १-६४

तो यह अर्थ ग्राम्यता दोषसे रहित और रसावह हो जाता है। इसलिए 'दशकुमारचरित'में दोषोंके विद्यमान होनेसे आगाशे महोदयने जो यह परिणाम निकाला है कि वह दण्डीकी रचना नहीं है वह अनुचित और असङ्गत है। दूसरी बात यह भी है कि 'दशकुमारचरित' दण्डीकी अप्रौढ़ावस्थाकी रचना है इसलिए उसमें दोषोंका होना स्वाभाविक है।

आगाशे महोदयने 'दशकुमारचरित'को दण्डीकी रचना न माननेका दूसरा कारण यह बतलाया है कि 'दशकुमारचरित'की रचनाशैली बड़ी क्लिष्ट और समासबहुल है, जब कि 'काव्यादर्श'की रचनाशैली बड़ी सरल समासरहित प्रसादगुणयुक्त है। इसलिए भी इन दोनोंका रचयिता एक नहीं हो सकता है। किन्तु वह हास्यास्पद-सी बात है। 'दशकुमारचरित' गद्यग्रन्थ है। उसमें समासबाहुल्य गुण है, दोष नहीं। स्वयं 'काव्यादर्श'में दण्डीने इस बातका समर्थन करते हुए लिखा है--

'ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥'

--काव्यादर्श १--८०

अर्थात् समासबाहुल्यात्मक ओज गुण ही तो गद्यकी जान है और दाक्षिणात्य लोगोंको छोड़कर अन्य लोग तो पद्यमें भी समासबाहुल्यका प्रयोग पसन्द करते हैं। इसलिए गद्यात्मक 'दशकुमारचरित'में भी समास-बाहुल्य पाया जाता है और वह उसमें सौन्दर्यका आधान कर रहा है। 'काव्यादर्श' तो गद्य-ग्रन्थ नहीं है; पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसलिए उसमें समासका न होना या कम होना स्वाभाविक है। फिर 'काव्यादर्श'में समासभूयस्त्व नहीं है यह बात नहीं है।

'पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसन्ध्यातपांशुका।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति॥'

--काव्यादर्श १--८४

इस पद्यमें पूर्वार्द्धभाग साराका सारा मिलकर एक समस्तपद है। इसलिए 'दशकुमारचरित'के समासबाहुल्यके आधारपर उसको दण्डीकी रचना न माननेका आगाशे महोदयका विचार किसी रूपमें भी ग्राह्य नहीं हो सकता है।

एक बात और है, संस्कृत साहित्यमें दण्डी एक महाकविके रूपमें प्रसिद्ध हैं।

'जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥'

इस श्लोकमें तो वाल्मीकि तथा व्यासके बाद तीसरे नम्बरपर दण्डी कविको ही रखा गया है। सबसे पहिले जब वाल्मीकि इस जगत्में आये तो उनके लिए एकवचन 'कवि' शब्दका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। उस समय कोई दूसरा कवि नहीं कहलाता था। उसके बाद व्यासके आनेपर 'कवी' यह द्विवचनमें

कवि शब्दका प्रयोग होने लगा, क्योंकि अब वाल्मीकि और व्यास दो कवि हो गये। किन्तु अभीतक 'कवयः' इस बहुवचनमें कवि शब्दके प्रयोगका अवसर नहीं आया। कवि शब्दका बहुवचनमें 'कवयः' प्रयोग दण्डीके बाद होना प्रारम्भ हुआ। यह तो कविकी प्रशंसापरक अतिशयोक्ति है। किन्तु इसका भाव इतना ही है कि दण्डी एक महाकविके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उनकी यह प्रसिद्धि मुख्यरूपसे 'दशकुमारचरित'के आधारपर ही है। 'काव्यादर्श'के आधारपर कवित्वकी प्रसिद्धि नहीं है। यदि उस 'दशकुमारचरित'को उनकी रचनाओंमेंसे निकाल दिया जाय तो फिर उनकी इस प्रसिद्धिका आधार ही क्या रह जाता है। इसी प्रकार--

'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥'

इस प्रसिद्ध लोकोक्तिमें दण्डी अपने 'दशकुमारचरित'के पदलालित्यके आधारपर ही स्थान पा सके हैं। इसलिए 'दशकुमारचरित' दण्डीकी रचना नहीं है, आगाशे महोदयका यह कथन सर्वथा असङ्गत है। पता नहीं उन्होंने इस प्रकारकी असङ्गत बात लिखनेका साहस कैसे किया।

'काव्यादर्श'

दण्डीके तीन ग्रन्थोंमेंसे अलङ्कारशास्त्रसे सम्बद्ध ग्रन्थ 'काव्यादर्श' ही है। भारतमें इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। सबसे पहिला संस्करण सन् १८६३ में कलकत्तासे प्रकाशित हुआ था। उसमें प्रेमचन्द्र तर्कवागीशकी टीका भी साथमें मुद्रित थी। उसके बाद सन् १६१० में प्रो० रङ्गाचार्य द्वारा सम्पादित एक 'तरुण वाचस्पति'-कृत टीका तथा दूसरी 'हृदयङ्गमा' टीका जिसके निर्माताके नामका पता नहीं है, इन दो टीकाओं सहित एक संस्करण मद्राससे प्रकाशित हुआ। उसके बाद पूनासे डॉ० बेलवलकर और शास्त्री रङ्गाचार्य रेड्डी द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। 'काव्यादर्श'में सामान्यतः तीन परिच्छेद हैं। किन्तु मद्राससे प्रकाशित रङ्गाचार्यवाले संस्करणमें चार परिच्छेद रखे गये थे। अन्य संस्करणोंमें जिसको तृतीय परिच्छेदके रूपमें दिया गया है उसको रङ्गाचार्यवाले संस्करणमें दो भागोंमें विभक्त कर दिया गया था। उसमें दोषोंके निरूपणसे चतुर्थ परिच्छेदका आरम्भ किया गया था। कलकत्ता और मद्रासवाले संस्करणोंमें दूसरा अन्तर यह भी था कि कलकत्तावाले संस्करणमें कुल श्लोकोंकी संख्या ६६० थी और मद्रासवाले संस्करणमें वह संख्या ६६३ थी। यह तीन संख्याओंका अन्तर इस प्रकार है कि दो श्लोक तो तृतीय परिच्छेदके अन्तमें अधिक पाये जाते हैं और एक श्लोक चतुर्थ परिच्छेदके आरम्भमें अधिक पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कलकत्तावाले संस्करणके तृतीय परिच्छेदके १६० वें श्लोकके बाद--

'आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्॥'

यह एक चौथा श्लोक मद्रास संस्करणमें अधिक पाया जाता है। इस प्रकार मद्रास संस्करणमें चार श्लोक अधिक हो जाते हैं। किन्तु इसके साथ ही २ य परिच्छेदका 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'वाला प्रसिद्ध श्लोक मद्रासवाले संस्करणमें नहीं पाया जाता है। इसलिए इन दोनों संस्करणोंमें तीन श्लोकोंका ही अन्तर रह जाता है। कलकत्तावाले संस्करणमें कुल ६६० श्लोक थे और मद्रासवाले संस्करणमें ६६३ श्लोक थे।

'काव्यादर्श'के प्रथम परिच्छेदमें काव्यका लक्षण, उसके गद्य, पद्य और मिश्रकाव्यरूप तीन भेद,

सर्गबन्ध महाकाव्यका लक्षण देनेके बाद गद्यकाव्यके कथा तथा आख्यायिकारूप भामहाभिमत दो भेदोंका उल्लेख कर फिर उसका खण्डन कर दिया है। उन्होंने कथा और आख्यायिकाको एक ही जाति माना है। उसके बाद साहित्यका भाषाके आधारपर १. संस्कृत, २. प्राकृत, ३. अपभ्रंश तथा ४. मिश्ररूपसे चार भागोंमें विभाजन किया है। उसके बाद काव्यके दस गुणोंके लिए 'वैदर्भ' तथा 'गौड' दो मार्गोंका उल्लेख कर उसी प्रसङ्गमें अनुप्रासका लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। इसके बाद उत्तम कवि बननेके लिए आवश्यक १. प्रतिभा २. श्रुत तथा ३. अभियोग इन तीन गुणोंका वर्णन किया है।

द्वितीय परिच्छेदमें अलङ्कारका सामान्य लक्षण करनेके बाद ३५ अलङ्कारोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। वे ३५ अलङ्कार, जिनका वर्णन दण्डीने द्वितीय परिच्छेदमें किया है, क्रमशः निम्नलिखित प्रकार हैं—

१. स्वभावोक्ति, २. उपमा, ३. रूपक, ४. दीपक, ५. आवृत्ति, ६. आक्षेप, ७. अर्थान्तरन्यास, ८. व्यतिरेक, ९. विभावना, १०. समासोक्ति, ११. अतिशयोक्ति, १२. उत्प्रेक्षा, १३. हेतु, १४. सूक्ष्म, १५. लेश (या लव), १६. यथासंख्य (या क्रम), १७. प्रेय, १८. रसवत्, १९. ऊर्जस्वि, २०, पर्यायोक्त, २१. समाहित, २२. उदात्त, २३. अपह्नुति, २४. श्लेष, २५. विशेषोक्ति, २६. तुल्ययोगिता, २७. विरोध, २८. अप्रस्तुतप्रशंसा, २९. व्याजोक्ति, ३०. निदर्शना, ३१. सहोक्ति, ३२. परिवृत्ति, ३३. आशीः, ३४. संसृष्ट और ३५. भाविक।

'काव्यादर्श'के तृतीय परिच्छेदमें ग्रन्थकारने 'यमक'का विस्तारके साथ वर्णन किया है और चित्रबन्धके गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरस्थानवर्णनियम आदि भेदोंका तथा प्रहेलिकाके दस भेदोंका वर्णन करनेके बाद दस प्रकारके काव्यदोषोंका वर्णन किया है। मद्रासवाले संस्करणमें इन दोषोंके विवेचनको चतुर्थ परिच्छेदमें दिखलाया गया है।

दण्डीका प्रभाव और उनके टीकाकार

यद्यपि अलङ्कारशास्त्रके आद्य आचार्य भामह हैं और दण्डी उनके बाद हुए हैं, किन्तु अपनी रचनाके द्वारा दण्डीने भामहकी अपेक्षा कहीं अधिक ख्याति प्राप्त की है। भामहका मूलग्रन्थ ही बड़ी कठिनाईसे मिल सका। उसपर 'भामहविवरण' नामक एक ही टीका लिखी गयी, वह भी मिलती नहीं। किन्तु दण्डीके 'काव्यादर्श'की स्थिति इससे बिलकुल भिन्न है। इसके ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। एक प्रेमचन्द्र तर्कवागीशवाली टीका जो कलकत्तासे प्रकाशित हुई थी और तरुण वाचस्पतिकृत टीका तथा 'हृदयङ्गमा' टीका, जिसके लेखकके नामका पता नहीं है, दो टीकाएँ मद्राससे प्रकाशित हुई थीं। इन तीनों टीकाओंकी चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त ४. महामहोपाध्याय हरिनाथकृत 'मार्जन' नामक टीका (विक्रम संवत् १७४६ में इसकी प्रतिलिपि की गयी थी), ५. कृष्णकिङ्कर तर्कवागीशविरचित 'काव्यतत्त्वविवेचनकौमुदी' नामक टीका, ६. वादिङ्घलविरचित 'श्रुतानुपालिनी' टीका, ७. जगन्नाथके पुत्र मल्लिनाथकृत 'वैमल्यविधायिनी' आदि अनेक टीकाओंका उल्लेख मिलता है। इतनी अधिक टीकाएँ 'काव्यादर्श'पर लिखी गयी हैं इससे 'काव्यादर्श'की लोकप्रियता तथा विद्वानोंमें उसके विशेष आदरका परिचय मिलता है।

न केवल टीकाग्रन्थोंके द्वारा ही, अपितु अन्य भाषाओंमें अनुवाद आदिके द्वारा भी 'काव्यादर्श'ने विशेष सम्मान प्राप्त किया है। सिंहली भाषामें 'सिय-बस-लकर' नामका अलङ्कारशास्त्रका सर्वमान्य ग्रन्थ है। 'सिय-बस-लकर'का अर्थ होता है 'स्व-भाषा-अलङ्कार'। इस ग्रन्थकी रचना 'काव्यादर्श'के

आधारपर ही हुई है। इसी प्रकार कन्नड़ भाषाका अलङ्कारशास्त्रविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' भी दण्डीके 'काव्यादर्श'के आधारपर ही लिखा गया है। अधिकांशमें उसका अनुवाद ही कहा जा सकता है।

सिंहल और कन्नड़ भाषाके अलङ्कारशास्त्रविषयक ग्रन्थोंपर इतना व्यापक प्रभाव देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी स्वयं दक्षिणभारतके ही रहनेवाले थे। 'काव्यादर्श'के 'पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्' आदि (१-८०) श्लोकको हम ऊपर दे चुके हैं। उसमें एक ध्वनि यह निकलती है कि दाक्षिणात्य लोग तो पद्यमें समासभूयस्त्वका प्रयोग नहीं करते हैं किन्तु दाक्षिणात्योंको छोड़कर अन्य लोगोंके लिए पद्यमें भी सौन्दर्य लानेका केवल यही एक मार्ग रह जाता है। इससे दाक्षिणात्योंके प्रति कुछ गौरवभावना व्यक्त होती है। इससे भी यह अनुमान होता है कि वे दाक्षिणात्य रहे होंगे। इसके अतिरिक्त कर्णाटककी रहनेवाली कवयित्री विज्जिका या विजयाङ्काके द्वारा दण्डीका विशेषरूपसे उल्लेख भी उनके दाक्षिणात्य होनेका सङ्केत करता है। जल्हणकी 'सूक्तिमुक्तावली'में तथा 'शार्ङ्गधरपद्धति'में १८४ श्लोकसंख्यापर राजशेखरके नामसे निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया गया है—

'सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्॥'

—शा० प० १८४

इसमें कर्णाटकनिवासिनी 'विजयाङ्का' कवयित्रीकी प्रशंसा की गयी है उ[illegible]तीके समान कहा गया है और वैदर्भमार्गकी रचनामें कालिदासके समान ठहराया गया है। [illegible]वजयाङ्का' या 'विज्जिका'के नामसे 'शार्ङ्गधरपद्धति'में श्लोकसंख्या १८० पर निम्निलिखित पद्य दिया गया है—

'नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती॥'

—शा० प० १८०।

'सर्वशुक्ला सरस्वती' 'काव्यादर्श'के प्रथम श्लोकका अन्तिम चरण है। इसमें सरस्वतीको 'सर्वशुक्ला' कहा है। कार्णाटी विजयाङ्का या विज्जिकाको भी लोग साक्षात् सरस्वती कहते थे। और वह स्वयं भी अपनेको सरस्वतीसे कम नहीं समझती थी। किन्तु कार्णाटी होनेके कारण वह 'नीलोत्पलदलश्यामा' थी। इसीलिए उसने अपनी प्रशंसाके रूपमें कहा है कि सरस्वती श्याम भी हो सकती हैं, क्योंकि मैं श्यामवर्ण हूँ। दण्डीने जो सरस्वतीको 'सर्वशुक्ला सरस्वती' कहा है वह ठीक नहीं है।

दण्डीके 'काव्यादर्श'का भारतके दक्षिणी भागमें विशेष प्रभाव होने, कार्णाटी 'विजयाङ्का'के द्वारा उनका उल्लेख करने और स्वयं दण्डीके द्वारा दाक्षिणात्योंकी प्रशंसा ध्वनित करनेसे यह अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी कदाचित् दाक्षिणात्य ही रहे होंगे।

५. भट्टोद्भट

दण्डीके बाद अगले आचार्य भट्टोद्भट हैं जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रके ऊपर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भट्ट उद्भट, जैसा कि उनके नामसे विदित होता है, कश्मीरी ब्राह्मण थे। वे कश्मीरके राजा

जयादित्यकी राजसभाके पण्डित नहीं, अपितु सभापति थे। उन्हें राज्यकी ओरसे प्रतिदिन एक लाख दीनार वेतनरूपमें मिलता था। कल्हणकी 'राजतरङ्गिणी'में उनका वर्णन करते हुए लिखा है—

'विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः' ॥ ४-४९५

कश्मीरमें महाराज जयापीडका शासनकाल ७७९ ई० से लेकर ८१३ ई० तक माना जाता है। इसलिए उद्भटका समय भी आठवीं शताब्दीका अन्तिम तथा नवम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग पड़ता है।

दण्डीके समान उद्भटने भी साहित्यशास्त्रके सम्बन्धमें तीन ग्रन्थ लिखे। उनके एक ग्रन्थ 'भामहविवरण'का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यह ग्रन्थ भामहके 'काव्यालङ्कार'की व्याख्याके रूपमें लिखा गया था, किन्तु आजकल उपलब्ध नहीं होता है। अनेक साहित्यग्रन्थोंमें उसका उल्लेख आदरपूर्वक किया जाता है। उनके शेष दो ग्रन्थोंमें एक 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' और दूसरा 'कुमारसम्भव' काव्य है। इनमेंसे केवल 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' प्राप्त होता है। 'कुमारसम्भव काव्य' भी नहीं मिलता है। किन्तु उसके अनेक श्लोक 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'में उदाहरणरूपमें उद्धृत पाये जाते हैं। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'में उद्भटने जितने भी उदाहरण दिये हैं वे सब अपने बनाये हुए इस 'कुमारसम्भव' काव्यसे ही दिये हैं। महाकवि कालिदासका भी 'कुमारसम्भव' नामक एक काव्य है किन्तु उद्भटका 'कुमारसम्भव' काव्य उससे बिलकुल भिन्न है। यद्यपि दोनों काव्योंकी रचना एक ही कथानकको आधार मानकर की गयी है, किन्तु रामचरितको लेकर बनाये गये अनेक काव्यों और नाटकोंके समान ये दोनों काव्य बिलकुल अलग हैं। फिर भी उन दोनोंके कुछ श्लोकोंकी तुलना मनोरञ्जक होगी। 'कुमारसम्भव'के कथानकके अनुसार पार्वतीजी जब शिवकी प्राप्तिके लिए तपस्या कर रही थीं तब उनकी परीक्षा लेनेके लिए शिवजी ब्रह्मचारीका वेश बनाकर पार्वतीके पास जाते हैं। उस समय पार्वतीकी तपस्या तथा शिवके जानेका वर्णन दोनों महाकवियोंने बड़े सुन्दर रूपमें किया है। उस प्रसङ्गके दो-तीन श्लोक दोनों कवियोंके हम नीचे दे रहे हैं—

उद्भटका श्लोक—'प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य बाटवीम् ॥' २-१०

कालिदासका श्लोक—'विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥' ५-३०

उद्भटका श्लोक—'अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
असम्भाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः ॥'

कालिदासका श्लोक—'इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥' ५–२

उद्भटका श्लोक—'शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम्।
समुद्वहन्तीं नापूर्वं गर्वमन्यतपस्विवत् ॥' २–१

कालिदासका श्लोक--'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः ।।' ५-२८

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'

भट्ट उद्भटका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' है। यह ग्रन्थ ६ वर्गोंमें विभक्त है। इसमें कुल मिलाकर ७९ कारिकाएँ हैं और उनमें ४१ अलङ्कारोंके लक्षण आदि दिये गये हैं। ६ वर्गोंमें उन ४१ अलङ्कारोंका विभाजन निम्नलिखित प्रकार किया गया है--

प्रथम वर्ग--१. पुनरुक्तवदाभास, २. छेकानुप्रास, ३. त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला वृत्ति), ४. लाटानुप्रास, ५. रूपक, ६ उपमा, ७. त्रिविध दीपक (आदिदीपक, मध्यदीपक, अन्तदीपक), ८. प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग--१. आक्षेप, २. अर्थान्तरन्यास, ३. व्यतिरेक, ४. विभावना, ५. समासोक्ति, ६. अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग--१. यथासंख्य, २. उत्प्रेक्षा, ३. स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग--१. प्रेय, २. रसवत्, ३. ऊर्जस्विन्, ४. पर्यायोक्त, ५. समाहित।

पञ्चम वर्ग--१. अपह्नुति, २. विशेषोक्ति, ३. विरोध, ४. तुल्ययोगिता, ५. अप्रस्तुतप्रशंसा, ६. व्याजस्तुति, ७. निदर्शना, ८. उपमेयोपमा, ९. सहोक्ति, १०. सङ्कर (चतुर्विध), ११. परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग--१. अनन्वय, २. ससन्देह, ३. संसृष्टि, ४. भाविक, ५. काव्यलिङ्ग, ६. दृष्टान्त।

इन सब अलङ्कारोंका वर्णन ७९ कारिकाओंमें किया गया है और उनके उदाहरणरूपमें लगभग १०० श्लोक ग्रन्थकारने अपने 'कुमारसम्भव काव्य'मेंसे उद्धृत किये हैं।

इन ४१ अलङ्कारोंमेंसे १. पुनरुक्तवदाभास, २. काव्यलिङ्ग, ३. छेकानुप्रास, ४. दृष्टान्त और ५. सङ्कर ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जो भामहके 'काव्यालङ्कार'में नहीं पाये जाते हैं। किन्तु उद्भटने एक रूपमें उनकी स्थापना की है। ये पाँचों अलङ्कार दण्डीके 'काव्यादर्श'में भी नहीं पाये जाते हैं।

१. उत्प्रेक्षावयव, २. उपमारूपक और ३. यमक ये तीन अलङ्कार ऐसे हैं जो भामहने और दण्डीने उत्प्रेक्षाके अन्तर्गत माने हैं किन्तु उद्भटने उनको नहीं माना है।

१. लेश, २. सूक्ष्म तथा ३. हेतु ये तीन अलङ्कार दण्डीने माने हैं। भामहने उनका निषेध किया है। भामहके समान उद्भट भी इन तीनों अलङ्कारोंको नहीं मानते हैं, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थमें इन तीनों अलङ्कारोंकी कोई चर्चा नहीं की है। १. रसवत्, २. प्रेय, ३. ऊर्जस्वि, ४. समाहित और ५. श्लिष्ट ये पाँच अलङ्कार ऐसे हैं जिनका वर्णन तो भामह और दण्डीने किया है, किन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अस्पष्ट हैं। उद्भटने उनके लक्षण बहुत स्पष्टरूपसे प्रस्तुत कर दिये हैं। इस प्रकार पुनरुक्तवदाभासादि पाँच अलङ्कारोंकी स्थापना तथा रसवत् आदि पाँच अलङ्कारोंके लक्षणोंका स्पष्टीकरण साहित्यशास्त्रको उद्भटकी अपनी विशेष देन है।

उद्भटके टीकाकार

उद्भटके 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर दो टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। एक टीकाके लेखक प्रतीहारेन्दुराज हैं और दूसरीके निर्माता राजानक तिलक हैं। प्रतीहारेन्दुराज कोंकण देशके निवासी तथा 'अभिधावृत्तिमातृका'के निर्माता मुकुलभट्टके शिष्य थे। इनका समय दशम शताब्दीके प्रारम्भमें माना जाता है। 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर इनकी 'लघुविवृति' नामकी टीका है। उस टीकामें

इन्होंने अपने गुरु मुकुलभट्टकी बड़ी प्रशंसा की है। उन्हींसे पढ़कर इन्होंने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'की यह टीका लिखी है—

'विद्वदग्र्यान्मुकुलकादधिगम्य विविच्यते ।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसंग्रहः ॥'

यह 'लघुविवृति' टीका निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे काव्यमाला तथा बाम्बे संस्कृत सिरीजके अन्तर्गत प्रकाशित हो चुकी है।

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह'पर 'विवृति' नामकी एक और टीका 'गायकवाड ओरिएण्टल सिरीज' बड़ौदासे प्रकाशित हुई है। इसके रचयिताका नाम तो उसपर नहीं दिया गया है, किन्तु उसके सम्पादक महोदयका विचार है कि इस टीकाके निर्माता कश्मीर-निवासी राजानक तिलक प्रतीत होते हैं। राजानक तिलकने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' पर 'उद्भटविवेक' नामसे कोई टीका लिखी थी इस बातका उल्लेख 'अलङ्कारसर्वस्व'की जयरथ-विरचित 'विमर्शिनी' टीकामें पाया जाता है। किन्तु उसकी अन्यत्र कहीं उपलब्धि नहीं हुई है। इसलिए यह अनुमान किया गया है कि यही ग्रन्थ राजानक तिलक द्वारा लिखा गया होगा। यह ग्रन्थ प्रतीहारेन्दुराजकी 'लघुविवृति'के बाद लिखा गया है, क्योंकि उसमें प्रतीहारेन्दुराजकी व्याख्याकी आलोचना भी पायी जाती है।

उद्भटके 'भामहविवरण', 'कुमारसम्भव' तथा 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख तो ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भरत-नाटचशास्त्रके टीकाकारके रूपमें भी इनका उल्लेख पाया जाता है। शार्ङ्गदेवने अपने 'सङ्गीतरत्नाकर'में 'नाटचशास्त्र'के व्याख्याताओंकी सूची निम्नलिखित प्रकार दी है—

व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः ।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ॥'

'भामहविवरण'के समान 'नाटचशास्त्र'पर इनकी लिखी टीका भी उपलब्ध नहीं होती है।

६. वामन

अलङ्कारशास्त्रके आचार्योंमें उद्भटके बाद वामनका स्थान आता है। साहित्यशास्त्रके इतिहासमें वामनका स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये रीतिसम्प्रदाय नामसे प्रसिद्ध साहित्यशास्त्रके एक प्रमुख सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर इन्होंने रीतिको काव्यका आत्मा माना है। इस सिद्धान्तके कारण इनका साहित्यशास्त्रके इतिहासमें विशेष महत्त्व माना गया है। उद्भटके समान वामन भी कश्मीरके निवासी उद्भटके समकालीन और सहयोगी थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उद्भट कश्मीरराज जयादित्यकी राजसभाके सभापति थे। आचार्य वामन उन्हीं जयादित्यके मन्त्री थे। राजतरङ्गिणी'में जहाँ उद्भटके सभापति होनेकी बात लिखी है वहीं वामनके जयादित्यके मन्त्री होनेकी बात भी इस प्रकार लिखी है—

'मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥'

—राजतरङ्गिणी ४-४९७

जयादित्यका राज्यकाल ७७९से ८१३ ई० तक माना जाता है। अतएव इनका समय आठवीं शताब्दीके अन्तमें और नवम शताब्दीके आरम्भमें पड़ता है।

वामनका एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है। अलङ्कारशास्त्रपर यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो सूत्रशैलीमें लिखा गया है। यह ग्रन्थ पाँच अधिकरणोंमें विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायोंमें विभक्त किया गया है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थमें बारह अध्याय हैं। इन बारहों अध्यायोंमें मिलाकर सूत्रोंकी संख्या ३१२ है। ग्रन्थके प्रथम अधिकरणमें काव्यके प्रयोजन, अधिकारीका वर्णन करके रीतिको काव्यका आत्मा सिद्ध किया है। रीतिको काव्यका आत्मा बतलानेवाले प्रसिद्ध सिद्धान्तका निरूपणकर, फिर रीतिके तीन भेद तथा काव्यके अनेक प्रकारका वर्णन किया गया है। इस अधिकरणका नाम 'शरीराधिकरण' है और उसमें तीन अध्याय हैं। द्वितीयाधिकरणका नाम 'दोषदर्शनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं जिनमें काव्यके दोषोंका विवेचन किया गया है। तीसरे अधिकरणका नाम 'गुणविवेचनाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं, जिनमें काव्यके गुणोंका विवेचन किया गया है। इसमें ग्रन्थकारने गुण तथा अलङ्कारोंका भेद भी दिखलाया है। "काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" (३-१-१), "तदतिशय-हेतवस्त्वलङ्काराः" (३-१-२), इन सूत्रोंमें गुण तथा अलङ्कारके भेदनिरूपणसे ही इस अधिकरणका आरम्भ हुआ है। किन्तु उत्तरवर्ती मम्मटादि आचार्योंने वामनके इस मतकी बड़ी कटु आलोचना की है। वामनको गुण तथा अलङ्कारका यह भेद दिखलानेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इनके पूर्ववर्ती उद्भटने काव्यमें गुण तथा अलङ्कारोंका भेद नहीं माना था। उद्भटका कहना था कि लोकमें तो शौर्यादि गुणों तथा हारादि अलङ्कारोंमें यह भेद किया जा सकता है कि शौर्यादि गुण आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहते हैं और हारादि अलङ्कार संयोगसम्बन्धसे शरीरमें रहते हैं, इसलिए वे दोनों भिन्न हैं। किन्तु काव्यमें तो ओज आदि गुण तथा उपमादि अलङ्कार दोनों समवायसम्बन्धसे ही रहते हैं इसलिए उनमें कोई भेद नहीं है। उद्भटके इस मतका खण्डन करनेके लिए वामनको गुण-निरूपण करनेवाले तृतीय अधिकरणके आरम्भमें ही गुण तथा अलङ्कारोंका यह भेद करना पड़ा।

चतुर्थ अधिकरणका नाम 'आलङ्कारिक अधिकरण' है। इसमें तीन अध्याय हैं। पाँचवें अधिकरणका नाम 'प्रायोगिकाधिकरण' है। इसमें दो अध्याय हैं और शब्दप्रयोगके विषयमें विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थके तीन भाग हैं—१. सूत्र, २. वृत्ति तथा ३. उदाहरण। सूत्र और वृत्ति दोनों भागोंकी रचना वामनने स्वयं की है।

'प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।'

अर्थात् वामनने अपने काव्यालङ्कारसूत्रोंके ऊपर 'कविप्रिया' नामकी वृत्ति स्वयं ही लिखी है। इस प्रकार सूत्र तथा वृत्ति दो भागोंकी रचना तो स्वयं वामनने की है। किन्तु उदाहरणरूप तीसरे भागमें उन्होंने कुछ उदाहरण अपने भी दिये हैं और अधिकांश उदाहरण दूसरोंके ग्रन्थोंसे लिये हैं। चतुर्थ अधिकरणके अन्तमें उन्होंने स्वयं लिखा है—

'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः।'

अन्य जिन ग्रन्थोंसे उदाहरण लेकर वामनने अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किये हैं उनमें 'अमरुकशतक', 'उत्तररामचरित', 'कादम्बरी', 'किरातार्जुनीय', 'कुमारसम्भव', 'मालतीमाधव', 'मृच्छकटिक', 'मेघदूत',

'रघुवंश', 'विक्रमोर्वशीय', 'वेणीसंहार', 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'शिशुपालवध', 'हर्षचरित' आदिके नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

'काव्यालङ्कारसूत्र' वामनका एकमात्र ग्रन्थ है किन्तु बीचमें वह भी लुप्त हो गया था। प्रतीहारेन्दुराजके गुरु मुकुलभट्टको कहींसे उसकी एक आदर्श प्रति मिली, उसके आधारपर इसका फिर प्रसार और प्रचार हो सका है। इस बातका उल्लेख 'काव्यालङ्कार'के टीकाकार सहदेवने निम्नलिखित प्रकार किया है—

'वेदिता सर्वशास्त्राणां भट्टोऽभून्मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नायं समुद्धृतम्॥
काव्यालङ्कारशास्त्रं यत् तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित्॥'

६. रुद्रट

वामनके बाद अगले आचार्य रुद्रट हैं। ये साहित्यशास्त्रके इतिहासमें एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इनका दूसरा नाम शतानन्द था। किन्तु वह नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। इनकी प्रसिद्धि रुद्रट नामसे ही है। इनके पिताका नाम वामुकभट्ट था। नामसे प्रतीत होता है कि ये भी कश्मीरी थे। अपने वंशके परिचयरूपमें इनके एक श्लोकको टीकाकारने विशेषरूपसे निम्नलिखित प्रकार उल्लिखित किया है—

'अत्र च चक्रे स्वनामाङ्कभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा—
शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्॥'

—काव्यालङ्कार ५। १२-१४ की टीका

इनके मतका उल्लेख धनिक, मम्मट, प्रतीहारेन्दुराज, राजशेखर आदि अनेक आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें किया है। किन्तु इनमें सबसे पूर्ववर्ती उल्लेख राजशेखर द्वारा किया गया है। राजशेखरने 'काव्यमीमांसा'में 'काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमिति रुद्रटः' (काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृष्ठ ३१) लिखकर रुद्रटके मतका उल्लेख किया है। राजशेखरका काल ९२० ई० के लगभग माना जाता है। इसलिए रुद्रटका काल उनके पहले नवम शताब्दीमें ८५० ई० के लगभग पड़ता है।

ऐसा जान पड़ता है कि साहित्यशास्त्रके सारे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना कश्मीरमें हुई और उनमेंसे अधिकांश लोगोंने अपने ग्रन्थोंके नाम भी 'काव्यालङ्कार' ही रखे हैं। इस परम्पराके अनुसार कश्मीरवासी रुद्रट के ग्रन्थका नाम भी 'काव्यालङ्कार' होना चाहिये और है भी। रुद्रटका 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थ आर्या छन्दमें लिखा गया है। इसमें कुल ७१४ आर्याएँ हैं। ग्रन्थ १६ अध्यायोंमें विभक्त है, जिनमेंसे ११ अध्यायोंमें अलङ्कारोंका वर्णन है। अन्तिम अध्यायमें रसोंकी मीमांसा की गयी है। इसमें नौरसोंके साथ एक 'प्रेय' नामक रसकी और कल्पना करके रसोंकी संख्या दस कर दी गयी है। नायकनायिकाभेदका भी विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। अलङ्कारोंके विवेचनमें इन्होंने नयी बात यह की है कि वैज्ञानिक आधारपर अलङ्कारोंका विभाजन करनेका यत्न किया है। वास्तवमें, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चारको इन्होंने अलङ्कारोंका विभाजक तत्त्व माना है और इसीके आधारपर अलङ्कारोंको चार भागोंमें विभक्त किया है। यह इनका विलकुल नया दृष्टिकोण है। रुद्रटने अलङ्कारक्षेत्रमें १.

मत, २. साम्य, ३. पिहित और ४. भाव नामके चार बिलकुल नवीन अलङ्कारोंकी कल्पना की है, जिनका उल्लेख प्राचीन और नवीन किन्हीं ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है। कुछ प्राचीन अलङ्कारोंका इन्होंने नवीन रूपमें नया नामकरण किया है। जैसे भामह आदिके 'व्याजस्तुति'के लिए इन्होंने 'व्याजश्लेष' (१०-११) शब्दका प्रयोग किया है। 'स्वभावोक्ति'के स्थानपर 'जाति' (९-३) और 'उदात्त'के स्थानपर 'अवसर' (७-१०३) आदि नामोंका प्रयोग किया है।

रुद्रटके टीकाकार

रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'पर तीन टीकाओंका उल्लेख मिलता है। उनमें सबसे पहली टीका कश्मीरके वल्लभदेव नामक विद्वान्ने लिखी थी। इसका नाम 'रुद्रटालङ्कार' था। परन्तु वह टीका उपलब्ध नहीं होती है। दूसरी टीका नमिसाधुकी है। यह टीका उपलब्ध होती है और छप चुकी है। नमिसाधु जैन विद्वान् थे। इन्होंने अपनी टीकाके रचनाकालका उल्लेख निम्नलिखित प्रकार किया है—

'पञ्चविंशतिसंयुक्तैः एकादशसमाशतैः।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥'

अर्थात् विक्रमके ११२५ संवत् (१०६८ ई०) में नमिसाधुने इस टीकाकी रचना की। तीसरी टीकाके निर्माता भी जैन यति थे। इनका नाम आशाधर और समय १३वीं शताब्दीका मध्यभाग है।

रुद्रट और रुद्रभट्ट

रुद्रटसे मिलता-जुलता एक नाम और पाया जाता है रुद्रभट्ट। रुद्रभट्टकी रचनाका नाम 'शृङ्गारतिलक' है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें नौ रसों, भाव तथा नायक-नायिकाके भेदोंका सामान्य वर्णन है। द्वितीय परिच्छेदमें विशेषरूपसे विप्रलम्भशृङ्गारका तथा तृतीय परिच्छेदमें इतर रसों तथा वृत्तियोंका वर्णन किया गया है। नवीन और प्राचीन अधिकांश विद्वान् इन दोनोंको अभिन्न एक ही व्यक्ति मानते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इनको भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। भिन्नतावादियोंकी मुख्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. रुद्रटके 'काव्यालङ्कार'के अनुसार काव्यका तत्त्व अलङ्कार है, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थके सोलह अध्यायोंमेंसे ग्यारह अध्यायोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया है। रसका वर्णन केवल एक अन्तिम अध्यायमें किया है। इसके विपरीत 'शृङ्गारतिलक'में काव्यका प्रधान तत्त्व रस है। उसमें अलङ्कारोंकी चर्चा बिलकुल ही नहीं की गयी है। इसलिए इन दोनों ग्रन्थोंके कर्ता अलग-अलग मानने चाहिये।

२. 'शृङ्गारतिलक'में रुद्रभट्टने केवल नौ रसोंका उल्लेख किया है, किन्तु 'काव्यालङ्कार'में रुद्रटने 'प्रेय'को भी दसवाँ रस मानकर रसोंकी संख्या दस कर दी है।

३. रुद्रभट्टने कौशिकी आदि चार वृत्तियोंका उल्लेख किया है, किन्तु रुद्रटने मधुरा, परुषा, प्रौढा, ललिता तथा भद्रा नामसे पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका वर्णन किया है।

४. नायकनायिकाभेदमें रुद्रभट्टने तीसरे नायिकाभेद, वेश्याका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है, किन्तु रुद्रटने केवल दो श्लोकोंमें उनका वर्णन कर उसको तिरस्कारपूर्वक छोड़ दिया है।

इस प्रकार भेदवादियोंकी दृष्टिमें रुद्रट तथा रुद्रभट्ट दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं। किन्तु

अधिकांश लोग इन दोनोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं। प्राचीन सूक्तिसंग्रहोंमें दोनोंके पद्य एक-दूसरेके नामसे दिये गये हैं।

८. आनन्दवर्धनाचार्य

साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें रुद्रभट्टके बाद आनन्दवर्धनाचार्यका नाम आता है। आनन्दवर्धनाचार्य साहित्यशास्त्रके प्रमुख ध्वनिसम्प्रदायके प्रतिष्ठापक होनेके नाते साहित्यशास्त्रके अत्यन्त प्रसिद्ध एवं प्रमुखतम व्यक्ति हैं। पूर्ववर्ती अन्य आचार्योंके समान यह भी कश्मीरके निवासी हैं। राजतरङ्गिणीकारने इन्हें कश्मीराधिपति अवन्तिवर्माका समकालीन बतलाते हुए लिखा है—

'मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥'

—राजतरङ्गिणी ५-४

कश्मीरनरेश अवन्तिवर्माका समय ८५५-८८४ ई० तक है। इसलिए आनन्दवर्धनाचार्यका समय नवम शताब्दीमें ठहरता है। आनन्दवर्धनाचार्यने १. 'विषमबाणलीला', २. 'अर्जुनचरित', ३. 'देवीशतक', ४. 'तत्त्वालोक' तथा ५. 'ध्वन्यालोक' इन पाँच ग्रन्थोंकी रचना की थी। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। इस ग्रन्थमें काव्यके आत्मभूत ध्वनि-तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थमें चार 'उद्योत' हैं। कुछ लोग ध्वनिको मानते ही नहीं हैं, कुछ उसको गौण मानते हैं और कुछ उसको अनिर्वचनीय तत्त्व कहते हैं। ये तीन ध्वनिविरोधी सिद्धान्त हैं। इन तीनों सिद्धान्तोंका खण्डन करके प्रथम उद्योतमें ध्वनिकी स्थापना की गयी है और उसका स्वरूप प्रतिपादन किया गया है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥'

—ध्वन्यालोक १-१

द्वितीय उद्योतमें अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि तथा विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूला ध्वनिके भेदोपभेदोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और उनके साथ गुणोंका भी कुछ विवेचन किया गया है। तृतीय उद्योतमें पदों, वाक्यों, पदांश और रचना आदिके द्वारा ध्वनिकी प्रकाश्यताका प्रतिपादन और रसोंके विरोध तथा अविरोधापादनके सिद्धान्तोंका वर्णन किया गया है। चतुर्थ उद्योतमें यह दिखलाया गया है कि ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रयोगके प्रभावसे कविके काव्यमें अनन्त चमत्कारकी उत्पत्ति हो जाती है। जैसे मधुमासमें पुराने जीर्ण-शीर्ण वृक्षोंमें अनन्त सौन्दर्य छा जाता है उसी प्रकार ध्वनि तथा रसके सम्बन्धसे पूर्वकवियों द्वारा वर्णित पुराने अर्थोंमें भी नवीन चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यने इस ग्रन्थमें ध्वनिविरोधी पक्षोंका निराकरण कर बड़ी सुन्दरता एवं प्रौढ़ताके साथ ध्वनि-सिद्धान्तकी स्थापना की है।

'ध्वन्यालोक'में तीन भाग हैं। एक मूलकारिका-भाग, दूसरा उनकी वृत्ति और तीसरा भाग उदाहरणरूप है। कारिका और वृत्ति दोनों भागोंके निर्माता स्वयं आनन्दवर्धनाचार्य ही हैं। उदाहरणोंमें कुछ उदाहरण उन्होंने स्वयं अपने बनाये 'विषमबाणलीला' और 'अर्जुनचरित' आदि ग्रन्थोंसे दिये हैं, किन्तु अधिकांश उदाहरण अन्य प्रसिद्ध कवियोंके ग्रन्थोंसे दिये हैं। प्राचीन सभी आचार्य कारिकाभाग

तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता आनन्दवर्धनाचार्यको ही मानते हैं। किन्तु डॉ० बुल्हर, प्रो० जैकोबी, प्रो० कीथ आदि आधुनिक विद्वानोंने इन दोनों भागोंको भिन्न व्यक्तियोंकी रचना सिद्ध करनेका यत्न किया है। इन भिन्नतावादियोंके मतमें कारिकाभागके निर्माता कोई 'सहृदय' नामके व्यक्ति हैं और वृत्तिभागके निर्माता आनन्दवर्धनाचार्य हैं। अपने मतके समर्थनके लिए वे 'ध्वन्यालोक'के प्रथम तथा अन्तिम श्लोकमें 'सहृदय' पदके प्रयोगको प्रस्तुत करते हैं। प्रथम श्लोक जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है उसके अन्तिम चरणमें 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्'में जो 'सहृदय' पद आया है इसे भेदवादी लोग कारिकाकारका नाम मानते हैं। इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक'के अन्तिम श्लोक—

'सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥'

इसमें जो 'सहृदयोदयलाभहेतोः' पद आया है यह भी इन भेदवादियोंकी दृष्टिमें मूल कारिकाकारके नामका ग्राहक है। किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। 'सहृदय' शब्द यहाँ किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं, अपितु 'सहृदय' व्यक्तियोंका बोधक विशेषणपद है। 'ध्वन्यालोक'की टीका 'लोचन'में स्थान-स्थानपर 'वृत्तिकृत्' 'ग्रन्थकृत्' आदि शब्दोंका जो प्रयोग आता है। वह व्याख्याके कारिका तथा वृत्तिभागको सूचित करनेकी दृष्टिसे ही आता है, किन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वृत्तिकार और कारिकाकार दोनों अलग-अलग हैं। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक, व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट, 'औचित्यविचारचर्चा'के निर्माता क्षेमेन्द्र आदि उत्तरवर्ती सभी आचार्य आन्दवर्धनको ही कारिका तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता मानते हैं। स्वयं आनन्दवर्धनाचार्यने भी—

'इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः॥'

लिखकर ध्वनितत्त्वको 'अस्मदुपज्ञ' कहा है। अर्थात् स्वयं अपने आपको ही ध्वनिसिद्धान्तका प्रतिष्ठापक बतलाया है। अतः कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता आनन्दवर्धनाचार्यको ही मानना उचित है। नवीन विद्वानोंकी शङ्काएँ उचित नहीं हैं।

आनन्दवर्धनाचार्यके 'ध्वन्यालोक'पर दो टीकाओंका पता चलता है। इनमेंसे एक अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा विरचित 'लोचन' टीका उपलब्ध होती है। दूसरी टीका 'चन्द्रिका' नामकी थी। यह टीका 'लोचन'से पहले लिखी गयी थी और उसके निर्माता अभिनवगुप्तके कोई पूर्ववंशज ही थे। अभिनवगुप्तने 'लोचन'में जगह-जगह उसका खण्डन किया है। एक जगह खण्डन करते हुए लिखा है—

'चन्द्रिकाकारस्तु पठितमनुपठतीति न्यायेन गजनिमीलिकया व्याचचक्षे।... इत्यलं पूर्ववंश्यैः सह विवादेन बहुना।' —लोचन, पृ० १४५

'चन्द्रिका' टीकाके होनेपर भी अभिनवगुप्तने जो 'लोचन' टीका लिखी है इसका कारण दिखलाते हुए लोचनकारने लिखा है—

'किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥'

इसमें प्रकारान्तरसे ग्रन्थकारने 'लोचन'की विशेषता सूचित की है।

९. अभिनवगुप्त

'ध्वन्यालोक'की इस 'लोचन' टीकाके निर्माता अभिनवगुप्त कश्मीरके एक प्रमुख विद्वान् हैं। वे स्वयं यद्यपि कश्मीरी ब्राह्मण हैं किन्तु उनके पूर्वज सदा कश्मीरके ही रहनेवाले नहीं थे। अभिनवगुप्तके जन्मसे लगभग २०० वर्ष पूर्व उनके पूर्वज उत्तरप्रदेशके प्रसिद्ध नगर कन्नौजमें रहते थे, जो उन दिनों एक बड़ा समृद्ध एवं शक्तिशाली साम्राज्य था। उस समय कन्नौज-साम्राज्यके अधिपति यशोवर्मा थे। यह आठवीं शताब्दीकी बात है। कश्मीरमें उस समय राजा ललितादित्य राज्य कर रहे थे। किसी कारणवश कश्मीरराजने कन्नौजपर चढ़ाई कर दी और उस युद्धमें यशोवर्मा पराजित हो गये। उस समय यशोवर्माके यहाँ अत्रिगुप्त नामके एक बहुत बड़े विद्वान् थे। कश्मीरके राजा तो सदासे ही बड़े-बड़े विद्वानोंका आदर एवं संग्रह करनेवाले रहे हैं। इसलिए राजा ललितादित्य अत्रिगुप्तको बड़े आदरपूर्वक अपने यहाँ ले गये। उनके लिए मकान बनवा तथा एक बड़ी जागीर प्रदान कर अपने यहाँ रखा। इन्हीं अत्रिगुप्तके वंशमें लगभग २०० वर्ष बाद अभिनवगुप्त उत्पन्न हुए। अभिनवगुप्तने इस घटनाका वर्णन अपने ग्रन्थ 'तन्त्रालोक'में निम्नलिखित प्रकार किया है—

'निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेश-
स्तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोऽप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्तगोत्रः
शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः॥

तमथ ललितादित्यो राजा निजं पुरमानयत्।
प्रणयरभसात् कश्मीराख्यं हिमालयमूर्धगम्॥

तस्मिन् कुबेरपुरचारिसितांशुमौलि-
साम्मुख्यदर्शनविरूढपवित्रभावे।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे
राजा द्विजस्य परिकल्पितभूरिसम्पत्॥'

इस प्रकार मध्यदेश या अन्तर्वेदी गङ्गा-यमुनाके मध्यवर्ती प्रदेश कन्नौजसे अत्रिगुप्तको लाकर ललितादित्यने कश्मीरमें वितस्ता नदीके किनारे, जो कैलास (अलका) चारी भगवान् शिवजीके अति संमुख दर्शनसे पवित्र है, पर मकान बनवाकर तथा 'परिकल्पितभूरिसम्पत्' जागीर आदि प्रचुर सम्पत्ति प्रदान कर आदरपूर्वक रखा। इस बातका वर्णन करनेके बाद अभिनवगुप्तने 'तन्त्रालोक'में ही फिर इसी वंशमें अपने बाबा 'वराहगुप्त', अपने पिता 'चुलखक' तथा अपनी उत्पत्तिका वर्णन निम्नलिखित प्रकार किया है—

'तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण॥
तस्यात्मजः चुलखकेति जने प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिंहगुप्तः।
यं सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्तं माहेश्वरी परमलङ्कुरुते स्म भक्तिः॥'

इन दो श्लोकोंमें अभिनवगुप्तने अपने बाबा वराहगुप्त तथा अपने पिता नरसिंहगुप्त, जिनकी लोकमें 'चुलखक' नामसे प्रसिद्धि थी, की उत्पत्तिका वर्णन किया है। इन्हीं नरसिंहगुप्तके पुत्र अभिनवगुप्त थे। अभिनवगुप्तने अपने १. 'विवृतिविमर्शिनी', २. 'क्रमस्तोत्र' तथा ३. 'भैरवस्तोत्र' इन

तीन ग्रन्थोंका रचनाकाल कश्मीरके प्रसिद्ध सप्तर्षिसंवत्सर और उसके साथ कलिसंवत्सरका सम्बन्ध दिखलाते हुए दिया है। उसके अनुसार 'क्रमस्तोत्र'की रचना ९९० ई० में, 'भैरवस्तोत्र'की रचना ९९२ ई० में और 'विवृतिविमर्शिनी'की रचना १०१४ ई० में की गयी है। 'विवृतिविमर्शिनी'में उसके रचनाकालका निर्देश अभिनवगुप्तने इस प्रकार किया है—

'इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥'

'अन्त्ये युगांशे' अर्थात् कलियुगके तिथि अर्थात् १४ 'शशि' अर्थात् १ और 'जलधि' अर्थात् ४, 'अङ्कानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्तके अनुसार ४११४ कलि-संवत्सरमें जब कि कश्मीरका प्रसिद्ध 'सप्तर्षिसंवत्सर'का 'नवतितमेऽस्मिन्' ९० संवत् अर्थात् ४०९० 'सप्तर्षिसंवत्'में मार्गशीर्षके अन्तमें इस ग्रन्थकी रचना हुई। इस कलिसंवत्सर और सप्तर्षिसंवत्सरको जब हम ईसवी सन्में लाते हैं तब यह मालूम होता है कि १०१४ ईसवी सन्में 'विवृतिविमर्शिनी'की रचना हुई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिनवगुप्तका काल दशम शताब्दीका अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें था।

अभिनवगुप्तका पूरा नाम 'अभिनवगुप्तपाद' है। 'काव्यप्रकाश'के टीकाकार वामनका कहना है कि यह नाम बादको उनके गुरुओंने उनकी अपने सहाध्यायी बालकोंको सताने और डरानेकी प्रवृत्तिके कारण दिया था। 'गुप्तपाद'का अर्थ है 'सर्प'। यह अपने साथियोंके लिए सर्पके समान त्रासदायक थे इसलिए गुरुओंने इनका 'अभिनव-गुप्तपाद' नाम रख दिया। इसके बाद इन्होंने अपने लिए गुरुप्रदत्त इसी नामका व्यवहार आरम्भ कर दिया। इन्होंने 'तन्त्रालोक' (१-५०) में स्वयं भी लिखा है—

'अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या।'

अभिनवगुप्तको विद्याध्ययनका बड़ा व्यसन था। इनके समयमें कश्मीरमें और कश्मीरके आस-पास जितने प्रसिद्ध विद्वान् थे उन सबके पास जाकर इन्होंने विद्याका अध्ययन किया था। जिस शास्त्रके विशेषज्ञके रूपमें जिस विद्वान्की उस समय प्रसिद्धि थी उस शास्त्रका अध्ययन इन्होंने उसी विशिष्ट विद्वान्के पास जाकर किया था। इसलिए इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न गुरु थे, जिनकी सूची निम्नलिखित प्रकार है—

१. नरसिंहगुप्त (अभिनवगुप्तके पिता)	व्याकरणशास्त्रके गुरु
२. वामनाथ	द्वैताद्वैततन्त्रके गुरु
३. भूतिराजतनय	द्वैतवादी शैवसम्प्रदायके गुरु
४. लक्ष्मणगुप्त	प्रत्यभिज्ञा, क्रम तथा त्रिक दर्शनके गुरु
५. भट्ट इन्दुराज	ध्वनिसिद्धान्तके गुरु
६. भूतिराज	ब्रह्मविद्याके गुरु
७. भट्ट तोत	नाट्यशास्त्रके गुरु

इन सात गुरुओंका तो अभिनवगुप्तने शास्त्रके सहित उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अपने १३ अन्य गुरुओंका उल्लेख भी एक श्लोकमें इस प्रकार किया है—

'श्रीचन्द्रशर्मभवभक्तिविलासयोगानन्दाभिनन्दशिवशक्तिविचित्रनाथाः ।
अन्येऽपि धर्मशिववामनकोद्भटश्रीभूतेशभास्करमुखप्रमुखा महान्तः ॥'

अभिनवगुप्तके ग्रन्थ

अभिनवगुप्तके गुरुओंके समान उनके ग्रन्थोंकी भी एक बड़ी लम्बी सूची है। उनमें 'तन्त्रालोक' जैसे विशालकाय ग्रन्थ भी हैं और 'क्रमस्तोत्र', 'भैरवस्तोत्र' जैसे १०-१२ श्लोकोंकी कृतियाँ भी। इन सबको मिलाकर उनकी रचनाओंकी संख्या ४१ तक पहुँच जाती है। रचनाकालके क्रमानुसार उनके नाम निम्नलिखित प्रकार हैं—

१. बोधपञ्चदशिका, २. परात्रिंशिकाविवृतिः, ३. मालिनीविजयवार्तिक, ४. तन्त्रालोक, ५. तन्त्रसार ६. तन्त्रवटधानिका ७. ध्वन्यालोक-लोचन ८. अभिनवभारती ९. भगवद्गीतार्थ-संग्रह १०. परमार्थसार ११. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, १२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (बृहती), १३. क्रमस्तोत्र, १४. देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, १५. भैरवस्तोत्र, १६. परमार्थद्वादशिका, १७, अनुभवनिवेदन, १८. परमार्थचर्चा, १९. महोपदेशविंशतिका, २०. अनुत्तरशतिका, २१. तन्त्रोच्चय, २२. घटकर्परकुलकविवृति, २३. क्रमकेलि, २४. शिवदृष्टयालोचन, २५ पूर्वपञ्चिका, २६. पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, २७. प्रकीर्णकविवरण, २८. प्रकरणविवरण, २९. काव्यकौतुक-विवरण, ३०. कथामुखटीका, ३१. लध्वी प्रक्रिया, ३२. भेदवादविदारण, ३३. देवीस्तोत्रविवरण, ३४. तत्त्वार्थप्रकाशिका, ३५. शिवशक्त्यविनाभावस्तोत्र, ३६. बिम्बप्रतिबिम्बवाद, ३७. परमार्थ-संग्रह, ३८. अनुत्तरशतक, ३९. प्रकरणस्तोत्र, ४०. नाटयालोचन, ४१. अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी।

अन्तिम ६ कृतियाँ ऐसी हैं जिनके केवल नामोंका उल्लेख सूचीपत्रोंमें मिलता है। ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। इसी प्रकार ऊपर दिये ३५ ग्रन्थोंमेंसे कुछ ऐसे हैं जिनका उल्लेख अभिनवगुप्तने स्वयं अपने उपलब्ध ग्रन्थोंमें किया है, किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं।

इन ४१ कृतियोंमेंसे साहित्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले केवल तीन ग्रन्थ हैं। एक 'ध्वन्यालोक-लोचन' जो 'ध्वन्यालोक'की टीकाके रूपमें लिखा गया है, दूसरा 'अभिनवभारती' जो भरत-नाटयशास्त्रकी टीकाके रूपमें लिखा गया है और तीसरा 'घटकर्पर-विवरण' जो 'मेघदूत'के सदृश एक दूतकाव्यपर टीकारूपमें लिखा गया है। शेष सब ग्रन्थ शैवदर्शन आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं।

जीवन-झाँकी

अभिनवगुप्तके जीवनकी झाँकी कुछ बहुत सुखद नहीं है। उनका 'अभिनवगुप्तपाद' नाम, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनकी बाल्यकालकी शरारतोंका स्मारक है। 'माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव', उनकी माता बाल्यावस्थामें ही उनको छोड़कर परलोक चली गयीं। इसकी कसक उनके हृदयमें बहुत कालतक बनी रही। 'माता परं बन्धुरिति प्रवादः, स्नेहोऽति गाढीकुरुते हि पाशान्।' किन्तु अभिनवगुप्तने माताके इस वियोगको भी अपने भावी जीवनके लिए कल्याणप्रदरूपमें ही स्वीकार किया है—'देवो हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति।' माताके वियोगके बाद शीघ्र ही इनको पिताके वियोगका भी सामना करना पड़ा, क्योंकि माताका देहान्त हो जानेके बाद इसके पिताको एकदम वैराग्य हो गया और वे 'तारुण्यसागरतरङ्गभरानपोह्य वैराग्यपोतमधिरुह्य दृढं हठेन' विरक्त होकर संन्यासी हो गये। माता और पिताके वियोगकी इन दोनों घटनाओंने अभिनवगुप्तकी जीवनधारा ही बदल दी। अबतक

वे साहित्यके सरस विषयके अध्ययनमें प्रवृत्त थे, किन्तु अब उसको छोड़कर वे एकदम शिवभक्ति और दार्शनिक विषयोंके अध्ययनमें लग गये--

'साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेशभक्त्या स्वयंग्रहणदुर्मदया गृहीतः ।
स तन्मयीभूय न लोकवर्तनीमजीगणत् कामपि केवलं पुनः ।।
तदीयसम्भोगविवृद्धये पुरा करोति दास्यं गुरुवेश्मसु स्वयम् ।'

उन्होंने विवाह भी नहीं किया। जीवनभर ब्रह्मचर्यके कठोर व्रतका पालन किया। उनके जीवनका पटाक्षेप भी उनकी इस जीवनचर्याके अनुरूप ही सुन्दररूपमें हुआ है। कश्मीरमें श्रीनगर तथा गुलमर्गके बीचमें 'मगम' नामका एक स्थान है। इस स्थानसे पाँच मीलकी दूरीपर 'भैरवगुफा'के नामसे एक प्रसिद्ध गुफा है। उसके पास ही 'भैरव' नामकी एक छोटी-सी नदी भी बहती है। इसके पास एक छोटा-सा गाँव है, वह भी 'भैरव गाँव'के नामसे प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्तने अपने जीवनका अन्तिम भाग इसी पवित्र वातावरणमें व्यतीत किया। अन्तिम समय समीप आनेपर वे स्वयं इस गुफाके भीतर प्रविष्ट हो गये और फिर कभी वापस नहीं लौटे। उनकी इस अन्तिम दीर्घ यात्राके समय कहते हैं कि उनके बारह सौ शिष्य उनको विदाई देनेके लिए उनके साथ थे।

१०. राजशेखर

दशम शताब्दीके आरम्भमें प्रसिद्ध नाटककार तथा काव्यशास्त्रके सूक्ष्म विवेचक राजशेखरका नाम उल्लेख योग्य है। अबतक हमने साहित्यशास्त्रके जिन आचार्योंका परिचय दिया है उनमें एक दण्डीको छोड़कर शेष सभी आचार्य कश्मीरी थे। दण्डीके बाद यह दूसरे आचार्य हैं जो कश्मीरके बाहरके हैं। राजशेखर विदर्भवासी हैं। किन्तु इनका कार्यक्षेत्र विदर्भमें न होकर कन्नौजमें रहा। कन्नौजके प्रतीहारवंशीय राजा महेन्द्रपाल और महिपाल इनके शिष्य थे। 'बालरामायण' नाटकमें अपने इन शिष्योंकी प्रशंसा करते हुए राजशेखरने लिखा है--

'आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारान्निधिः
त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत् कान्तः कवीनां गुरुः ।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः ।।'

--बा० रा० १-१८

राजशेखर अपनेको 'यायावरीयः' लिखते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे 'यायावर' वंशमें उत्पन्न हुए थे। वे महाराष्ट्रके प्रसिद्ध कवि 'अकालजलद'के पौत्र थे। उनके पिताका नाम 'दुर्दुक' और माताका नाम 'शीलवती' था। 'यायावर' वंशमें इनके पितामह अकालजलद और उनके अतिरिक्त सुरानन्द, तरल आदि अनेक कविराज हो चुके हैं। इसलिए इनमें कवित्व तथा शास्त्रीय प्रतिभा वंश-परम्परागत थी। सौभाग्यसे पत्नी भी इनको बड़ी विदुषी और कवित्वप्रतिभाशालिनी प्राप्त हुई थी। उसका नाम 'अवन्तिसुन्दरी' था। राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा' में कई स्थानोंपर 'इति अवन्ति-सुन्दरी' लिखकर उसके साहित्यविषयक मतोंका उल्लेख किया है। इससे उसके पाण्डित्यका परिचय मिलता है। यह अवन्तिसुन्दरी चौहान-वंशमें उत्पन्न हुई थी। अपने 'कर्पूरमञ्जरी सट्टक'में राजशेखरने अपनी पत्नीका परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है--

'चाहुमानकुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी ।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी या प्रयोक्तुमेवमिच्छति ।।
—कर्पूरमञ्जरी (संस्कृत) १-११

राजशेखरके ग्रन्थ

राजशेखर मुख्यरूपसे कवि और नाटककार हैं। उन्होंने चार नाटकोंकी रचना की है—१. 'बालरामायण', २. 'बालभारत', ३. 'विद्धशालभञ्जिका' और ४. कर्पूरमञ्जरी। 'कर्पूर-मञ्जरी' संस्कृत भाषामें न लिखकर प्राकृतभाषामें लिखा गया 'सट्टक' है। इनका पाँचवाँ ग्रन्थ 'काव्य-मीमांसा' है। यह ग्रन्थ साहित्यसमीक्षासे सम्बन्ध रखता है। इसी ग्रन्थके कारण अलङ्कारशास्त्रके इतिहासमें उनको गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ है। अबतक हम साहित्यशास्त्रके ग्रन्थोंकी जो रूप-रेखा देखते आये हैं, राजशेखरकी 'काव्यमीमांसा'की रूपरेखा उस सबसे एकदम विलक्षण है। इसमें अठारह अध्याय हैं। प्रथम अध्यायका नाम 'शास्त्रसंग्रह' है। इसमें बतलाया गया है कि 'काव्यमीमांसा'की शिक्षा शिवने ब्रह्मा आदिको किस प्रकार प्रदान की और फिर ब्रह्मासे शिष्यपरम्परा द्वारा इसके १८ विषयोंको १८ लेखकोंने १८ ग्रन्थोंमें अलग-अलग लिखा और उन सबको यायावरवंशोत्पन्न राजशेखरने एक ही ग्रन्थमें १८ अध्यायोंमें किस प्रकार संक्षेपमें दे दिया है। इसलिए इस अध्यायका नाम 'शास्त्र-संग्रह' अध्याय रखा है। दूसरे अध्यायका नाम 'शास्त्रनिर्देश' है। इसमें वाङ्मयको दो भागोंमें विभक्त किया है—एक 'शास्त्र' और दूसरा 'काव्य'। 'शास्त्रको फिर पौरुषेय तथा अपौरुषेयरूपसे दो भागोंमें विभक्त किया है। ४ वेद, ४ उपवेद और ६ वेदाङ्ग ये अपौरुषेय शास्त्रके वर्गमें आते हैं। राजशेखरने अपना मत दिया है कि ६ वेदाङ्गोंके साथ अलङ्कारको भी सातवाँ वेदाङ्ग मानना चाहिये। पौरुषेय शास्त्रमें पुराण, आन्वीक्षिकी, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, १८ स्मृति, १४ या १८ प्रकारकी जो विद्याएँ मानी जाती हैं उन सबका समावेश होता है।

तीसरे अध्यायका नाम 'काव्यपुरुषोत्पत्ति' है। इसमें सरस्वतीसे 'काव्यपुरुष'की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। उस काव्यपुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हुए लिखा है— 'शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्, समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिलक्षणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति। साहित्यविद्यावधूके साथ 'वत्सगुल्म' नगरमें इस काव्यपुरुषके विवाहका वर्णन भी किया है।

चतुर्थ अध्यायका नाम 'पदवाक्यविवेक' है। इसमें कवि बननेके लिए किन-किन बातोंकी आवश्यकता है इस बातका वर्णन विशेषरूपसे किया गया है। इसमें राजशेखरने कहा है कि 'यायावरीय'के मतमें केवल एक शक्ति ही काव्यका हेतु है। उसीसे प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति आती है। अन्योंके मतमें समाधि तथा अभ्यासकी भी आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार आगे अध्यायोंके नाम तथा विषय हैं—५. काव्यपादकल्प, ६. पदवाक्यविवेक, ७. पाठप्रतिष्ठा, ८. काव्यार्थयोनि, ९. अर्थव्याप्ति, १०. कविचर्या तथा राजचर्या। इसके बाद ११-१३ अध्यायोंमें यह दिखलाया है कि कवि अपने पूर्ववर्ती कवियोंके अभिप्रायको कैसे और कहाँतक समझ सकता है। १४-१६ अध्यायोंमें देश, काल, प्रकृति आदिके वर्णनमें प्रसिद्ध कविसमयका वर्णन किया गया है। १७ वें अध्यायमें देशविभाग तथा १८ वें अध्यायमें कालविभागका वर्णन है।

इस विषयसूचीके देखनेसे विदित होता है कि 'काव्यमीमांसा' अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारग्रन्थोंसे एकदम विलक्षण ग्रन्थ है। वह कविके लिए उपयोगी जानकारी देनेवाला एक विश्वकोश-सा प्रतीत होता है। इसलिए राजशेखर एक स्वतन्त्र 'कविशिक्षासम्प्रदाय'के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। राजशेखरके बाद क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र तथा देवेश्वर आदिने भी इसी प्रकार 'कविशिक्षा'के विषयमें ग्रन्थोंकी रचना की है। इसलिए साहित्यशास्त्र, रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय आदि प्रसिद्ध सम्प्रदायोंसे भिन्न यह 'कविशिक्षासम्प्रदाय' अलग ही माना जाना चाहिये।

११. मुकुलभट्ट

उद्भटके टीकाकार प्रतीहारेन्दुराजके वर्णनके प्रसङ्गमें हम देख चुके हैं कि प्रतीहारेन्दुराजने मुकुलभट्टको अपना गुरु माना है। इसलिए मुकुलभट्टका समय नवम शताब्दीमें पड़ता है। यों मुकुलभट्टने ग्रन्थोंके अन्तमें 'भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता' लिखकर अपनेको भट्टकल्लटका पुत्र बतलाया है। 'राजतरङ्गिणी'में भट्टकल्लटको अवन्तिवर्माका समकालीन कहा गया है—

'अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः ।।'
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन् ।।' ५—५६।

अवन्तिवर्माका समय, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, ८५५-८८४ ई० तक माना जाता है। इन्हीं अवन्तिवर्माके राज्यकालमें आनन्दवर्धन भी हुए। इसलिए मुकुलभट्टके पिता आनन्दवर्धनके समकालीन रहे होंगे। मुकुलभट्टने अपने ग्रन्थमें आनन्दवर्धन, उद्भट, विज्जका आदिका उल्लेख किया है। इनके शिष्य प्रतीहारेन्दुराजने इनका जो परिचय दिया है उसके अनुसार मुकुलभट्ट मीमांसाशास्त्रके एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसके साथ ही व्याकरण, तर्क और साहित्यशास्त्रपर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इनका एकमात्र ग्रन्थ है 'अभिधावृत्तिमातृका'। यह बहुत छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें केवल १५ कारिकाएँ हैं। इन कारिकाओंकी वृत्ति भी स्वयं मुकुलभट्टने ही लिखी है। यह ग्रन्थ एक तरहसे ध्वनि-सिद्धान्त तथा व्यञ्जनावृत्तिका विरोधी है। व्यञ्जनावादी आचार्य, अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना, तीन प्रकारकी वृत्ति मानते हैं। ममीमांसक व्यञ्जनावृत्तिको नहीं मानते हैं। इसलिए मुकुलभट्टने इस ग्रन्थमें व्यज्जना तो दूर रही, लक्षणाको भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधाका ही एक भेद माना है और 'इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्' लिखकर अभिधाके दस प्रकारके व्यापारके अन्तर्गत ही लक्षणाका भी समावेश कर दिया है। इनका ग्रन्थ छोटा होनेपर भी तनिक क्लिष्ट है। मम्मटने 'काव्य-प्रकाशमें' जो अभिधा,लक्षणा आदि वृत्तियोंका निरूपण किया है वह इस 'अभिधावृत्तमातृका'के आधारपर ही किया है। मम्मटने इसके आधारपर 'शब्दव्यापार-विचार' नामक एक छोटा-सा अलग ग्रन्थ भी लिखा है। उसीके आधारपर 'काव्यप्रकाश' में अभिधादि वृत्तियोंका विवेचन किया गया है। अतएव इस विषयकी 'काव्य-प्रकाश'की पंक्तियोंके रहस्यको ठीक तरहसे हृदयङ्गम करनेके लिए मुकुलभट्टके ग्रन्थका परिशीलन उपयोगी तथा आवश्यक है।

१२. धनञ्जय

धनञ्जय दशम शताब्दीके एक महान् साहित्यिक हैं। किन्तु इनका सम्बन्ध मुख्यतः अलङ्कार-शास्त्रसे न होकर नाट्यशास्त्रसे है। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'दशरूपक' है। भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'के बाद इस विषयपर यह सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' एक विश्व-

कोश है। उसमें जितना वर्णन नाट्यके मुख्य विषयोंका है उससे कहीं अधिक विस्तृत वर्णन उससे सम्बद्ध अन्य विषयोंका है। नाट्यके पारिभाषिक शब्दों और विशेष विषयोंका यदि कोई मूल 'नाट्य-शास्त्र'से अध्ययन करना चाहे तो उसे बड़ी कठिनाई होगी। इसलिए धनञ्जयने 'नाट्यशास्त्र'के आधारपर नाटकके भेदोपभेद सहित इस प्रकारके रूपकोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातोंका संग्रह करके इस सरल ग्रन्थका निर्माण कर दिया है। इससे नाटक सम्बन्धी सारी बातें बड़ी सरलतासे समझमें आ जाती हैं। इसीलिए इस ग्रन्थका विद्वानोंमें बड़ा आदर हुआ और पठन-पाठनमें सर्वत्र प्रचार होनेसे इसकी बड़ी ख्याति हुई।

'दशरूपक' ग्रन्थ कारिकारूपमें लिखा गया है। इसमें लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। ग्रन्थ चार प्रकाशोंमें विभक्त है। प्रथम प्रकाशमें ग्रन्थके प्रयोजन आदिको दिखलाते हुए ग्रन्थकारने नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि', नाटकोंके लक्षण आदिको संक्षिप्त रूपमें प्रस्तुत करना इस ग्रन्थका प्रयोजन बतलाया है। उसके बाद नाटकोंकी पञ्चसन्धियों, अर्थोपक्षेपकों आदिके लक्षण और आख्यानवस्तुके भेद आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रकाशमें नायक-नायिकाभेद तथा कैशिकी आदि वृत्तियोंके भेदोंका वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाशमें नाटकके लक्षण, प्रस्तावना, अङ्कसंविधान, कथाभागके औचित्यानुसार परिवर्तन, नाटकके प्रधान-रस, पात्रोंकी संख्या, प्रवेश और निर्गमके नियम आदिका वर्णन किया गया है। चतुर्थ प्रकाश मुख्यतः रसोंसे सम्बन्ध रखता है। रसके स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव आदि सामग्रीका विवेचन, रसनिष्पत्ति सामाजिकमें होती है, रसास्वादनके प्रकार, नाट्यमें शान्तरसकी अनुपयोगिता, अन्य रसोंकी स्थिति आदि रससम्बन्धी समस्त विषयोंका विवेचन किया गया है।

ग्रन्थके अन्तमें अपना परिचय देते हुए धनञ्जयने लिखा है—

'विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥'

इससे प्रतीत होता है कि धनञ्जयके पिताका नाम 'विष्णु' था। इन्होंने मालवाके परमारवंशके राजा 'मुञ्ज', जिनको 'वाक्पतिराज द्वितीय' भी कहा जाता है, की राजसभामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त किया था और वहीं रहकर इस ग्रन्थकी रचना की थी। मुञ्जका राज्यकाल ९७४-९९४ ई० तक माना जाता है। अतः यही धनञ्जयका काल है। रसनिष्पत्तिके विषयमें धनञ्जय व्यञ्जनावादी नहीं हैं। चतुर्थ प्रकाशमें उन्होंने इसका खण्डन किया है। धनञ्जयके 'दशरूपक'पर उनके छोटे भाई धनिकने 'अवलोक' नामकी टीका लिखी है। यह टीका बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। धनिकके अतिरिक्त नृसिंहभट्ट, देवपाणि, कुरविराम और बहुरूप मिश्रने भी दशरूपकके ऊपर टीकाएँ लिखी हैं। इनमेंसे बहुरूप मिश्रकी टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है। ये चारों टीकाएँ हस्तलिखितरूपमें उपलब्ध हैं। अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं।

१३. भट्टनायक

भट्टनायक दशम शताब्दीके एक अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यकार हैं। दुर्भाग्यसे इस समय उनका एकमात्र ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' उपलब्ध नहीं हो रहा है, किन्तु साहित्यके क्षेत्रमें उनकी जो नयी देन थी उसके कारण उत्तरवर्ती साहित्यमें उनके मतकी चर्चा बहुत अधिक पायी जाती है। सामान्यतः वे ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। उनके 'हृदयदर्पण'में 'ध्वन्यालोक'के सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है। इसलिए वे ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्यके बाद हुए हैं। फिर उनके ध्वनिविरोधी सिद्धान्तोंका खण्डन 'ध्वन्यालोकके टीकाकार

अभिनवगुप्तने किया है। इसलिए वे अभिनवगुप्तके पहिले हुए हैं। इस प्रकार उनका समय आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तके बीच दशम शताब्दीमें पड़ता है। उनका ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। किन्तु इस ग्रन्थकी अनुपलब्धि आजकी नहीं, बहुत पुरानी जान पड़ती है। भट्टनायकके कुछ समय बाद ही ग्यारहवीं शताब्दीमें दूसरे ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट हुए हैं। भट्टनायकके समान उन्होंने भी 'ध्वन्यालोक' के खण्डनमें अपना 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थके लिखते समय उन्होंने भट्टनायकके 'हृदयदर्पण'को देखना चाहा जिससे कि वे अपने ग्रन्थको और अधिक उत्कृष्ट बना सकें, किन्तु उस समय भी उनको यह ग्रन्थ देखनेको नहीं मिल सका। इस बातका उल्लेख उन्होंने 'व्यक्तिविवेक'में बड़े सुन्दररूपमें करते हुए लिखा है—

सहसा यशोऽभिसतुँ समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालङ्कारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥'

श्लोकमें श्लेषालङ्कार है। कविने अपनी बुद्धिको नायिका बनाया है। वह अलङ्कार सजाने जा रही है ताकि उसे सौन्दर्यका यश प्राप्त हो सके। किन्तु जल्दीबाजीमें बिना दर्पण देखे ही अपनी अलङ्कारसज्जामें लग गयी है। तो वह विचारी बिना दर्पणके यह कैसे समझ सकेगी कि मेरे अलङ्कारमें कोई दोष तो नहीं रह गया है। इसके द्वारा ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि मैं अलङ्कारशास्त्रपर ध्वनिविरोधी ग्रन्थ तो लिखने जा रहा हूँ, किन्तु मैंने भट्टनायकके 'हृदयदर्पण' ग्रन्थका अबतक अवलोकन नहीं किया है, अब मुझे यह कैसे ज्ञात होगा कि मेरे ग्रन्थमें क्या कमी रह गयी है।

इस प्रकार चाहे उसी समय लुप्त हो जानेके कारण या फिर चाहे किसी अन्य कारणसे ११ वीं शताब्दीमें ही महिमभट्ट को भट्टनायकका 'हृदयदर्पण' ग्रन्थ देखनेका अवसर नहीं मिल सका।

इस ग्रन्थके उत्तरवर्ती साहित्यमें विशेष ख्याति प्राप्त करनेके दो कारण हैं, एक ध्वनिविरोध और दूसरा रसनिष्पत्तिविषयक सिद्धान्त। ये दोनों सिद्धान्त बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और इन दोनोंके विषयमें भट्टनायकने एकदम नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया था। इसलिए उसे आलोचनाका सामना करना ही पड़ा। भट्टनायकके बाद ही अभिनवगुप्तका काल आ जाता है और अभिनवगुप्तको ध्वन्यालोकपर 'लोचन' लिखते समय तथा 'नाट्यशास्त्र'पर 'अभिनवभारती' लिखते समय भट्टनायकके ध्वनिविरोधी तथा रसनिष्पत्तिविषयक दोनों सिद्धान्तोंकी आलोचना करनी पड़ी है। इसलिए भट्टनायकके सबसे बड़े विरोधी अभिनवगुप्त हैं। उन्होंने भट्टनायकपर बड़े कड़े प्रहार किये हैं।

भट्टनायकने ध्वनिसिद्धान्तका खण्डन किया है, किन्तु रसकी स्थिति तो वे मानते ही हैं। वह भी ध्वनिके अन्तर्गत आता है। इसलिए भट्टनायकके ध्वनिविरोधका उपहास करते हुए अभिनवगुप्तने 'लोचन'में (पृ० २० पर) लिखा है—

वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्।'

भट्टनायक मीमांसक थे। मीमांसक वेदको ही परमप्रमाण मानते हैं। वेदको 'काव्यप्रकाश' आदिमें 'प्रभु-शब्द' कहा है, अर्थात् वेद राजाज्ञाके समान है। राजाज्ञामें व्यञ्जनाका अवसर नहीं होता है। उसमें अभिधासे जो सीधा अर्थ निकलता है उसीको ग्रहण किया जाता है। इसलिए मीमांसकके यहाँ व्यञ्जनाका कोई मूल्य नहीं है। 'ध्वन्यालोक'में अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनिके उदाहरणरूपमें 'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' यह प्रसिद्ध श्लोक दिया गया है। इसमें दर्पणके लिए 'अन्ध'

विशेषणका प्रयोग किया गया है। किन्तु नेत्रहीनत्वरूप अन्धत्व तो दर्पणमें बन नहीं सकता है। इसलिए 'अन्ध' शब्द अप्रकाशातिशयत्वको सूचित करनेवाला होनेसे इसको अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनिका उदाहरण ध्वनिकारने माना है। भट्टनायकने इसका खण्डन करके इस श्लोककी व्याख्या कुछ अन्य प्रकारसे की है। भट्टनायककी उस व्याख्याका उपहास करते हुए अभिनवगुप्तने 'लोचन' (पृ० ६३ पर) लिखा है—'जैमिनिसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपि', इस प्रकारकी अर्थयोजना आपके मीमांसादर्शनमें ही होती होगी काव्यमें नहीं, अर्थात् तुम काव्यकी योजनाका प्रकार नहीं समझते हो। इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक'के प्रथम उद्योतकी १३ वीं कारिकामें आये हुए 'व्यंक्तः काव्यविशेषम्'में 'व्यंक्तः' पदमें द्विवचनका खण्डन भट्टनायकने किया था। इसकी आलोचना करते हुए अभिनवगुप्तने 'तेन भट्टनायकेन द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव' उसे गजनिमीलिका या प्रमाद कहकर उसका उपहास किया है।

रसनिष्पत्तिके विषयमें भी भट्टनायकका अपना अलग सिद्धान्त है। उनके सिद्धान्तका उल्लेख 'काव्यप्रकाश'में किया गया है। उन्होंने शब्दमें अभिधाव्यापार, भावकत्वव्यापार तथा भोजकत्वव्यापार तीन प्रकारके व्यापार माने हैं। अभिधाव्यापारके द्वारा काव्यका सामान्य अर्थ उपस्थित होता है। भावकत्वव्यापार सीता-राम आदिके विशेष स्वरूपका अपहरण कर उनका साधरणीकरण करता है और भोजकत्वव्यापार सामाजिकको रसकी अनुभूति कराता है। जयरथने 'अलङ्कारसर्वस्व'की टीकामें (पृ० ९ पर) तथा हेमचन्द्रने 'काव्यानुशासनविवेक'में (पृ० ६१ पर) भट्टनायकके इस विषयके प्रतिपादक श्लोकोंको निम्नलिखितरूपमें उद्धृत किया है—

'अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः॥'

इनका अभिप्राय 'अलङ्कारसर्वस्व'की टीकामें (पृ० ९ पर) निम्नलिखित प्रकार दिया गया है—

'भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्यैव प्रौढोक्त्याऽभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्रापि अभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाऽङ्गीकृतः।'

१४. कुन्तक

कुन्तक साहित्यशास्त्रके एक प्रमुख आचार्य हैं। ये साहित्यके परम मान्य वक्रोक्तिसम्प्रदायके संस्थापक माने जाते हैं। उनका समय आनन्दवर्धनके बाद राजशेखर तथा महिमभट्टके बीचमें पड़ता है। उन्होंने 'वक्रोक्तिजीवित'में (पृ० १९६ पर) 'यस्मादत्र ध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन' लिखकर ध्वनिकार तथा (पृ० १५६ पर) 'भवभूतिराजशेखरविरचितेषु बन्धसौन्दर्यसुमनेषु मुक्तकेषु परिदृश्यते' लिखकर राजशेखरका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे आनन्दवर्धन और राजशेखरके भी बाद हुए हैं। इधर व्यक्तिविवेककार महिमभट्टने—

'काव्यकाञ्चनकशाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निर्दशितो मया॥'

—व्यक्तिविवेक, पृ० ५८

इस श्लोकमें स्पष्टरूपसे कुन्तकके नामका उल्लेख किया है इसलिए यह निश्चय है कि कुन्तक महिमभट्टके पूर्ववर्ती हैं। राजशेखरका काल उनके शिष्य कन्नौजके राजा महेन्द्रपाल तथा उनके पुत्र महिपालके कालके आधारपर दशम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग निर्धारित किया जाता है और महिमभट्टका काल ग्यारहवीं शताब्दीके पहिले ही मानना होगा, क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दीमें अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने महिमभट्टके मतका उल्लेख किया है। इसलिए महिमभट्टके पूर्ववर्ती होनेके कारण कुन्तकका काल दशम शताब्दीका अन्तिम भाग मानना होगा। राजशेखर, कुन्तक और महिमभट्ट ये सब थोड़े-थोड़े अन्तरसे ही पूर्व-पश्चाद्वर्ती हैं, वैसे ये सब दशम शताब्दीके ही साहित्यक महापुरुष हैं।

कुन्तकका एकमात्र ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' है। किन्तु उस एक ही ग्रन्थने कुन्तकके नामको अमर कर दिया है। महिमभट्टके अतिरिक्त गोपालभट्टने 'साहित्यसौदामिनी' नामक ग्रन्थके आरम्भमें कुन्तककी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'वक्रानुरञ्जिनीमुक्ति शुक इव मुखे वहन्।
कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकपञ्जरे॥

'ध्वन्यालोक' आदि ग्रन्थोंके समान 'वक्रोक्तिजीवित'में भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण, तीन भाग हैं। कारिका और वृत्ति दोनोंके लेखक कुन्तक ही हैं। उदाहरण प्रसिद्ध काव्यग्रन्थोंसे लिये गये हैं। ग्रन्थ चार उन्मेषोंमें विभक्त किया गया है। प्रथम उन्मेषमें काव्यके प्रयोजन, लक्षण तथा प्रतिपाद्य विषय षड्विधवक्रताका सामान्य उल्लेख किया गया है। द्वितीय उन्मेषमें षड्विध-वक्रतामेंसे १. वर्णविन्यासवक्रता, ३. पदपूर्वार्द्धवक्रता तथा ३. प्रत्ययवक्रता इन तीन प्रकारकी वक्रताओंका प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उन्मेषमें वाक्यवक्रताका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उसीके भीतर अलङ्कारोंका अन्तर्भाव हो जाता है। चतुर्थ उन्मेषमें वक्रोक्तिके अन्तिम दो भेदों अर्थात् प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्धवक्रताका निरूपण किया गया है।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। वैसे वे लक्ष्य-व्यङ्ग्य अर्थ भी मानते हैं, किन्तु उनका अन्तर्भाव वाच्यमें ही कर लेते हैं—'यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वात् उपचारात् तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्यव्यङ्ग्य-योरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यदुपचारात् वाच्यत्वमेव' (का० १-८ का०) और उस वाचकत्वका अर्थ 'कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्' किया है।

१५. महिमभट्ट

कुन्तकके बाद महिमभट्टका स्थान आता है। इनका उल्लेख ग्यारहवीं शताब्दीमें होनेवाले अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यकने किया है और इन्होंने वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकका उल्लेख किया है। इसलिए कुन्तक तथा रुय्यकके बीचमें महिमभट्टका समय दशम शताब्दीका अन्तिम भाग पड़ता है। महिमभट्ट भी ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। आनन्दवर्धनाचार्य और अभिनवगुप्तने ध्वनिको काव्यका आत्मा सिद्ध करनेका जैसा प्रबल प्रयत्न किया है उतना ही अधिक उस सिद्धान्तका उग्र विरोध भी साहित्य-शास्त्रमें हुआ है। अभिनवगुप्तके बाद मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट आदि सभी आचार्य ध्वनिके विरोधी हैं। किसीने उग्र विरोध किया है, किसीने हलका। किन्तु इनमेंसे कोई भी ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेको तैयार नहीं है। इन विरोधियोंको उनकी शास्त्रीय मान्यताके आधारपर तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मुकुलभट्ट तथा भट्टनायक ये दोनों मीमांसक हैं। मीमांसा अभिधाप्रधान शास्त्र है, उसमें व्यञ्जना और ध्वनिका कोई स्थान नहीं हो सकता है इसलिए

इन दोषोंने अपनी शास्त्रीय मान्यताके अनुसार व्यञ्जना और ध्वनिसिद्धान्तका खण्डन किया है। कुन्तक साहित्यिक आचार्य हैं। उन्होंने शुद्ध शाहित्यिक दृष्टिसे ध्वनिको काव्यका आत्मा माननेसे निषेध कर दिया और उसके स्थानपर वक्रोक्तिको काव्यका जीवनाधायक तत्त्व माना है। महिमभट्ट नैयायिक हैं इसलिए उन्होंने न्यायकी पद्धतिसे ध्वनिको सामान्यरूपसे और उसके उदाहरणोंको विशेषरूपसे अनुमानके अन्तर्गत करनेका यत्न किया है।

महिमभट्टका एकमात्र ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' है। इसके निर्माणका उद्देश्य ध्वनिको अनुमानके भीतर अन्तर्भुक्त करना ही है। इस बातका प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थके आरम्भमें निम्नलिखित श्लोकमें किया है—

'अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्युव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥'

महिमभट्टका केवल एक ही ग्रन्थ पाया जाता है किन्तु इसके द्वारा उनको पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। वे अपने मुख्य नामकी अपेक्षा 'व्यक्तिविवेकार'के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। ये भी कश्मीर-निवासी थे। इनके पिताका नाम 'श्रीधैर्य' और गुरुका नाम 'श्यामल' था। इन्होंने 'व्यक्तिविवेक'के अतिरिक्त 'तत्त्वोक्तिकोश' नामक किसी और ग्रन्थकी भी रचना की थी, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। उसका उल्लेख उन्होंने स्वयं 'इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितं शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशशास्त्रे इति नेह प्रपञ्चितम्' (व्यक्तिविवेक, पृष्ठ १८. अनन्तशयन संस्करण) इस रूपमें 'व्यक्तिविवेक'में किया है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थमें तीन'विमर्श' हैं। प्रथम विमर्शमें ध्वनिका प्रबल रूपसे खण्डन करके ध्वनिके सारे उदाहरणोंका अनुमानके भीतर अन्तर्भाव दिखलाया है। द्वितीय विमर्शमें काव्यदोषोंका निरूपण किया है। उसमें अनौचित्यको काव्यका मुख्य दोष माना है। इसके शब्द तथा अर्थविषयक या अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग दो भेद किये हैं। अन्तरङ्ग अनौचित्यके भीतर रसदोषका समावेश किया है और बहिरङ्ग अनौचित्यके १. विधेयाविमर्श, २. प्रक्रमभेद, ३. क्रमभेद, ४. पौनरुक्त्य और ५. वाच्यावचन ये पाँच भेद किये हैं। तृतीय विमर्शमें ध्वनिके ४० उदाहरणोंका अनुमानमें अन्तर्भाव दिखलाया है।

१६. क्षेमेन्द्र

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदायके, वामन रीतिसम्प्रदायके और कुन्तक वक्रोक्ति-सम्प्रदायके संस्थापकके रूपमें साहित्यशास्त्रके इतिहासमें प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने औचित्य-सम्प्रदायके संस्थापकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने 'कविकण्ठाभरण' ग्रन्थमें लिखा है—

'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।'

इसी प्रकार 'औचित्यविचारचर्चा'में भी—'राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः' लिखकर 'अनन्तराज'के नामका उल्लेख किया है। अनन्तराज नामके राजाने कश्मीरमें १०२८ से १०६३ तक राज्य किया। इसलिए यही काल क्षेमेन्द्रका सिद्ध होता है। क्षेमेन्द्रके पिताका नाम 'प्रकाशेन्द्र' और बाबाका नाम 'सिन्धु' था। अपने 'बृहत्कथामञ्जरी' ग्रन्थमें इन्होंने 'श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः' लिखकर अभिनवगुप्तको अपना साहित्यशास्त्रका गुरु माना है। कश्मीरके अनन्तराजके बाद उनके पुत्र 'कलश' राजसिंहासनपर आसीन हुए। अनन्तराजने अपने जीवनकालमें ही कलशको राज्यभार सौंप दिया था। अनन्तराजका शरीरान्त यद्यपि १०८१ ई० में हुआ था किन्तु उन्होंने १०६३ में ही राज्यभार कलशको सौंप दिया था। क्षेमेन्द्रने अपने 'समयमातृका' ग्रन्थकी रचना १०५०

में अनन्तराजके कालमें की थी। किन्तु 'दशावतार' ग्रन्थकी रचना उसके १६ वर्ष बाद १०६६ में कलशके राज्यकालमें की थी।

इनके ग्रन्थोंकी सूची बहुत लम्बी है। लगभग ४० ग्रन्थोंकी रचना इन्होंने की है। पर वे सब उपलब्ध नहीं हैं। १. भारतमञ्जरी, २. बृहत्कथामञ्जरी, ३. औचित्यविचारचर्चा, ४. कविकण्ठाभरण, ५. सुवृत्ततिलक, ६. समयमातृका आदि कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थोंके नामोंका उल्लेख किया है। १. अवसरसार, २. अमृततरङ्गकाव्य, ३. कनकजानकी, ४. कविकर्णिका, ५. चतुर्वर्गसंग्रह, ६. चित्रभारतनाटक, ७. देशोपदेश, ८. नीतिलता, ९. पद्यकादम्बरी, १०. बौद्धावदानकल्पलता, ११. मुक्तावलीकाव्य, १२. मुनिमतमीमांसा, १३. ललितरत्नमाला, १४. लावण्यवतीकाव्य, १५. वात्स्यायनसूत्रसार, १६. विनयवती, १७. शशिवंश इन सत्रह ग्रन्थोंके नाम मिलते हैं।

क्षेमेन्द्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे 'औचित्यविचारचर्चा'का ही अलङ्कारशास्त्रके साथ विशेषरूपसे सम्बन्ध माना जा सकता है। इसीके कारण उनकी गणना आलङ्कारिक आचार्योंमें की जाती है। इसमें उन्होंने औचित्यको रसका भी प्राण कहा है—

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥'

दूसरी जगह अनौचित्यको रसभङ्गका कारण और औचित्यको रसका परम रहस्य कहा है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥'

औचित्य क्या है इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥'

'सुवृत्ततिलक' ग्रन्थमें छन्दोंका वर्णन है। उसमें ग्रन्थकारने यह भी दिखलाया है कि किस कविका किस छन्दपर विशेष अधिकार है; जैसे, अभिनन्द अनुष्टुपमें, पाणिनि उपजातिमें, भारवि वंशस्थमें, कालिदास मन्दाक्रान्तामें, रत्नाकर वसन्ततिलकामें, भवभूति शिखरिणीमें और राजशेखर शार्दूलविक्रीडितमें विशेष चमत्कार उत्पन्न करते दीखते हैं। 'कविकण्ठाभरण'में कवित्वकी प्राप्ति अथवा उसमें उत्कर्षप्राप्तिके उपायोंका वर्णन किया है। इसमें पाँच सन्धियाँ हैं और उनके प्रतिपाद्य विषयका संग्रह निम्नलिखित एक श्लोकमें दिया गया है—

१ अत्राकवेः कवित्वाप्तिः, २ शिक्षाप्राप्तगिरः कवेः।
३ चमत्कृतिश्च शिक्षाप्तौ, ४ गुणदोषोद्गतिस्ततः॥
५ पश्चात् परिचयप्राप्तिरित्येते पञ्चसन्धयः॥

क्षेमेन्द्रने अपनेको अभिनवगुप्तका शिष्य कहा है। इन्हीं अभिनवगुप्तके एक शिष्य और हैं क्षेमराज। कुछ विद्वान् इन दोनोंको भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। क्षेमराजने शैवदर्शनके ऊपर अनेक रचनाएँ की हैं। उन्होंने अभिनवगुप्तके 'परमार्थसार'पर व्याख्या भी लिखी है। भेदवादियोंका कहना है कि क्षेमराज शैव थे और क्षेमेन्द्र वैष्णव। क्षेमेन्द्रने विष्णुके दस अवतारोंके विषयमें अपना

'दशावतारचरित' लिखा है। अभेदवादियोंका कहना है कि क्षेमेन्द्र पहिले शैव थे, बादको सोमाचार्य द्वारा वैष्णव सम्प्रदायमें दीक्षित किये गये। क्षेमेन्द्र अपने ग्रन्थोंमें अपनेको प्रायः व्यासदास नामसे लिखते हैं, जैसे 'दशावतारचरित'के निम्नाङ्कित श्लोकमें पाया जाता है—

'इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासान्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥' १०–४१

१७. भोजराज

धारानरेश राजा भोज भारतीय इतिहासमें विद्वानोंके आश्रयदाता एवं उदार दानशील राजाके रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दीमें माना जाता है। इनकी विद्वत्सेवा एवं दानशीलताकी सारे देशमें ख्याति थी। यहाँतक कि कश्मीर राज्यके इतिहास 'राजतरङ्गिणी'में भी इनके इन गुणोंकी प्रशंसा की गयी है। कश्मीरके राजा अनन्तराजकी चर्चा हम अभी कर चुके हैं, भोजराज उन्हीं अनन्तराजके समकालीन हैं। 'राजतरङ्गिणी'की सप्तम तरङ्गमें कश्मीर-नरेश अनन्तराज तथा मालवाधीश भोजराज दोनोंकी समानरूपसे विद्वत्प्रियताका उल्लेख ग्रन्थकारने निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ॥' ७–२५९

इसमें 'स च' इस सर्वनाम 'स' पदसे प्रकृत वर्ण्यमान कश्मीराधिपति अनन्तराजका ग्रहण होता है। अनन्तराजका समय ग्यारहवीं शताब्दीमें था, इसी प्रकार भोजराजका समय भी ग्यारहवीं शताब्दीमें निश्चित माना जाता है। भोजराजके समयके निर्णयके लिए इस प्रमाणके अतिरिक्त उनका स्वयं एक शिला-दानपत्र संवत्,१०७८ सन् १०२१ का पाया जाता है। इसमें भोजराजने गोविन्दभट्टके पुत्र धनपतिभट्ट नामक किसी ब्राह्मणको ग्रामदान करनेका उल्लेख किया है। उसके अन्तमें उस दानपत्रकी तिथि आदि इस प्रकार दी है—

'इति। संवत् १०७८ चैत्र सुदी १४ स्वयमाज्ञा मंगलं महाश्रीः। स्वहस्तोऽयं भुजदेवस्य।'

इस दानपत्रमें अपने उत्तराधिकारी अन्य सब लोगोंसे प्रार्थना की है कि जो दान दे दिया गया है उसको कोई वापस लेनेका यत्न न करे। उनमेंसे दो श्लोक निम्नलिखित प्रकार हैं—

'सर्वानेतान् भाविनः पार्थिवेन्द्रान् भूयो भूयो याचते रामभद्रः।
सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणाँ काले काले पालनीयो भवद्भिः॥
इति कमलदलाम्बुबिन्दुलोलां श्रियमनुचिन्त्य मनुष्यजीवितं च।
सकलमिदमुदाहृतं च बुद्ध्वा न हि पुरुषैः परकीर्तयो विलोपनीयाः॥

राजा भोज केवल विद्वानोंका आदर करनेवाले ही नहीं थे अपितु स्वयं भी एक महान् विद्वान् और अच्छे साहित्यिक थे। अलङ्कारशास्त्रके विषयमें उनके लिखे हुए दो ग्रन्थ मिलते हैं—१. 'सरस्वती-कण्ठाभरण' और २ 'शृङ्गारप्रकाश'। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' पाँच परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें दोष और गुणका विवेचन है। इसमें इन्होंने पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ तीनोंके १६-१६ दोष माने हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों के २४-२४ गुण माने हैं। द्वितीय परिच्छेदमें २४ शब्दालङ्कारों तथा चतुर्थ परिच्छेदमें २४ उभयालङ्कारोंका वर्णन किया है। पञ्चम परिच्छेदमें रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियोंका वर्णन किया है। इसके ऊपर १४ वीं शताब्दीमें तिरहुतके राजा रामसिंहदेवके

आग्रहसे महामहोपाध्याय रत्नेश्वरने 'रत्नदर्पण' नामक टीका लिखी थी। इस टीकाके सहित यह ग्रन्थ काव्यमाला सीरीजमें निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है।

भोजराजका दूसरा ग्रन्थ 'शृङ्गारप्रकाश' है। यह बड़ा विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें ३६ 'प्रकाश' हैं। ग्रन्थ हस्तलिखित रूपमें पूरा उपलब्ध है। परन्तु अभी पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है। इस ग्रन्थपर प्रथम आठ प्रकाशोंमें शब्द तथा अर्थविषयक अनेक वैयाकरणोंके मत दिये गये हैं। नवम-दशम प्रकाशोंमें गुण तथा दोषोंका विवेचन है। ग्यारहवें-बारहवें प्रकाशमें महाकाव्य तथा नाटकका वर्णन है। शेष २४ प्रकाशोंमें उदाहरण सहित रसोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें, जैसा कि ग्रन्थनामसे ही प्रतीत होता है, शृङ्गाररसको ही प्रधान रस अथवा एकमात्र रस माना है—

'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः॥'

किन्तु भोजराजका यह शृङ्गार सामान्य शृङ्गार नहीं है, उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों-का समावेश हो जाता है। 'मन्दारमरन्दचम्पू' (बिन्दु ७, पृ० १०७) में लिखा है "अथ भोजनृपादीनां मतमत्र प्रकाश्यते। 'रसो वै सः' इति श्रुत्वा रस एकः प्रकीर्त्तितः। अतो रसः स्याच्छृङ्गार एक एवेतरे तु न॥ धर्मार्थकाममोक्षाख्यभेदेन स चतुर्विधः॥" 'शृङ्गारप्रकाश' अलङ्कारशास्त्रके ग्रन्थोंमें कदाचित् सबसे अधिक विशालकाय ग्रन्थ है। भोजराजकी इस उत्तम रचनाने साहित्यिक जगत्में उनका नाम चिरकालके लिए अमर कर दिया है।

१८. काव्यप्रकाशकार मम्मट

मम्मटका काल तथा वंश

भोजराजके बाद मम्मटाचार्यका काल आता है। अलङ्कारसाहित्यके निर्माताओंकी अब-तककी धारामें दण्डी, राजशेखर और भोजराजके अतिरिक्त और सभी आचार्य कश्मीर-निवासी थे। इसी प्रकार ये मम्मटाचार्य भी कश्मीर-निवासी हैं यह बात उनके नामसे ही प्रतीत होती है। परन्तु इनके जीवनवृत्तादिका और कुछ अधिक परिचय नहीं मिलता है। कश्मीरी पण्डितोंकी परम्परागत प्रसिद्धिके अनुसार मम्मट 'नैषधीयचरित'के रचयिता महाकवि श्रीहर्षके मामा माने जाते हैं। किन्तु यह प्रवादमात्र जान पड़ता है, क्योंकि महाकवि श्रीहर्ष स्वयं कश्मीरी नहीं थे। 'काव्यप्रकाश'की 'सुधा-'सुधासागर' टीकाके निर्माता भीमसेनने मम्मटके परिचयके रूपमें कुछ पद्य लिखे हैं, उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट कश्मीरदेशीय जैयटके पुत्र थे। उन्होंने वाराणसीमें जाकर विद्याध्ययन किया था। पतञ्जलि-प्रणीत 'महाभाष्य'के टीकाकार कैयट तथा यजुर्वेदभाष्यकार उव्वट दोनों मम्मटके छोटे भाई थे। इस भावका वर्णन भीमसेनने अपने श्लोकोंमें निम्नलिखित प्रकार किया है—

'शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वमभूत् काश्मीर-देशे पुमान्।

श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसंज्ञया श्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन् ।।
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात् ।
तत्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ।।
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ।
श्रीमान् कैयट औव्वटो ह्यवरजौ यच्छात्रतामागतौ
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतौ ।।'

इस विवरणके अनुसार मम्मटका जन्म 'जैयटगेहिनी' के सुजठरसे हुआ था। अर्थात् वे जैयटके पुत्र थे और 'श्रीमान् कैयट औव्वटौ ह्यवरजौ' कैयट और औव्वट उनके छोटे भाई थे, जिन्होंने 'भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय' महाभाष्य तथा वेदोंपर व्याख्या लिखी थी। इस प्रकार मम्मट रूपमें स्वयं सरस्वती देवीने कश्मीरदेशमें पुरुषके रूपमें अवतार लिया था और साहित्यशास्त्रपर सूत्रोंका निर्माण, उसपर स्वयं काव्यप्रकाश-वृत्तिकी रचना की थी।

यह विवरण सुधासागरकार भीमसेनने मम्मटाचार्यके विषयमें अपने ग्रन्थमें प्रस्तुत किया है। किन्तु इसमें जो कैयट तथा औव्वट या उव्वटको मम्मटका अनुज कहा है वह ठीक प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि उव्वटकृत वाजसनेयसंहिता-भाष्यमें उनका परिचय इस प्रकार मिलता है—

'आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना ।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ।।'

उव्वट द्वारा स्वयं प्रदत्त इस विवरणके अनुसार उव्वटके पिताका नाम 'वज्रट' है, "जैयट' नहीं, और उनका वेदभाष्य भोजराजके शासनकालमें लिखा गया है। किन्तु मम्मटका समय भोजराजके समकाल नहीं अपितु उनके बाद पड़ता है क्योंकि मम्मटने स्वयं दशम उल्लासमें उदात्त अलङ्कारके उदाहरणरूपमें जो पद्य दिया है उसमें अन्तमें 'भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्', वह सब भोजराजके दानका फल है, इस रूपमें भोजराजके नामका उल्लेख किया है। भोजराजका शासनकाल, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ९९६ ई० से १०५१ ई० पर्यन्त माना जाता है। मम्मट उनके उत्तरवर्ती जान पड़ते हैं। किन्तु यदि कथञ्चित् मम्मटको भोजराजका समकालीन भी मान लिया जाय तो भी उव्वटको उनका अनुज कहना कठिन है। हाँ, कैयटको उनका अनुज माना जा सकता है, क्योंकि कैयटने भी 'कैयटो जैयटात्मजः'के अनुसार अपनेको जैयटका पुत्र कहा है। किन्तु उव्वट तो वज्रटके पुत्र हैं। इसलिए उव्वटको मम्मटका अनुज बतलानेवाला भीमसेनका लेख सन्दिग्ध जान पड़ता है।

इसके अतिरिक्त 'शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्' लिखकर मम्मटको विद्याध्ययनके लिए कश्मीर-से 'शिवपुरी' वाराणसी भेजा है। यह बात भी कुछ युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होती। कश्मीर तो स्वयं विद्याका केन्द्र था। साहित्य शास्त्रके अबतक जितने आचार्य हुए थे उनमेंसे दण्डी, राजशेखर और भोजराजको छोड़कर सभी आचार्य कश्मीरमें ही उत्पन्न हुए थे। जो तीन आचार्य कश्मीरसे बाहरके थे, काशीके साथ उनका भी कोई सम्बन्ध नहीं था। साहित्यशास्त्रकी दृष्टिसे काशीका कोई विशेष महत्त्व

उस समय नहीं था । इसलिए मम्मटके लिए कश्मीरको छोड़कर काशी आनेका कोई विशेष प्रयोजन या आकर्षण नहीं प्रतीत होता है । इन सब कारणोंसे भीमसेनका मम्मटविषयक उपर्युक्त परिचय अप्रामाणिक मालूम होता है । भीमसेनका यह लेख मम्मटके लगभग ६०० वर्ष बाद सन् १७२३ में लिखा गया है । इसलिए उसमें अधिकतर कल्पनासे काम लिया गया है । उव्वटने अपने ऋक्-प्रातिशाख्यमें अपनेको वज्रटका पुत्र लिखा है और वाजसनेय संहिताभाष्यमें 'भोजे राज्यं प्रशासति' लिखा है; इन दोनों बातोंसे उव्वटका सम्बन्ध मम्मटसे नहीं जुड़ता है ।

युग्मकर्तृत्व

'काव्यप्रकाश'के कर्ताके रूपमें साधारणतः मम्मट-ही प्रसिद्ध हैं । किन्तु वस्तुतः वे अकेले ही इस ग्रन्थके निर्माता नहीं हैं । इसमें मम्मटके अतिरिक्त कश्मीरके दूसरे विद्वान् 'अल्लट'का भी सहयोग है । वह सहयोग कितने अंशमें है इस विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है, किन्तु 'काव्यप्रकाश' केवल अकेले मम्मटकी रचना नहीं है, उसकी रचनामें अल्लटका भी हाथ है इस विषयमें मतभेद नहीं है । अधिकांश टीकाकार इस बातमें एकमत हैं । 'काव्यप्रकाश'के अन्तमें एक श्लोक निम्नलिखित प्रकार दिया गया है—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ।।'

'काव्यप्रकाश'के सबसे पूर्ववर्ती टीकाकार माणिक्यचन्द्रने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटनावशादखण्डायते ।'

इसी प्रकार 'काव्यप्रकाश'की 'सङ्केत' टीकाके निर्माता रुचकने इसकी व्याख्यामें लिखा है—

'एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वात् द्विखण्डोऽपि ।'

इन दोनों टीकाकारोंने इस बातकी ओर सङ्केत तो किया है कि ग्रन्थका आरम्भ अन्य विद्वान्के द्वारा अर्थात् मम्मटाचार्यके द्वारा किया गया, किन्तु किसी कारणसे वे इसको समाप्त नहीं कर सके, तब इसकी समाप्ति दूसरे विद्वान्के द्वारा की गयी । किन्तु दो निर्माताओंके द्वारा बनाये जानेपर भी यह ग्रन्थ अखण्ड-सा प्रतीत होता है । परन्तु इन टीकाकारोंने न तो स्पष्टरूपसे इस बातका उल्लेख किया कि पूर्व ग्रन्थकार अर्थात् मम्मटने ग्रन्थका कितना भाग लिखा और दूसरे ग्रन्थकारने कितना भाग लिखा और न इस बातका ही सङ्केत किया कि वह दूसरा विद्वान्, जिसने अपूर्ण 'काव्यप्रकाश'को पूर्णता प्रदान की, कौन था । इन दोनों बातोंका उल्लेख स्पष्टरूपसे सबसे पहिले 'काव्यप्रकाशनिदर्शना' नामक टीकाके निर्माता राजानक आनन्दने (१६८५) निम्नलिखित प्रकार किया है—

'कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा ।।'

इस श्लोकसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मटाचार्यने परिकर अलङ्कारपर्यन्त 'काव्यप्रकाश'की रचना की, उसके बाद कदाचित् उनका देहावसान हो गया या किसी अन्य कारणसे वे ग्रन्थको समाप्त नहीं कर सके तो शेष ग्रन्थकी रचना 'अल्लट' या 'अलट' नामके विद्वान्ने करके इस ग्रन्थको पूरा किया। इस प्रकारकी घटना 'कादम्बरी' ग्रन्थके विषयमें भी हुई है। 'कादम्बरी'के निर्माता बाणभट्ट कादम्बरीके केवल पूर्वार्द्धभागकी ही रचना कर सके थे। उसके बाद उसके उत्तरार्द्धभागकी रचना उनके पुत्रने की थी। इस प्रकार मम्मटाचार्यके इस अपूर्ण 'काव्यप्रकाश'की समाप्ति अल्लट या अलकसूरिने की।

यह एक मत हुआ। इसके अनुसार दशम उल्लासके परिकर अलङ्कारतकके अधिकांश ग्रन्थकी रचना मम्मटने की है। उनके बाद जो थोड़ा-सा भाग रह गया था उसकी पूर्ति अलकसूरि या अल्लट-सूरिने की थी। पर इसके अतिरिक्त एक दूसरा मत भी पाया जाता है। उसके अनुसार 'काव्यप्रकाश'का एक भाग मम्मटाचार्यका और दूसरा भाग अल्लटसूरिका लिखा हुआ है यह बात नहीं है अपितु साराका सारा ग्रन्थ दोनों विद्वानोंकी सम्मिलित रचना है। जैसे 'नाटचदर्पण' नामक ग्रन्थकी रचना रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनोंने मिलकर की है। सम्पूर्ण 'नाटचदर्पण' गुणचन्द्र और रामचन्द्रकी सम्मिलित कृति है। इसी प्रकार सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' मम्मट और अल्लटकी सम्मिलित कृति है। इस दूसरे मतका उल्लेख भी उसी 'काव्यप्रकाशनिदर्शना' टीकामें राजानक आनन्दने अन्योंके मतको दिखलाते हुए निम्नलिखित प्रकार किया है—

'अन्येनाप्युक्तम्—
काव्यप्रकाशदशकेऽपि निबन्धकृद्भ्यां
द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसवत्त्वलाभः।'

श्री भण्डारकरने संवत् १२१५ (सन् ११५८) में लिखी गयी 'काव्यप्रकाश'की एक पाण्डुलिपि के अन्तमें पुष्पिकामें 'इति राजानकमम्मटालकयोः' इस प्रकारका लेख पाया है। इससे भी सम्पूर्ण 'काव्य प्रकाश' मम्मट तथा अल्लट दोनोंकी सम्मिलित रचना है इस मतकी पुष्टि होती है। 'अमरुक-शतक'की टीकामें उसके निर्माता अर्जुनवर्मदेवने भी इसी मतकी पुष्टि की है। उन्होंने 'भवतु विदितं' इत्यादि श्लोककी व्याख्यामें पृष्ठ २९ पर लिखा है—'यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्याम्—"प्रसादे वर्तस्व" इत्यादि'। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे न केवल परिकरालङ्कारके बादवाले भागको ही अलक-विरचित मानते हैं अपितु सप्तम उल्लासको भी अर्थात् सारे ग्रन्थको ही दोनोंकी सम्मिलित कृति मानते हैं। 'अमरुकशतक'के टीकाकार अर्जुनवर्मदेवने एक जगह और इसी बातका उल्लेख किया है। 'लीलातामरसाहत' आदि ('काव्यप्रकाश' उदाहरणसंख्या २३८) 'अमरुकशतक'का बड़ा सुन्दर श्लोक है। इसमें 'वायु' पद आया है। 'काव्यप्रकाश'ने उस 'वायु' पदको जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलताका उदाहरण मानकर इस श्लोकको अश्लीलताके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। इसपर टिप्पणी करते हुए अर्जुनवर्मदेवने लिखा है—

'अत्र केचिद् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते।...तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ। किन्तु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी।'

इसमें भी 'काव्यप्रकाशकारौ' यह द्विवचनका उल्लेख यह बतलाता है कि अर्जुनवर्मदेवकी दृष्टिमें 'काव्यप्रकाश'का सम्पूर्ण भाग मम्मट तथा अल्लट दोनों विद्वानोंकी सम्मिलित रचना है।

'अमरुकशतक'के टीकाकार अर्जुनवर्मदेव मालवाधीश और धारानगरीके राजा भोजराज (जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है)के वंशधर हैं। वे भोजके बाद धाराके राजसिंहासनको अलङ्कृत करनेवाले १३ वें राजा थे। १२११ से लेकर १२१६ ई० तकके उनके शिलालेख पाये जाते हैं, अर्थात् वे काव्यप्रकाशकारके लगभग १०० वर्ष बाद हुए हैं।

'काव्यप्रकाश'की 'सङ्केत' टीकाके प्रथम तथा दशम उल्लासके अन्तकी पुष्पिकाओंमें एक और सङ्केत मिलता है। इसके प्रथम उल्लासके अन्तकी और दशम उल्लासके अन्तकी पुष्पिकाएँ निम्न-लिखित प्रकार हैं—

'इति श्रीमद्राजानकमल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसङ्केते प्रथम उल्लासः।'

इसमें 'काव्यप्रकाश'के निर्मातारूपमें राजानक मल्ल (अलकके स्थानपर), मम्मट और रुचक तीन नाम दिये हैं। इसी प्रकार दशम उल्लासकी पुष्पिकामें फिर 'राजानकमम्मट-अलक-रुचकानाम्' इन्हीं तीन नामोंका उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि 'सङ्केत' टीकाके निर्माता रुचक 'काव्य-प्रकाश'को दो की नहीं, तीनकी कृति मानते हैं। पर यह बात नहीं है। रुचकने इस स्थलपर 'काव्य-प्रकाश' मूल ग्रन्थके साथ अपनी 'संङ्केत' टीकाको भी सम्मिलित करके पुष्पिकाएँ दी हैं। इसलिए 'काव्यप्रकाश'के मम्मट तथा अलक निर्माताओंके साथ टीकाकारके रूपमें अपने नामका भी समावेश कर दिया है। यहाँ ग्रन्थकार जिस ग्रन्थकी पुष्पिका लिख रहे हैं वह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ नहीं अपितु 'काव्यप्रकाशसङ्केत' ग्रन्थ है। उसके तीन रचयिता हो जाते हैं, 'काव्यप्रकाश'के नहीं। इसलिए 'काव्यप्रकाश'के विषयमें युग्मकर्तृत्ववाला सिद्धान्त प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त माना जाता है।

कारिकाकर्तृत्व

'काव्यप्रकाश'के युग्मकर्तृत्व-सिद्धान्तके दो पक्ष हमने ऊपर दिखलाये। इनमेंसे एक पक्षके अनुसार 'काव्यप्रकाश'का प्रारम्भसे लेकर परिकरालङ्कारतकका भाग मम्मटका और शेष अन्तिम भाग अलकसूरिका लिखा हुआ है। दूसरे मतके अनुसार साराका सारा 'काव्यप्रकाश' मम्मट तथा अलकसूरिकी सम्मिलित रचना है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश'के युग्मकर्तृत्वविषयक ये दो सिद्धान्त बनते हैं। इसी प्रसङ्गमें एक और तीसरा सिद्धान्त भी है। वह भी 'काव्यप्रकाश'को दो व्यक्तियोंकी रचना मानता है। किन्तु उसकी विचारशैली भिन्न प्रकारकी है। 'ध्वन्यालोक', 'व्यक्तिविवेक' आदि अन्य सभी ग्रन्थोंके समान 'काव्यप्रकाश'में भी तीन भाग हैं—१. कारिकाभाग, २. वृत्तिभाग और ३. उदाहरणभाग। 'काव्यप्रकाश'के उदाहरण सब विभिन्न प्रसिद्ध काव्योंसे लिये गये हैं इसलिए उनके कर्तृत्वके विषयमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु कारिकाभाग और वृत्तिभागकी रचनाके विषयमें दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। कुछ लोग इन दोनों भागोंके कर्ता अलग-अलग मानते हैं। उनके मतानुसार कारिकाभागके निर्माता भरतमुनि हैं और वृत्तिभागके निर्माता मम्मटाचार्य हैं। दूसरे लोग कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंका निर्माता एक ही मम्मटाचार्यको मानते हैं।

कारिका तथा वृत्तिभागका भिन्नकर्तृकत्ववादी पूर्वपक्ष

कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंके निर्माता अलग-अलग हैं इस सिद्धान्तका उदय बङ्गदेशमें हुआ। साहित्यकौमुदीकार विद्याभूषण तथा 'काव्यप्रकाश'की 'आदर्श' टीकाके निर्माता महेश्वरने

'काव्यप्रकाश'के कारिकाभागका निर्माता भरतमुनिको माना है। विद्याभूषणने 'साहित्यकौमुदी'में दो बार इस बातका उल्लेख किया है जो निम्नलिखित प्रकार है--

'मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम् ।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात् ।।'

इसमें विद्याभूषणने 'काव्यप्रकाश'के सूत्रोंको भरतसूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है--

'सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम् ।

इन लेखोंसे विदित होता है कि साहित्यकौमुदीका विद्याभूषणके मतमें 'काव्यप्रकाश'के सूत्र भरतमुनि-विरचित हैं। इसी प्रकार 'आदर्श' व्याख्याके निर्माता महेश्वरने (जीवानन्द संस्करण पृ० ३ पर) 'काव्यप्रकाश'के सूत्रोंको भरतनिर्मित तथा वृत्तिभागको मम्मटाचार्यकृत माना है।

इसके विपरीत जयरामने अपनी 'तिलक' नामक 'काव्यप्रकाश'की टीकामें इस मतका खण्डन किया है। उन्होंने पहिले पूर्वपक्षके रूपमें सूत्रोंको भरतकृत माननेवालोंका पक्ष रखा है, फिर उसका खण्डन कर सूत्र तथा वृत्ति दोनों भागोंका निर्माता मम्मटको ही सिद्ध किया है। 'काव्यप्रकाश'के सूत्र-भागको भरतमुनिकृत माननेवाले लोग अपने पक्षके समर्थनमें प्रायः तीन युक्तियाँ देते हैं।

उनकी पहिली युक्ति यह है कि 'काव्यप्रकाश'में रसनिरूपणके विषयमें जो सूत्र आये हैं वे स्पष्ट रूपसे भरतमुनिके सूत्र हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह स्पष्ट ही भरतसूत्र है। इसके अतिरिक्त 'शृंङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः' इत्यादि सूत्रसंख्या ४४, जिसमें कि रसोंके नाम गिनाये गये हैं, 'रतिर्हासश्च शोकश्च' इत्यादि सूत्रसंख्या ४५, जिसमें स्थायिभावोंके नाम दिये गये हैं और 'निर्वेदग्लानिशङ्का' इत्यादि सूत्रसंख्या ४६, जिसमें व्यभिचारिभावोंके नामोंका निर्देश किया गया है ये सब भरतमुनिके सूत्र हैं। ये तीनों सूत्र भरतनाटच- शास्त्रके छठे अध्यायमें क्रमशः १४, १७ तथा २१ संख्यावाले हैं।

भेदवादियोंकी दूसरी युक्ति यह है कि 'काव्यप्रकाश'की प्रथम कारिकाकी वृत्ति आरम्भ करते समय ग्रन्थकारने--'ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति' यह प्रथमपुरुषका प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिस कारिकाकी व्याख्या करने जा रहे हैं उसका बनानेवाला उनसे भिन्न कोई दूसरा व्यक्ति है। तभी उसके लिए 'परामृशति' इस प्रथमपुरुषका प्रयोग बनता है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी कारिकाओंकी स्वयं ही व्याख्या लिख रहे होते तो इस प्रकार प्रथमपुरुषका प्रयोग न करके उत्तमपुरुषका प्रयोग करते। ऐसा नहीं किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिकाकार भरतमुनि ही हैं।

तीसरी युक्ति यह है कि दशम उल्लासमें रूपकके निरूपणमें 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' यह सूत्र [संख्या १३९] आया है। इस सूत्रकी व्याख्यामें मम्मटने लिखा है--'बहुवचनमविवक्षितम्' अर्थात् बहुवचनके स्थानपर द्विवचन भी हो सकता है। भेदवादियोंका कहना है कि यदि कारिकाभागके निर्माता मम्मट स्वयं ही होते तो पहिले सूत्रभागमें 'आरोपिताः' इस बहुवचनका प्रयोग करके फिर स्वयं उसकी व्याख्यामें 'बहुवचनमविवक्षितम्' ऐसा लिखनेकी क्या आवश्यकता थी। वे कारिकामें स्वयं ही

'श्रौतावारोपितौ यदा' पाठ रख सकते थे। पर क्योंकि सूत्रभाग मम्मटका बनाया हुआ नहीं है, भरतका बनाया हुआ है, इसलिए उसकी व्याख्यामें 'बहुवचनमविवक्षितम्' लिखा जाना सङ्गत हो सकता है।

भेदवादीकी युक्तियोंका खण्डन

इस प्रकार इन तीन युक्तियोंके आधारपर भेदवादी 'काव्यप्रकाश'के सूत्रोंको भरतमुनिकी रचना बताते हैं और काव्यप्रकाशकारको केवल उन सूत्रोंपर वृत्ति लिखनेवाला मानते हैं। किन्तु यदि इन युक्तियोंपर विचार किया जाय तो ये तीनों युक्तियाँ एकदम थोथी और निस्सार प्रतीत होती हैं। पहिली युक्तिमें भरतमुनिके तीन ऐसे सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं जो 'काव्यप्रकाश'में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। यह ठीक है। वे तीनों सूत्र भरतमुनिके बनाये हुए हैं। उनको काव्यप्रकाशकारने ज्योंका त्यों अपने ग्रन्थमें उद्धृत कर दिया है। पर उससे सारे सूत्रोंके भरतनिर्मित होनेकी पुष्टि कैसे हो सकती है? जैसे यह स्पष्ट है कि ये तीन सूत्र भरतके 'नाटचशास्त्र'में पाये जाते हैं ऐसे ही यह भी स्पष्ट है कि 'काव्यप्रकाश'के शेष सूत्रोंमेंसे कोई भी सूत्र भरतनाटचशास्त्रमें नहीं पाया जाता है। तब उनका निर्माता भरतको कैसे माना जा सकता है? भरतने नाटचशास्त्रको छोड़कर कोई और ग्रन्थ बनाया हो उसमें शेष सूत्र आये हों यह बात एकदम क्लिष्ट कल्पनामात्र है। भरतमुनिका कोई दूसरा ग्रन्थ न मिलता है और न उसका कहीं उल्लेख ही किसी ग्रन्थमें पाया जाता है। अतः यह निश्चय है कि इन तीन सूत्रोंके अतिरिक्त और कोई सूत्र भरत निर्मित नहीं है। शेष सब सूत्र काव्यप्रकाश-कारके स्वनिर्मित सूत्र हैं और उन स्वनिर्मित सूत्रोंपर मम्मटाचार्यने स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है।

प्रथम युक्तिके समान दूसरी युक्ति भी एकदम निस्सार है। उसमें 'काव्यप्रकाश'के आरम्भमें आये हुए 'समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति' इस प्रथमपुरुषके प्रयोगके आधारपर सूत्रभागको व्याख्याकारसे भिन्नकी कृति ठहरानेका यत्न किया गया है, किन्तु यह तो युक्ति देनेवालेके अज्ञानका ही परिचायक है। ग्रन्थोंमें इस प्रकारके अवसरोंपर अपने लिए प्रथमपुरुषके प्रयोगकी शैली तो संस्कृत-साहित्यकी बहु-समादृत और बहु-प्रचलित सामान्य शैली है। अधिकांश लोग ऐसे अवसरोंपर प्रथम पुरुषका प्रयोग करते हैं। उदाहरणके लिए, विश्वनाथने भी 'साहित्यदर्पण'-के आरम्भमें इसी प्रकार 'वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते' लिखा है। 'नागेशः कुरुते सुधीः'में नागेशने भी अपने लिए 'कुरुते' इस प्रथमपुरुषका प्रयोग किया है। यह संस्कृत-साहित्यके ग्रन्थकारोंकी सामान्य प्रवृत्ति है। वे कदाचित् अपनी निरभिमानिताके सूचनार्थ उत्तमपुरुषका प्रयोग बचाना चाहते हैं इसलिए ऐसे स्थलोंपर प्रथम-पुरुषका प्रयोग करते हैं। इसी दृष्टिसे मम्मटाचार्यने भी स्वयं अपनी लिखी हुई कारिकाकी वृत्ति लिखते समय उसमें 'ग्रन्थकृत् परामृशति' यह प्रथम-पुरुषका प्रयोग किया है। उसके आधारपर कारिका और वृत्तिको भिन्न निर्माताओंकी कृति माननेका प्रयत्न अनुचित एवं उपहासास्पद है।

इसी प्रकार कारिकाकार तथा वृत्तिकारको भिन्न सिद्ध करनेके लिए जो तीसरी युक्ति प्रस्तुत की गयी है वह भी असङ्गत और उपहासास्पद है।' 'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा' समस्तवस्तु-विषयरूपकके इस लक्षणकी वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्' यह जो वृत्तिकारने लिख दिया है इससे भेदवादी यह परिणाम निकालना चाहते हैं कि यह मूल कारिका तथा वृत्ति अलग-अलग व्यक्तियोंकी लिखी हुई है, क्योंकि यदि एक ही व्यक्तिकी लिखी हुई होती तो वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखनेके बजाय ग्रन्थकार स्वयं मूल कारिकामें ही बहुवचन या एकवचन जो विवक्षित हो उसका प्रयोग कर सकते थे। पहले मूल सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग करके स्वयं ही फिर 'बहुत्वमविवक्षितम्' उसी वृत्तिकारके लिए शोभा

नहीं देता है; 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' । इससे यह सिद्ध होता है कि मूल सूत्र भरतमुनिका बनाया हुआ है । उसमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है । उसकी वृत्ति मम्मटाचार्यकी लिखी है इसलिए उन्होंने इसमें बहुत्वमविवक्षितम्' लिखा है ।

यह भेदवादीका युक्तिक्रम है । किन्तु जान पड़ता है कि वह प्रकृत प्रसङ्गको बिलकुल ही नहीं समझ सका है इसीलिए ऐसी बात कह रहा है । यहाँ ग्रन्थकारने रूपकके समस्तवस्तुविषयरूपक और एकदेशविवर्तिरूपक ये दो भेद किये हैं । रूपकमें किसी एक वस्तुके ऊपर दूसरेका आरोप किया जाता है । जैसे मुखके ऊपर चन्द्रका आरोप करके मुखचन्द्र रूपकका उदाहरण हो जाता है । यह आरोप कहीं एक ही होता है, कहीं दो-तीन-चार भी हो सकते हैं । जैसे यहाँ पृष्ठ ४६४ पर समस्तवस्तुविषयरूपकका जो उदाहरण दिया है उसमें 'रात्रिकापालिकी'में रात्रिके ऊपर कापालिकी होनेका आरोप किया है । रात्रिके इस कापालिकीत्वके उपपादनके लिए रात्रिकी ज्योत्स्नापर कापालिकीकी भस्मका, तारोंके ऊपर कापालिकीकी अस्थियोंका, चन्द्रमाके ऊपर कपालका और चन्द्रमाके कलङ्कके ऊपर सिद्धाञ्जनका आरोप किया है । इस प्रकार इसमें अनेक आरोप किये गये हैं । समस्तवस्तुविषयरूपकके लिए यह आवश्यक है कि उसमें दो या दोसे अधिक आरोप होने चाहियें और वे सब 'श्रौत' अर्थात् शब्दतः उपात्त होने चाहिये । दो आरोपोंके शब्दतः उपात्त होनेपर भी समस्तवस्तुविषयरूपक हो सकता है और तीन, चार आदि अनेक आरोपितोंके भी शब्दतः उपात्त होनेपर समस्तवस्तुविषयरूपक हो सकता है । यह बात ग्रन्थकार कहना चाहते हैं । अब यदि इस स्थलपर मूलमें प्रयुक्त बहुवचनको ज्योंका त्यों माना जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि जब कमसे कम तीन या उससे अधिक आरोपित शब्दोपात्त हों तभी समस्तवस्तुविषयरूपक होगा । यदि किसी स्थलपर केवल दोका ही आरोप किया गया है और वे दोनों शब्दोपात्त हैं तब वहाँ समस्तवस्तुविषयरूपक नहीं माना जा सकेगा । इस दोषको बचानेके लिए वृत्तिकारको यहाँ 'बहुत्वमविवक्षितम्' लिखना पड़ा है । इसी प्रकार यदि मूल कारिकामें बहुवचनको हटाकर द्विवचनका प्रयोग किया जाता तो भी यही स्थिति उत्पन्न होती । उस दशामें यदि दोसे अधिकका आरोप कहीं किया जाता और वे सब शब्दतः उपात्त होते तो वहाँ समस्तवस्तुविषयरूपक नहीं बन सकता । क्योंकि मूल लक्षणमें द्विवचनके प्रयोगके कारण दो आरोपोंके स्थलपर ही वह लक्षण घट सकता था । दोसे अधिक आरोपितोंके विषयमें वह लक्षण नहीं घट सकता । तब इस दोषके परिहारके लिए उस अवस्थामें वृत्तिकारको 'द्वित्वमविवक्षितम्' लिखना पड़ता । मूल कारिकामें यदि बहुवचनका प्रयोग किया है तो वृत्तिमें 'बहुत्वमविवक्षितम्'का लिखना अनिवार्य है और यदि मूलमें द्विवचनका प्रयोग किया जाता तो वृत्तिमें 'द्वित्वमविवक्षितम्' लिखना अनिवार्य हो जाता । इसलिए मूलकारको स्वयं ही द्विवचन या बहुवचन लिखकर फिर उसको अविवक्षित मानना इस स्थलपर सर्वथा अनिवार्य है । भेदवादियोंने इस रहस्यको न समझ सकनेके कारण ही 'बहुत्वमविवक्षितम्'के आधारपर कारिकाकार तथा वृत्तिकारको भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध करनेका यह जो प्रयास किया है वह उनके अविवेकको ही सूचित करता है ।

अभेदसमर्थक युक्तियाँ

यह तो भेदवादियों द्वारा प्रस्तुत की गयी युक्तियोंका खण्डन हुआ । इसके अतिरिक्त कुछ युक्तियाँ ऐसी भी प्रस्तुत की जा सकती हैं जिनके आधारपर यह सिद्ध होता है कि वृत्ति तथा मूलकारिकाओं-के निर्माता एक हैं । इनमें सबसे पहिले कारिका तथा वृत्ति दोनोंके निर्माता मम्मटाचार्य ही हैं इस बातके समर्थनके लिए निम्नाङ्कित तीन युक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं--

१. 'काव्यप्रकाश'की मूल कारिकाओंके आरम्भमें तो मङ्गलाचरण किया गया है, किन्तु वृत्ति-भागके आरम्भमें कोई मङ्गलाचरण नहीं किया गया है। यदि मम्मट केवल वृत्तिभागके ही निर्माता होते तो वे अपने वृत्तिग्रन्थके आरम्भमें मङ्गलाचरण अवश्य करते। मूलके आरम्भमें जो मङ्गलाचरण है उसीको वृत्तिभागका मङ्गलाचरण माननेका अभिप्राय यह है कि ये दोनों भाग मम्मटाचार्यके ही बनाये हुए हैं।

२. जहाँ कहीं मम्मटाचार्यने भरतमुनिकी कारिकाओं या सूत्रोंको उद्धृत किया है वहाँ 'तदुक्तं भरतेन' लिखकर उस विशेष सूत्र या कारिकाके साथ भरतमुनिका नाम जोड़कर ही उद्धृत किया है। यदि सारी ही कारिकाएँ भरतमुनिकी बनायी हुई होतीं तो फिर दो-तीन विशेष स्थलोंपर ही 'तदुक्तं भरतेन'-का प्रयोग क्यों किया जाता। इस प्रयोगसे सिद्ध होता है कि केवल वे कारिकाएँ या सूत्र जिनके साथ 'तदुक्तं भरतेन' लिखा गया है, भरतमुनिके बनाये हुए हैं, शेष सब मम्मटाचार्यके स्वयं बनाये हुए सूत्र या कारिकाएँ हैं।

३. 'काव्यप्रकाश'के कारिका तथा वृत्तिभाग दोनों ही मम्मटाचार्यके ही बनाय हुए हैं इस बातको सिद्ध करनेके लिए तीसरी युक्ति यह है कि रूपकके प्रसङ्गमें—

'साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं, माला तु पूर्ववत्।'

लिखकर पूर्वकथित 'मालोपमा'के समान 'मालारूपक' भी हो सकता है यह बात ग्रन्थकारने 'माला तु पूर्ववत्' इस कारिकाभागसे कही है। यदि कारिकाभाग भरतमुनिका बनाया हुआ है तो यहाँ कारिका-भागमें 'माला तु पूर्ववत्' लिखकर जिस मालोपमाका सङ्केत किया गया है वह मालोपमा भी भरतमुनि-विरचित कारिकामें ही निर्दिष्ट होनी चाहिये किन्तु 'काव्यप्रकाशमें मालोपमाका जो उल्लेख किया गया है वह कारिकाभागमें नहीं किन्तु वृत्तिभागमें किया गया है (पृ० ४६६)। पहिले वृत्तिभागमें जिस मालोपमाका उल्लेख किया गया है उसीको यहाँ कारिकाभागमें 'माला तु पूर्ववत्' लिखकर निर्दिष्ट किया गया है। इससे यह बात स्पष्टरूपसे सिद्ध होती है कि 'काव्यप्रकाश'के कारिकाभाग और वृत्तिभाग दोनोंके निर्माता स्वयं ममम्टाचार्य ही हैं। इसलिए जो लोग कारिकाभागको भरतमुनिकृत मानते हैं और मम्मटाचार्यको केवल वृत्तिभागका ही निर्माता मानते हैं उनका मत युक्तिसङ्गत नहीं है।

मम्मटके टीकाकार

मम्मटका 'काव्यप्रकाश' संस्कृत-साहित्यके विद्वानोंका अत्यन्त प्रेमभाजन रहा है। इसलिए इसके ऊपर टीका लिखनेवाले विद्वानोंकी संख्या बहुत बड़ी है। 'भगवद्गीता' एक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय धार्मिक ग्रन्थ है। इसलिए भारतीय साहित्यमें सबसे अधिक टीकाएँ 'भगवद्गीता'के ऊपर लिखी गयी हैं। 'भगवद्गीता'के बाद जिस ग्रन्थपर सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गयीं वह ग्रन्थ मम्मटाचार्य-का 'काव्यप्रकाश' है। 'काव्यप्रकाश'पर अबतक लगभग ७५ टीकाएँ संस्कृतमें ही लिखी जा चुकी हैं। वर्तमान प्रस्तुत टीकाको मिलाकर हिन्दीमें भी तीन टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। अंग्रेजी भाषामें भी उसका अनुवाद हो चुका है। इतनी अधिक टीकाओंका होना जहाँ एक ओर ग्रन्थकी लोकप्रियताका परिचायक है वहाँ उसकी क्लिष्टता और दुरूहताका भी द्योतक है। किसी ग्रन्थकी लोकप्रियता तो उसके गौरवका कारण हो सकती है किन्तु उसकी दुरूहता और क्लिष्टता ग्रन्थकारके गौरवको बढ़ानेवाली नहीं हो सकती है। 'काव्यप्रकाश'के विषयमें प्रसिद्ध है कि उसकी टीकाएँ घर-घरमें विद्यमान हैं किन्तु ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरूह बना हुआ है—

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे,
टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः ।'

यह उक्ति काव्यप्रकाशके गौरवको बढ़ानेवाली नहीं है। ग्रन्थकारका कौशल तो इसमें है कि जो बात वह कहना चाहता है वह पढ़ने और सुननेवालोंको एकदम हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाय।

'काव्यप्रकाश'की टीकाओंमें सबसे प्राचीन टीका माणिक्यचन्द्रकृत 'सङ्केत' टीका है। इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२१६ तदनुसार ११६० ई० है। माणिक्यचन्द्र गुजराती जैन विद्वान् थे। उन्होंने 'सङ्केत' टीकाके अन्तमें उसके लिखनेका समय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे (१२१६) मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य सङ्केतोऽयं समर्थितः ॥'

कर्णाटक जनपदके बीजापुर प्रान्तमें स्थित झलकी ग्रामके निवासी महाराष्ट्र ब्राह्मण वामनाचार्य शर्माने पुण्यपत्तनकी प्रधान पाठशालामें अध्यापन करते हुए सं० १८०४ तदनुसार सन् १७४७ ई० में 'बालबोधिनी' नामकी 'काव्यप्रकाशकी बड़ी सुन्दर टीका लिखी है। इसके आरम्भमें उन्होंने 'काव्यप्रकाश' की ४८ टीकाओं और उनके निर्माताओंके नाम गिनाये हैं। ये नाम उन्होने पद्यबद्ध रूपमें दिये हैं। हम उनके नामोंकी सूची निम्नलिखित प्रकार दे रहे हैं—

१. माणिक्यचन्द्रकृत 'सङ्केत' टीका : रचनाकाल सं० १२१६, सन् ११६० ई०। २. सरस्वतीतीर्थकृत 'बालचित्तानुरञ्जिनी' टीका : रचनाकाल सं० १२९८, सन् १२४२। ३. जयन्तभट्टकृत 'दीपिका' टीका : रचनाकाल सं० १३५०, सन् १२९३। ४. सोमेश्वरकृत 'काव्यादर्श' टीका, इसका दूसरा नाम 'सङ्केत' भी है। ५. विश्वनाथकृत 'दर्पण' टीका। ६. परमानन्द भट्टाचार्यकृत 'विस्तारिका' टीका। ७. आनन्दकविनिर्मित 'निदर्शना' टीका। ८. श्रीवत्सलाञ्छनकृत 'सारबोधिनी' टीका। ९. महेश्वरकृत 'आदर्श' टीका। १०. कमलाकरभट्टनिर्मित 'विस्तृता' टीका। ११. नरसिंहकृत 'नरसिंहमनीषा' टीका। १२. भीमसेनकृत 'सुधासागर' टीका। १३. महेशचन्द्रविरचित 'तात्पर्य विवृति' टीका। १४. गोविन्दनिर्मित 'प्रदीपच्छाया' व्याख्या। १५. नागेशभट्टकृत 'लघ्वी' टीका तथा नागेशभट्टकृत 'बृहती' टीका। १७. वैद्यनाथकृत प्रदीपकी 'उद्योत' नामक टीका, १८. वैद्यनाथनिर्मित 'प्रभा' टीका तथा १९. वैद्यनाथ द्वारा निर्मित 'उदाहरणचन्द्रिका' टीका। २०. राघव-विनिर्मित 'अवचूरि' टीका। २१. श्रीधरकृत टीका। २२. चण्डीदासकृत टीका। २३. देवनाथकृत टीका। २४. भास्करकृत 'साहित्यदीपिका' टीका। २५. सुबुद्धिमिश्रकृत टीका। २६. पद्मनाभकृत टीका। २७. मिथिलेशके मन्त्री अच्युतकृत टीका। २८. अच्युतपुत्र रत्नपाणि द्वारा निर्मित टीका। २९. भट्टाचार्यकृत 'काव्यदर्पण' टीका। ३०. भट्टाचार्यके पुत्र रविकृत 'मधुमती' टीका। ३१. 'तत्त्वबोधिनी' टीकाके निर्माताके नामका पता नहीं चलता है। ३२. इसी प्रकार 'कौमुदी' टीकाके निर्माताका नाम विदित नहीं। ३३. 'आलोक' टीका। ३४. रुचककृत 'सङ्केत' टीका। ३५. जयरामकृत 'प्रकाशतिलक' टीका। ३६. यशोधरकृत टीका। ३७. विद्यासागरनिर्मित टीका। ३८. मुरारिमिश्रकृत टीका। ३९. मणिसारकृत टीका। ४०. पक्षधरकृत टीका। ४१. सूरिकृत 'रहस्यप्रकाश' टीका। ४२. रामनाथकृत 'रहस्यप्रकाश' टीका। ४३. जगदीशकृत टीका। ४४. गदाधरकृत-टीका। ४५. भास्करविनिर्मित 'रहस्यनिबन्ध' टीका। ४६. रामकृष्णनिर्मित 'काव्यप्रकाश-भावार्थ' टीका। ४७. वाचस्पतिमिश्र-विरचित टीका। ४८. झलकीकर वामनाचार्यकृत 'बालबोधिनी' टीका।

इन उपरिनिर्दिष्ट ४८ टीकाओंमें सबसे प्राचीन माणिक्यचन्द्रकृत टीका सन् ११६० ई० में लिखी गयी थी और सबसे नवीन टीका 'बालबोधिनी' सन् १७४७ ई० में लिखी गयी थी, अर्थात् लगभग ५०० वर्षोंमें 'काव्यप्रकाश'के ऊपर ५० के लगभग टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि औसतन प्रति दस वर्षमें 'काव्यप्रकाश'पर एक नयी टीका लिखी जाती रही है। बालबोधिनी-कार वामनाचार्य झलकीकरके बाद विगत २५० वर्षोंमें भी कुछ टीकाएँ लिखी गयी हैं।

संस्कृत टीकाओंके अतिरिक्त इधर हिन्दीमें भी 'काव्यप्रकाश'के ऊपर टीकाओंकी रचनाका क्रम प्रारम्भ हो गया है। इस क्रममें प्रस्तुत यह 'काव्यप्रकाश-दीपिका' तीसरी टीका है। इसके पूर्व हरि-मङ्गलमिश्र तथा डॉ० सत्यव्रतसिंह द्वारा निर्मित दो हिन्दी टीकाएँ पहिले प्रकाशित हो चुकी हैं। यह 'काव्यप्रकाश-दीपिका' तीसरी हिन्दी टीकाके रूपमें प्रकाशित हो रही है। यह तो अभी हिन्दीवालोंका 'काव्यप्रकाश'के प्रति प्रेमका आरम्भ है; आगे देखिये, कितनी टीकाएँ लिखी जाती हैं।

मम्मटका मूल्याङ्कन

वाग्देवतावतार मम्मट और उनके ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'ने अलङ्कारशास्त्रके क्षेत्रमें बड़ा गौरव तथा आदर प्राप्त किया है। उस गौरवका कारण ग्रन्थकी अपनी विशेषताएँ हैं। 'काव्यप्रकाश'की सबसे बड़ी विशेषता, जिसके कारण उसको इतना अधिक गौरव प्राप्त हुआ और उसका इतना अधिक प्रचार हो सका, उसकी सूत्रशैली और विषय-बाहुल्य है। मम्मटने 'काव्यप्रकाश'में संक्षेपमें काव्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे विषयोंका प्रतिपादन बड़े सुन्दररूपमें कर दिया है। भरतमुनिसे लेकर भोज-राजतक लगभग १२०० वर्षोंमें अलङ्कारशास्त्रके विषयमें जिस विशाल साहित्यका निर्माण हुआ उसका दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। मम्मटने इस सारे विशाल साहित्यका मन्थन कर उसका सारभूत जो 'नवनीत'प्राप्त किया वह 'काव्यप्रकाश' है। अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे भरतके नाट्यशास्त्रका नवनीत है रससिद्धान्त। भरतमुनिका रससूत्र और उसपर गत १२०० वर्षोंमें जो कुछ ऊहापोह हुआ है उस सबका सार 'काव्यप्रकाश'में सुन्दररूपमें उपस्थित है। भामहका 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'वाला काव्यलक्षण और अधिक निर्दुष्ट, और अधिक सगुण, और अधिक अलङ्कृत, और परिमार्जित होकर 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'के रूपमें 'काव्यप्रकाश'में मौजूद है। गत १२०० वर्षोंमें किये गये काव्यलक्षणोंका सार मम्मटने अपने इस काव्यलक्षणके भीतर समाविष्ट कर दिया है। भामह और दण्डीने न शब्दशक्तियोंका विवेचन किया है, न रस और ध्वनिका। इसलिए वे आजके अलङ्कारशास्त्र-की आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं करते और विषयप्रतिपादनकी दृष्टिसे अपूर्ण हैं। मम्मटने भामह और दण्डीकी इस कमीको समझा और 'काव्यप्रकाश'में इन विषयोंका समावेश करके उस कमीको दूर करनेका यत्न किया। उद्भट तो 'अलङ्कारसारसंग्रह'में ही रम गये हैं। गिने-चुने ४१ अलङ्कारोंके निरूपणके अतिरिक्त उनके पास काव्यशास्त्रका और कोई तत्त्व नहीं है। वामन रीतिपर रीझ रहे हैं। उन्होंने यद्यपि गुण, दोष और अलङ्कारोंका भी वर्णन किया है, किन्तु काव्यके आत्मभूत रसकी नितान्त उपेक्षा कर दी है और रीतिको असाधारण गौरव प्रदान कर दिया है। वे साहित्यिक तत्त्वोंका यथार्थ मूल्याङ्कन नहीं कर सके हैं। मम्मटने रीति, गुण, दोष और अलङ्कार सबका यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और सबको अपनी योग्यताके अनुरूप स्थान दिया है। यह उनकी बड़ी विशेषता है। वामनके बाद रुद्रट आते हैं, पर वे भी काव्यलक्षण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारके विवेचनमें लगे हुए हैं। दस प्रकारके रस और नायक-नायिकाभेदका वर्णन इन्होंने अवश्य किया है किन्तु उसके बाद भी साहित्यशास्त्रके अनेक अङ्ग छूट जाते हैं; शब्दशक्ति, ध्वनि आदिके विवेचनके बिना साहित्यिक ग्रन्थ पूर्ण नहीं कहा जा

सकता। रुद्रटके बाद आनन्दवर्धन आते हैं। आनन्दवर्धन सचमुच ही आनन्दवर्धन हैं। उन्होंने ध्वनि-तत्त्वका ऐसा विशद और प्राञ्जल विवेचन उपस्थित किया है कि सहृदयोंका हृदय आनन्दोल्लाससे परिपूर्ण हो उठता है। पर अकेली मिठाईसे ही तो काम नहीं चलता। भगवान्ने तो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त षड्रस बनाये हैं। उन सबकी विविधता आस्वादविशेषको उत्पन्न करती है। आनन्दवर्धनमें वह विविधता कहाँ है? उनका तो सब-कुछ ध्वनिपर केन्द्रित हो रहा है। इसलिए वे भी साहित्यशास्त्रका समग्र चित्र अपने 'ध्वन्यालोक'में प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। काव्यप्रकाशकारने तो 'ध्वन्यालोक'का सारा तत्त्वांश बड़े सुन्दर रूपमें अपने ग्रन्थमें उपस्थित कर दिया है। या यों कहिये कि मम्मटने आनन्दवर्धनको पुनः प्राणदान किया है अन्यथा ध्वनिविरोधी भट्टनायक और महिमभट्टने मिलकर उनके ध्वनिसिद्धान्तको कुचल ही डाला था। यह तो मम्मटका ही सामर्थ्य था कि इस उग्र सङ्घर्षके बीचसे वे ध्वनिसिद्धान्तको बचा कर निकाल लाये हैं और अब वह सिद्धान्त 'ध्वन्यालोक'से भी अधिक सुन्दर रूपमें और अधिक पुष्ट आधारपर 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित है। इसीलिए मम्मटाचार्यको 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहा जाता है।

आनन्दवर्धनके बाद अभिनवगुप्त आते हैं। वे बड़े उद्भट विद्वान् और प्रौढ़ लेखक थे। 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'अभिनवभारती' दोनों साहित्यशास्त्रके लिए बड़ी देन हैं। परन्तु वे दोनों मिलकर भी साहित्यको पूर्ण नहीं कर रही हैं। काव्यके आवश्यक अङ्ग—दोष और अलङ्कारोंका विवेचन उनमें नहीं है। इसलिए वे अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे अपूर्ण और एकदेशी ही कहे जा सकते हैं। 'काव्यप्रकाश'ने उनकी इस अपूर्णताको पूर्ण किया है। 'लोचन'में अभिनवगुप्तने ध्वनिसिद्धान्तका उद्धार करनेका यत्न किया है और 'अभिनवभारती'में नाट्यशास्त्रका। अलङ्कारशास्त्रकी दृष्टिसे उनका जो सारभूत तत्त्व है वह सब 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' इनकी अपेक्षा अधिक परिपूर्ण है और साहित्यिक आवश्यकताको अधिक सुन्दरताके साथ शान्त करनेवाला है। इनके बाद राजशेखर आते हैं। यह तो बस 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' हैं। 'काव्यमीमांसा' साहित्यशास्त्रका विवेचन करनेवाली होनेपर भी अबतककी सारी विचारधारासे बिलकुल भिन्न है। इसलिए उपयोगी होनेपर भी वह अलङ्कारशास्त्रविषयक जिज्ञासाकी निवृत्तिमें प्रायः असमर्थ है। अगले मुकुलभट्ट हैं। इनका 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ केवल शब्दशक्तिसे सम्बन्ध रखता है। अलङ्कारशास्त्रके अन्य अङ्गोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। काव्यप्रकाशकार मम्मटने उसकी उपेक्षा नहीं की है। साहित्यशास्त्रके एक आवश्यक भागकी पूर्ति उसके द्वारा होती है इसलिए उसका भी सारांश उन्होंने बड़े सुन्दर रूपमें अपने ग्रन्थमें उपस्थित किया है। कुन्तक, क्षेमेन्द्र और भोजराजके सिद्धान्तोंका भी यथार्थ मूल्याङ्कन कर उनका समुचित रूपमें 'काव्यप्रकाश'में समावेश किया गया है और ध्वनिविरोधी महिमभट्टको तो खूब मजा चखाया है। उनकी ध्वनिविरोधी युक्तियोंकी ऐसी छीछालेदर की है कि अब वह बिचारा सिकुड़-सिकुड़ाकर अपने 'व्यक्तिविवेक'के भीतर ही समा गया है, उसके बाहर उसका कहीं कोई आदर नहीं है। जिस ध्वनिसिद्धान्तको मिटा डालनेका व्यक्तिविवेककारने सङ्कल्प किया था, मम्मटकी कृपासे वह अब पहलेकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर तथा सुदृढ़ सिद्धान्तके रूपमें उपस्थित है।

आचार्य मम्मटकी प्रतिभा, उनकी विशेषता और साहित्यशास्त्रके प्रति की गयी उनकी सेवाका मूल्याङ्कन एक सहस्र वर्षसे भी अधिक लम्बे कालमें फैले हुए साहित्यशास्त्रके सिंहावलोकनके बिना नहीं किया जा सकता है। इसलिए हमने बहुत संक्षेपमें विगत एक सहस्र वर्षोंकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका विश्लेषणकर यह दिखलानेका यत्न किया है कि काव्यप्रकाशने इन एक सहस्र वर्षोंमें साहित्योद्यानमें

खिले हुए समस्त पुष्पोंका मधुसञ्चय करके अपने इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थका निर्माण किया है। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है जिसके कारण उनको और उनके ग्रन्थको इतना अधिक आदर प्राप्त हुआ है। 'काव्यप्रकाश'में अपने पूर्ववर्ती सारे अलङ्कारशास्त्रियोंके गुणों सारी उत्तम बातोंका एक साथ संग्रह कर दिया गया है और उनमें जो त्रुटियाँ या न्यूनताएँ थीं उनको दूरकर एक सर्वाङ्गपूर्ण साहित्यग्रन्थ उपस्थित करनेका प्रयत्न मम्मटने किया है। इसीलिए 'काव्यप्रकाश' इतना सारगर्भित, महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय ग्रन्थ बन गया है कि उस एक ही ग्रन्थका अध्ययन कर लेनेसे साहित्यशास्त्रका पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए 'काव्यप्रकाश' वस्तुतः एक महती रचना है।

किसी भी महती कृतिके लिए श्रम और कला दोनोंकी आवश्यकता होती है। मधुमक्षिका विविध पुष्पोंका मधु सञ्चय करके लाती है यह उसका श्रमपक्ष है। पर उसको अपने छत्तेमें किस प्रकार सजाकर, संभालकर रखती है यह उसका कलापक्ष है। मधुमक्खीके छत्तेकी रचना उसके मधुसे कम आनन्ददायक नहीं है। मधु रसनाको तृप्त करता है तो छत्ता दृष्टिको। दोनोंका अपना सौन्दर्य है, दोनोंकी अपनी उपयोगिता है और दोनोंकी अपनी कला है। मधुमक्षिकाका यह श्रम और वह कलात्मक प्रवृत्ति दोनों ही सराहना प्राप्त करती हैं। 'काव्यप्रकाश'की मधुमक्षिका—मम्मट—की भी यही स्थिति है। उन्होंने एक सहस्र वर्षके दीर्घकालमें फैले हुए विस्तीर्ण, साहित्योद्यानके सैकड़ों सुन्दर पुष्पोंसे मधुसञ्चय करनेमें जो श्रम किया है वह तो प्रशंसनीय है ही, पर उसके साथ ही उसको जिस रूपमें सजाकर 'काव्यप्रकाश'में उपस्थित किया है वह उनकी कलात्मक प्रवृत्तिका परिचायक है। 'काव्यप्रकाश'में दस उल्लास हैं। उनमें प्रतिपाद्य विषय या सञ्चित मधुको इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि बस देखते ही बनता है। सारा 'काव्यप्रकाश' 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस एक सूत्रके ऊपर घूम रहा है। इस सूत्रमें आया हुआ 'तत्' पद काव्यका वाचक है। 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यादि, काव्य-प्रयोजनोंका प्रतिपादन करनेवाली पहली कारिकाके प्रारम्भमें 'काव्यम्' यह संज्ञापद आया है। उसके परामर्शक रूपमें 'तददोषौ शब्दार्थौ' में 'तत्' यह सर्वनाम प्रयुक्त हुआ है। इसलिए 'तत्' यह सर्वनाम 'काव्यम्'का ग्राहक है। इसलिए पहिले उल्लासमें काव्यका लक्षण करनेके बाद उसके ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्रकाव्यरूप तीन भेद भी दिखलाये हैं। इसके बाद 'शब्दार्थौ' पदके स्पष्टीकरणके लिए द्वितीय उल्लासमें वाचक, लक्षक, व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका वर्णन किया गया है। शब्दमें जो अर्थकी प्रतीति होती है वह शब्दकी शक्ति द्वारा ही होती है इसलिए तीन प्रकारके शब्दोंसे तीन प्रकारके अर्थोंको बोधित करनेवाली अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीनों प्रकारकी शब्दशक्तियोंका भी निरूपण इसी उल्लासमें कर दिया है। प्रथम उल्लासमें काव्यके भेदोंका केवल सामान्य वर्णन किया था, उनके स्पष्टीकरणके लिए कुछ विशेष वर्णनकी आवश्यकता थी। अतः चौथे, पाँचवें तथा छठे उल्लासोंमें क्रमशः ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य और चित्रकाव्यका विशेष वर्णन किया गया है। ध्वनिकाव्यके भीतर रसध्वनिका समावेश या मुख्यता होनेके कारण चौथे उल्लासमें ध्वनिकाव्यके निरूपणके साथ ही इसका निरूपण भी कर दिया गया है। इसके पहिले तीसरे उल्लासमें आर्थी व्यञ्जनाका वर्णन किया है। काव्यप्रकाशकार 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहलाते हैं। उद्भट और महिमभट्टकी उक्तियोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापना करनेमें उनको बड़ा परिश्रम करना पड़ा है। इसलिए ध्वनिका विषय काफी विस्तृत भी हो गया है। द्वितीय उल्लासमें अभिधा और लक्षणाके अतिरिक्त व्यञ्जनाके केवल शाब्दी व्यञ्जनाभेदका निरूपण किया था। इसलिए व्यञ्जनाके दूसरे भेद आर्थी व्यञ्जनाका निरूपण तृतीय उल्लासमें किया गया है और पञ्चम उल्लासमें गुणीभूतव्यङ्ग्य-

काव्यके भेदों तथा उदाहरणोंको दिखलानेके बाद फिर व्यञ्जनाकी सिद्धिका यत्न किया गया है। द्वितीय तथा तृतीय उल्लासमें केवल व्यञ्जनाके भेद दिखलाये गये थे और उनके उदाहरण दिये गये थे, अन्य मतोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तकी स्थापनाका प्रयत्न वहाँ नहीं किया गया था। ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों प्रकारके व्यञ्जनाश्रित काव्यके भेदों तथा उदाहरणोंका निरूपण करनेके बाद उद्भट आदि साहित्यिकों, महिमभट्ट आदि नैयायिकों, मुकुलभट्ट आदि मीमांसकों, वैयाकरणों और वेदान्तियों,सब व्यञ्जना-विरोधी मतोंका खण्डन करके बड़ी विद्वत्ताके साथ व्यञ्जनावृत्तिकी सत्ता पञ्चम उल्लासके अन्तमें विस्तारके साथ सिद्ध की गयी है। इसके बाद काव्यलक्षणमें 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' पद व्याख्याके लिए शेष रह जाते हैं। इनकी व्याख्याके लिए ग्रन्थकारने सातसे लेकर दस तक चार उल्लास लिखे हैं। सप्तम उल्लासमें दोषोंका, अष्टम उल्लासमें गुणोंका, उनके साथ ही रीति तथा वृत्तियोंका, नवम तथा दशम दो उल्लासोंमें अलङ्कारोंका वर्णन किया है। नवम उल्लासमें केवल शब्दालङ्कार तथा उभयालङ्कारका और दशम उल्लासमें अर्थालङ्कारोंका वर्णन किया है। इस प्रकार दस उल्लासोंमें ग्रन्थकारने काव्यशास्त्रसे सम्बद्ध सारे विषयको बड़ी सुन्दरताके साथ सजा दिया है। यह 'काव्यप्रकाश'की एक बड़ी विशेषता है जो उसको अन्य सब साहित्यिक ग्रन्थोंकी अपेक्षा उपादेय बनाती है। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश'के गौरव और उपादेयताकी वृद्धि करनेवाले और उसे अन्य सबकी अपेक्षा अधिक गौरव एवं आदर प्राप्त करानेवाले कारणोंका संग्रह हम निम्नलिखित पाँच भागोंमें कर सकते हैं—

१. काव्यप्रकाशकारने साहित्यशास्त्रके एक सहस्र वर्षके समस्त आचार्योंकी कृतियोंका अवगाहन और मनन करके उनके सर्वोत्तम सारभागका संग्रहकर अपने इस ग्रन्थमें उपस्थित करनेका यत्न किया है और अपने उस प्रयत्नमें उन्होंने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है।

२. पूर्ववर्ती आचार्योंके ग्रन्थोंमें विषयप्रतिपादनकी दृष्टिसे जो न्यूनता या त्रुटियाँ रह गयी थीं उन सबको हृदयङ्गम करके मम्मटने अपने ग्रन्थमें उन सबको दूर कर विषयकी दृष्टिसे ग्रन्थको सर्वाङ्ग-सुन्दर एवं परिपूर्ण बनानेका यत्न किया है और उस यत्नमें पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

३. मम्मटने साहित्यशास्त्रके शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलङ्कार आदि समग्र आवश्यक तत्त्वोंका यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और उसीके अनुसार उनको अपने ग्रन्थमें स्थान दिया है।

४. संक्षिप्त सूत्रशैलीका अवलम्बनकर परिमित शब्दोंमें अधिकसे अधिक विषय देनेका यत्न किया है।

मम्मटके उत्तरवर्ती आचार्य

१९. सागरनन्दी

कालक्रममें मम्मटाचार्यके बाद सागरनन्दीका स्थान आता है। ये काव्यशास्त्रके नहीं अपितु नाटचशास्त्रके आचार्य हैं। मम्मटके पूर्ववर्ती आचार्योंमें १. भरत तथा २. धनञ्जय और उनके भाई ३. धनिक ये तीन नाटचशास्त्रके आचार्य हो चुके हैं। धनञ्जयने ९७४-९९४ ई० के बीच अपने नाटचशास्त्रविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दशरूपक'की रचना की थी। इनके लगभग १०० वर्ष बाद सागरनन्दीने अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की। इनका असली नाम तो केवल

'सागर' था, किन्तु नन्दी-वंशमें उत्पन्न होनेके कारण ये 'सागरनन्दी' नामसे ही विख्यात हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें अपने आधारभूत आचार्योंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'श्रीहर्षविक्रमनराधिपमातृगुप्त-
गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टकबादरीणाम् ।
एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य,
घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम् ।।

सन् १९२२ में स्व० सिलवाँ लेवीने नेपालमें 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक ग्रन्थकी पाण्डुलिपि प्राप्तकर और उसके सम्बन्धमें परिचयात्मक विवरण 'जरनल एशियाटिक'में (१९२२, पृष्ठ २१० पर) प्रकाशित कराया। उससे विदित हुआ कि सागरनन्दीने भी नाटयसाहित्यपर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है। इसके पूर्व 'नाटकलक्षणरत्नकोश'के कुछ उद्धरण तो विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलते थे, किन्तु इनके ग्रन्थका पता नहीं था। उसके बाद श्री एम० डिलनने इस ग्रन्थको सुसम्पादित करके लन्दनसे प्रकाशित करवाया है (१९३७ ई०)। 'नाटकलक्षण'में भरतमुनिके अतिरिक्त १. हर्षविक्रम, २. मातृगुप्त, ३. गर्ग, ४. अश्मकुट्ट, ५. नखकुट्ट, ६. बादरिका भी उल्लेख पाया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि सागरनन्दीने भरत सहित सात आचार्योंके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की है। किन्तु इन सबमें अधिक 'नाटयशास्त्र'का आश्रय लिया गया है। अनेक स्थानोंपर भरतके श्लोकोंको ज्योंका त्यों उतार दिया गया है। 'दशरूपक'के समान यह ग्रन्थ भी कारिकारूपमें लिखा गया है।

२०. राजानक रुय्यक

ऊपरकी पंक्तियोंमें 'काव्यप्रकाश'की टीकाओंके प्रसङ्गमें 'काव्यप्रकाशसङ्केत' टीकाके रचयिताके रूपमें हमने रुय्यकका नाम दिया था। मम्मटके उत्तरवर्ती साहित्याचार्योंमें ये राजानक रुय्यक प्रमुख आचार्य हैं। इनके नामके साथ जुड़ी हुई 'राजानक' उपाधि इनके कश्मीरी पण्डित होनेका प्रमाण है। कश्मीरके राजाओं द्वारा ही प्रमुख विद्वानोंको 'राजानक'की उपाधि दी जाती थी। राजानक रुय्यकने 'काव्यप्रकाश'पर टीका लिखी है इसलिए वे ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें होनेवाले आचार्य मम्मटके पश्चाद्वर्ती हैं यह बात स्पष्ट ही है। दूसरी ओर उन्होंने मङ्खककविविरचित 'श्रीकण्ठचरित' काव्यसे लिये हुए पाँच पद्योंको उदाहरणरूपमें अपने 'अलङ्कारसर्वस्व' ग्रन्थमें उद्धृत किया है। यह बात भी उनका कालनिर्णय करनेमें सहायक होती है। मङ्खक कवि राजानक रुय्यकके शिष्य हैं। उनके 'श्रीकण्ठचरित'का रचनाकाल ११४५ है। इसलिए राजानक रुय्यकका काल ११ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानना उचित प्रतीत होता है।

रुय्यकविरचित ग्रन्थोंमेंसे १ 'सहृदयलीला', २. 'व्यक्तिविवेक'की टीका, तथा ३. 'अलङ्कार-सर्वस्व' केवल ये तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हो रहे हैं। इनमेंसे 'सहृदयलीला' स्त्रियोंके प्रसाधन अलङ्कारादिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक छोटा-सा काव्यग्रन्थ है। दूसरा ग्रन्थ महिमभट्टके 'व्यक्तिविवेक'की टीकारूपमें लिखा गया है। किन्तु वह भी अधूरा ही मिला है और 'अनन्तशयन ग्रन्थमाला'में प्रकाशित हो चुका है। उनका सबसे प्रमुख ग्रन्थ है 'अलङ्कारसर्वस्व'। अलङ्कारशास्त्रके ऊपर यह बड़ा प्रौढ़ तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। साहित्यशास्त्रके रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति आदि जिन सम्प्रदायोंकी चर्चा ऊपर की गयी है उनकी मूल उद्भावना 'अलङ्कारसर्वस्व' और उसकी समुद्रबन्धकृत टीकामें ही की गयी थी। समुद्रबन्धकी टीकामें इन सम्प्रदायोंके विभाजनका वैज्ञानिक विवेचन इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् । तयोश्च वैशिष्टचं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः । आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीये भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेन चेति द्वैविध्यम् । इति पञ्चसु पक्षेषु आद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः । द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन ।'––समुद्रबन्धकृत अलङ्कारसर्वस्व-टीका

इस विवेचनमें टीकाकार समुद्रबन्धने 'विशिष्ट शब्दार्थ'को काव्य माना है । शब्द और अर्थका वह 'वैशिष्टच' धर्म द्वारा, व्यापार द्वारा तथा व्यङ्ग्य द्वारा तीन प्रकारसे हो सकता है । इन तीनोंमेंसे भी प्रथम तथा द्वितीय पक्षके फिर दो-दो भेद होकर चार भेद बन जाते हैं । (१) धर्म शब्दसे अलङ्कार तथा गुण इन दो धर्मोंका ग्रहण होता है । इसलिए धर्ममुखसे होनेवाले शब्दार्थके वैशिष्टचके दो पक्ष बन गये––एक अलङ्कार द्वारा शब्दार्थका वैशिष्टच माननेवाला पक्ष और दूसरा गुणों द्वारा शब्दार्थका वैशिष्टच माननेवाला पक्ष । इन्हींको क्रमशः अलङ्कारसम्प्रदाय तथा गुणसम्प्रदाय कहा जा सकता है । इनमेंसे अलङ्कारपक्षके पोषक भट्टोद्भट आदि हैं और गुणपक्षके पोषक वामनादि है । यह टीकाकारका मत है । हम ऊपर दिखला चुके हैं कि गुणसम्प्रदायका दूसरा नाम 'रीतिसम्प्रदाय' भी है । इस रीति सम्प्रदायके प्रवर्तक वामन हैं । (२) व्यापारमुखेन शब्दार्थका वैशिष्टच माननेवाले मतके दो भेद बन जाते हैं––एक भणितिवैचित्र्यकृत भेद और दूसरा भोगकृत्त्व भोजकत्वव्यापार द्वारा होनेवाला वैचित्र्य । इनमेंसे प्रथम अर्थात् 'भणितिवैचित्र्यकृत' भेदको ही वक्रोक्तिसम्प्रदाय कहते हैं । उसके प्रवर्तक वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक हैं । दूसरा पक्ष भोजकत्वव्यापारके द्वारा शब्दार्थका वैशिष्टच मानता है । इस पक्षको माननेवाले भट्टनायक हैं । भट्टनायकके इस 'भोजकत्व' सिद्धान्तकी चर्चा काव्यप्रकाशकारने रसनिरूपणके प्रसङ्गमें (पृ० १०६ पर) की है । इस सिद्धान्तका सम्बन्ध रससम्प्रदायके साथ है । इन चार पक्षोंके बाद पाँचवाँ पक्ष वह रह जाता है जो (३) व्यङ्ग्यमुखेन शब्दार्थके वैशिष्टचको मानता है। यही ध्वनि-सम्प्रदाय है और इसके प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन हैं ।

यह समुद्रबन्धके इस विवेचनका अभिप्राय है । इसमें अलङ्कारसम्प्रदायका पोषक भामहके बजाय उनके टीकाकार उद्भटको बताया है और रससम्प्रदायके सम्बन्धमें भरतमुनिका नाम न लेकर उनके टीकाकार भट्टनायकका उल्लेख किया है । इन सम्प्रदायोंके विभाजनका यह सुन्दर एवं वैज्ञानिक विवेचन है । इनको प्रस्तुत करनेका श्रेय अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक और उनके टीकाकार समुद्रबन्धको है ।

रुय्यकके टीकाकारोंमें समुद्रबन्ध १३ वीं शताब्दीके टीकाकार हैं । ये दक्षिणभारतके निवासी हैं । केरलके राजा रविवर्माके राज्यकालमें हुए थे । रविवर्माका जन्मकाल १२६५ ई० माना जाता है ।

रुय्यकके दूसरे टीकाकार जयरथ हैं । उन्होंने 'अलङ्कारसर्वस्व'के ऊपर 'विमर्शिनी' टीका लिखी है । इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्तके 'तन्त्रालोक'पर भी जयरथने 'विवेक' नामकी बड़ी विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है । इससे प्रतीत होता है कि अन्य कश्मीरी विद्वानोंके समान जयरथ भी साहित्य एवं दर्शनके प्रौढ़ विद्वान् थे । इनका काल समुद्रबन्धसे कुछ पहले तेरहवीं शताब्दीका आरम्भिक भाग माना जाता है ।

'अलङ्कारसर्वस्व'के टीकाकारोंमें एक 'अलक' और दूसरे विद्याधर चक्रवर्ती ये दो टीकाकार और हुए हैं । इनमेंसे 'अलक'के नामका केवल उल्लेखमात्र मिलता है । उनकी टीका उपलब्ध नहीं है ।

विद्याधर चक्रवर्तीकी टीकाका नाम 'अलङ्काररसञ्जीवनी' या 'सर्वस्वसञ्जीवनी' है। उन्होंने मम्मटके 'काव्यप्रकाश'पर भी 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' टीका लिखी थी। इनका काल चौदहवीं शताब्दीमें माना जाता है।

रुय्यकके तीन ग्रन्थोंका उल्लेख हमने ऊपर किया है। ये तीनों ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त (१) 'काव्यप्रकाशसङ्केत', (२) 'अलङ्कारमञ्जरी', (३) 'अलङ्कारानुसारिणी', (४) 'साहित्यमीमांसा', (५) 'नाटकमीमांसा' और (६) 'अलङ्कारवार्त्तिक' इन ६ ग्रन्थोंका उल्लेख जयरथकी 'विमर्शिनी' टीकामें मिलता है।

२१. हेमचन्द्र

राजानक रुय्यकके बाद साहित्यशास्त्रके आचार्योंमें आचार्य हेमचन्द्रका नाम आता है। ये जैनधर्मके अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनका जन्म गुजरातमें अहमदाबाद जिलेके 'धुन्धुक' नामक गाँवमें ११४५ वि० (१०८८ ई०)में और देहावसान ११७२ ई० में हुआ था। इस प्रकार इन्होंने ८४ वर्षकी आयु पायी। इनके अनेक ग्रन्थ हैं। अनहिलपट्टनके चालुक्य राजा सिद्धराज (१०७३-११४३ ई०) की प्रार्थनापर इन्होंने एक व्याकरणकी रचना की जिसका नाम अपने तथा सिद्धराज दोनोंके नामोंको मिलाकर 'सिद्धहेम' व्याकरण रखा। साहित्यशास्त्रपर इन्होंने 'काव्यानुशासन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थकी रचना की। यह ग्रन्थ सूत्रपद्धतिपर लिखा गया है। उसके ऊपर 'विवेक' नामक 'वृत्ति' भी स्वयं ग्रन्थकारने लिखी है। ग्रन्थमें आठ अध्याय हैं। इनमें काव्यके लक्षण, प्रयोजनादि, रस, दोष, गुण, ६ प्रकारके शब्दालङ्कार, २९ प्रकारके अर्थालङ्कार आदिका वर्णन किया गया है। यह प्रायः संग्रहग्रन्थ-सा है जिसमें 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश', 'ध्वन्यालोक', 'अभिनवभारती' आदिसे लम्बे-लम्बे उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

२२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्रके बाद उनके प्रमुख शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्रका स्थान आता है। आचार्य हेमचन्द्रके समान ये दोनों भी जैनधर्मके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। वैसे रामचन्द्र गुणचन्द्र एक नहीं, दो अलग-अलग व्यक्ति हैं, किन्तु दोनों हेमचन्द्राचार्यके शिष्य हैं। इन दोनोंने मिलकर 'नाटचदर्पण' नामक एक नाटचविषयक ग्रन्थकी रचना की है इसलिए इन दोनोंके नामका उल्लेख प्रायः साथ-साथ ही किया जाता है। गुणचन्द्रका अपना अलगसे कोई और ग्रन्थ नहीं पाया जाता है किन्तु रामचन्द्रके अलग भी बहुत-से ग्रन्थ पाये जाते हैं जो प्रायः नाटक हैं। उन्हें 'प्रबन्धकर्ता' कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने लगभग १९० ग्रन्थोंकी रचना की थी। उनके ११ नाटकोंके उद्धरण 'नाटचदर्पण' ग्रन्थमें पाये जाते हैं। अनेक दुर्लभ नाटकोंके उद्धरण भी इसमें दिये गये हैं जिनमें विशाखदत्तविरचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक भी है।

अन्य साहित्यग्रन्थोंके समान 'नाटचदर्पण'की रचना भी कारिकाशैलीमें हुई है। उसपर वृत्ति भी ग्रन्थकारोंने स्वयं ही लिखी है। ग्रन्थमें चार 'विवेक' हैं, जिनमें क्रमशः नाटक, प्रकरणादि रूपक, रस, भावाभिनय तथा रूपक सम्बन्धी अन्य बातोंका विवेचन किया गया है। इन्होंने रसको केवल सुखात्मक न मानकर दुःखात्मक भी माना है।

आचार्य हेमचन्द्रके शिष्य होनेके नाते ये गुजरातके सिद्धराज (१०९३-११४३), कुमारपाल (११४३-११७२) तथा अजयपाल (११७२-११७४) तीन राजाओंके समयमें विद्यमान थे। कहते

है कि अन्तिम राजा अजयपालने किसी कारणवश क्रुद्ध होकर इन्हें प्राणदण्ड दिलवा दिया था। इनका समय १२वीं शताब्दीमें निश्चित होता है।

२२. वाग्भट

आचार्य हेमचन्द्रके समयमें गुजरातका अनहिलपट्टन राज्य जैन विद्वानोंका केन्द्र बन गया था। काव्यशास्त्रके अनेक आचार्योंने वहाँ रहकर साहित्यका निर्माण किया था। उसी परम्परामें रामचन्द्र और गुणचन्द्रके बाद वाग्भटका नाम आता है। साहित्यिक क्षेत्रमें वाग्भटका नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १. 'वाग्भटालङ्कार', २. 'काव्यानुशासन', ३. 'नेमिनिर्वाणमहाकाव्य', ४. 'ऋषभदेवचरित', ५. 'छन्दोनुशासन' और आयुर्वेदके प्रसिद्ध ग्रन्थ, ६. 'अष्टाङ्गहृदय' आदि ग्रन्थोंके रचयिता वाग्भट माने जाते हैं। इन सबके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्तियोंने इनकी रचना की है इस विषयमें मतभेद है। कुछ लोग वाग्भट प्रथम और वाग्भट द्वितीय दो वाग्भट हुए हैं ऐसा मानते हैं। उनके मतमें प्रथम वाग्भट केवल 'वाग्भटालङ्कार'के निर्माता हैं और 'काव्यानुशासन', 'ऋषभदेवचरित' तथा 'छन्दोनुशासन' इन तीन ग्रन्थोंको ये लोग दूसरे वाग्भटकी रचना बतलाते हैं। किन्तु 'नेमिनिर्वाण महाकाव्य' तथा आयुर्वेदकी 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता' इन दोनोंमेंसे किस वाग्भटकी कृति है इस विषयपर ये लोग कोई प्रकाश नहीं डाल सके हैं। वास्तवमें तो इन सब ग्रन्थोंके रचयिता वाग्भट नामके एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। 'वाग्भटालङ्कार'की टीका (४-१४८) में—

'इदानीं ग्रन्थकार इदमलङ्कारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथया एकया निदर्शयति—'

यह पंक्ति लिखी है। इसमें वाग्भटको 'महाकवि' और अलङ्कारकर्ता' कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि अलङ्कारशास्त्रके 'वाग्भटालङ्कार' तथा 'काव्यानुशासन' ग्रन्थोंके साथ 'नेमिनिर्वाणमहाकाव्य' तथा 'ऋषभदेवचरित' जैसे काव्योंके रचयिता भी यही वाग्भट हैं। उस दशामें 'छन्दोनुशासन' तथा 'अष्टाङ्गहृदयसंहिता'का रचयिता भी इन्हींको मानना उचित प्रतीत होता है।

ऊपर दिये हुए उद्धरणमें जहाँ इनको 'महाकवि' कहा गया है उसके साथ ही 'महामात्य' भी बतलाया है। 'वाग्भटालङ्कार'के उदाहरणोंमें कर्णदेवके पुत्र अनहिलपट्टनके राजा चालुक्यवंशी राजा जयसिंहकी स्तुति निम्नलिखत प्रकार पायी जाती है—

'जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ॥४-४५
अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥४-१३२

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुः,
ऐरावणेन किमहो यदि तद्‌द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः,
स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा ॥'

इस स्तुतिसे यह प्रतीत होता है कि वाग्भट अनहिलपट्टनके राजा जयसिंहके महामात्य थे। एक बड़े राज्यके महामात्य, महाकवि और महान् विद्वान् होनेपर भी इनकी जीवनकथा बड़ी करुण है।

इन्हें अपने इस 'महामात्यत्व'का 'महामूल्य' चुकाना पड़ा है। इनकी एक पुत्री थी, परम सुन्दरी, परम विदुषी और अपने पिताके सदृश कविप्रतिभाशालिनी। जब वह विवाहयोग्य हुई तो उसे बलात् इनसे छीनकर राजप्रासादकी शोभा बढ़ानेके लिए भेज दिया गया। न वाग्भट इसके लिए तैयार थे और न कन्या। पर 'अप्रतिहता राजाज्ञा'के सामने दोनोंको सिर झुकाना पड़ा। बिदाईके समयकी कन्याकी इस उक्तिको जरा देखिये कैसा चमत्कार है, तबीयत फड़क उठती है। राजप्रासादके लिए प्रस्थान करते समय कन्या अपने रोते हुए पिताको सान्त्वना देते हुए कह रही है—

'तात वाग्भट ! मा रोदीः कर्मणां गतिरीदृशी।'
दुष् धातोरिवास्माकं गुणो दोषाय केवलम्॥'

व्याकरणप्रक्रियाके अनुसार दुष् धातुको गुण होकर 'दोष' पद बनता है 'दुष्' धातुके 'गुण'का परिणाम 'दोष' है। इसी प्रकार हमारे सौन्दर्य-'गुण'का परिणाम यह अनर्थ है और अत्याचाररूप 'दोष' है। इसलिए हे तात ! आप रोइये नहीं, यह तो हमारे कर्मोंका फल है कि दुष् धातुके समान हमारा गुण भी दोषजनक हो गया।

२४. अरिसिंह और अमरचन्द्र

जैन आचार्योंकी परम्परामें अगला नाम अरिसिंह-अमरचन्द्रका आता है। जिस प्रकार रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों एक ही गुरुके शिष्य थे और दोनोंने मिलकर 'नाटचदर्पण'की रचना की थी उसी प्रकार अरिसिंह और अमरचन्द्र दोनों एक ही गुरु जिनदत्त सूरिके शिष्य हैं और उन दोनोंने मिलकर 'काव्यकल्पलता' नामक ग्रन्थकी रचना की है—

'किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतं च किञ्चिद्
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्।'

—काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १

अमरसिंहके पिताका नाम लावण्यसिंह था। इन्होंने गुजरातके ढोलकर राज्यके राणा धीर-धवलके मन्त्री और अपने मित्र वस्तुपाल जैनकी स्तुतिमें 'सुहृत्सङ्कीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्रने 'काव्यकल्पलतावृत्ति'में अपने १. 'छन्दोरत्नावली', २. 'काव्यकल्पलतापरिमल' तथा ३. 'अलङ्कारप्रबोध' इन तीन ग्रन्थोंका उल्लेख किया है : इनके अतिरिक्त इन्होंने 'जिनेन्द्रचरित', जिसका दूसरा नाम 'पद्मानन्द' भी है, की रचना की है।

'काव्यकल्पलतावृत्ति'में अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके मार्गको छोड़कर नवीन मार्गका अवलम्बन किया गया है। उसका विषय 'कविशिक्षा' है। उसमें गुण, दोष, अलङ्कार आदिका विवेचन न करके काव्यरचनाके नियमोंका प्रतिपादन किया गया है। कवि बननेके इच्छुक व्यक्ति किस प्रकार अपने लक्ष्यको सरलतासे प्राप्त कर सकते हैं उन्हीं उपायोंका वर्णन इसमें किया गया है। इस ग्रन्थमें चार 'प्रतान' हैं। उनमें १. छन्दःसिद्धि, २. शब्दसिद्धि, ३. श्लेषसिद्धि और ४. अर्थसिद्धिके उपायोंका प्रतिपादन किया गया है।

२५. देवेश्वर

अरिसिंह और अमरचन्द्रके बाद उसी १४ वीं शताब्दीमें देवेश्वर नामके एक और जैन विद्वान् हुए हैं। उन्होंने 'कविकल्पलता' नामक ग्रन्थकी रचना की है। पर यह ग्रन्थ पूर्वोक्त 'काव्यकल्पलता'-

की एकदम अनुकृति है। कुछ नाममात्रका शैलीभेद करके सारा विषय 'काव्यकल्पलता'का ले लिया गया है। इसलिए इस ग्रन्थका अपना कोई मूल्य नहीं है।

२६. जयदेव

ग्यारहवीं शताब्दीमें आचार्य हेमचन्द्रसे लेकर चौदहवीं शताब्दीमें देवेश्वरपर्यन्त लगभग २५० वर्षतक जब उधर गुजरातका अनहिलवाड़ा राज्य जैन विद्वानों और साहित्यकारोंका केन्द्र बन रहा था, उसी समय बङ्गदेश ब्राह्मण विद्वानों, कवियों और साहित्यकारोंका केन्द्र बना हुआ था। इस कालमें गुजरातने जहाँ आचार्य हेमचन्द्र जैसे विद्वान् और रामचन्द्र जैसे सुकवि उत्पन्न किये उसी प्रकार बङ्गदेशके विद्याकेन्द्रने जयदेव और गोवर्धनाचार्य जैसे सुकवियों और पण्डितोंको प्रस्तुत किया। बङ्गदेशमें बल्लालसेनके पुत्र लक्ष्मणसेन ११ वीं शताब्दीमें राज्य करते थे। इन लक्ष्मणसेनकी राजसभामें (१) आर्यासप्तशतीकार गोवर्धनाचार्य, (२) जयदेव, (३) शरणकवि, (४) उमापति और (५) कविराज ये पाँच प्रमुख सभापण्डित थे। राजा लक्ष्मणसेनके सभाभवनके द्वारपर इन 'सभारत्नों'के नाम शिलापट्टपर एक श्लोकके रूपमें निम्नलिखित प्रकार अङ्कित थे–

'गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्य तु ॥'

इनमेंसे गोवर्धनाचार्य 'आर्यासप्तशती'के रचयिताके रूपमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जयदेव 'चन्द्रालोक' और 'प्रसन्नराघव' नाटकादि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता हैं। 'कविराज' पद कदाचित् धोयी कविके लिए प्रयुक्त हुआ है। जयदेवकविने 'गीतागोविन्द'में अपने सभी साथी कवियोंका उल्लेख इस प्रकार किया है—

'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरः धोयी कविक्ष्मापतिः ॥'

—गीतगोविन्द—४

इसमें जयदेवने उमापति, जयदेव, शरण, गोवर्धनाचार्य और धोयी कविराज सभीका नाम ग्रहण करके उनकी विशेषताओंका वर्णन किया है।

जयदेवविरचित ग्रन्थोंमें १. 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक और 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे "गीतगोविन्द'में उन्होंने अपने आश्रयदाता लक्ष्मणसेन तथा अपने सहयोगी पञ्चरत्नोंका परिचय दिया है। 'चन्द्रालोक' एवं 'प्रसन्नराघव' नाटकमें अपने माता-पिताका परिचय दिया है। उनके पिताका नाम महादेव और माताका नाम सुमित्रा था। 'चन्द्रालोक'के प्रत्येक 'मयूख'के अन्तमें—

'महादेवः सत्रप्रमुखविधैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ ॥'

लिखकर अपनी माता सुमित्रा तथा अपने पिता महादेवके नामका कीर्तन किया है। इसी प्रकार 'प्रसन्नराघव' नाटककी प्रस्तावनामें भी जयदेवने इन दोनोंका परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'विलासो यद्वाचामसमरसनिष्यन्दमधुरः
कुरङ्गाक्षीबिम्बाधरमधुरभावं गमयति ।
कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः ॥
लक्ष्मणस्येव यस्यास्य सुमित्राकुक्षिजन्मनः ।
रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते मनः ॥'

माता-पिताके इस परिचयसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'चन्द्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव' नाटकके रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

गीतगोविन्दकार जयदेव

'गीतागोविन्द'के बारहवें सर्गका ११वाँ श्लोक निम्नलिखित प्रकार पाया जाता है—

'श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामा-(धा !)-देवीसुतश्रीजयदेवकस्य ।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु ॥'

इस श्लोकमें जयदेवको भोजदेव और रामादेवीका पुत्र कहा है। इस कारण अधिकांश विद्वान् गीतगोविन्दकार जयदेवको 'चन्द्रालोक' तथा 'प्रसन्नराघव'के प्रणेता जयदेवसे भिन्न मानते हैं। इन गीतगोविन्दकार जयदेवके विषयमें श्रीचन्द्रदत्त नामक किसी कविने संस्कृतके 'भक्तमाल' नामक अपने ग्रन्थमें (३९-४१ तीन सर्गोंमें २४१ श्लोकोंमें) विस्तारके साथ परिचय दिया है। किन्तु उसमें इनके माता-पिताके नामका कोई उल्लेख नहीं किया है। उस परिचयमें चन्द्रदत्तने उत्कलमें जगन्नाथपुरीके पास 'बिन्दुबिल्व' ग्रामको जयदेवकी जन्मभूमि बतलाते हुए लिखा है—

'जगन्नाथपुरीप्रान्ते देशे चैवोत्कलाभिधे ।
बिन्दुबिल्व इति ख्यातो ग्रामो ब्राह्मणसङ्कुलः ॥
तत्रोत्कले द्विजो जातो जयदेव इति श्रुतः'

आगे तीन सर्गोंमें जो कुछ वर्णन है वह 'गीतगोविन्द'के माहात्म्यको प्रदर्शक अनेक भक्तजनोचित कथाओंके रूपमें है। चन्द्रदत्तके इस वर्णन और 'गीतगोविन्द'में दिये हुए माता-पिताके नामोंके भेदसे यह प्रतीत होता है कि गीतगोविन्दकार जयदेव चन्द्रालोककार और प्रसन्नराघवकार जयदेवसे भिन्न हैं। इसी आधारपर अधिकांश विद्वान् दो जयदेव अलग-अलग मानते हैं।

किन्तु हमारे विचारमें यह स्थिति यथार्थ नहीं है। चन्द्रालोककार जयदेवको गीतगोविन्दकार जयदेवसे भिन्न माननेका मुख्य आधार 'चन्द्रालोकमें आया हुआ उपरिलिखित 'श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य' श्लोक ही है। परन्तु यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है। इस अनुमानका कारण यह है कुम्भनृपतिकृत 'रसिकप्रिया' नामक 'गीतगोविन्द'की टीकामें इस 'श्रीभोजदेवप्रभवस्य' श्लोकको टीका नहीं पायी जाती है। निर्णयसागरसे जो 'रसिकप्रिया टीका' सहित 'गीतगोविन्द' प्रकाशित हुआ है उसमें इस स्थलपर सम्पादक महोदयने कोष्ठकमें 'अत्र श्रीभोजदेवेति श्लोकस्य टीका नोपलब्धा टीकादर्शपुस्तके' पद लिख दिया है। इससे अनुमान होता है कि यह श्लोक बादका बढ़ाया हुआ श्लोक है और प्रामाणिक नहीं है।

हमारे इस अनुमानके समर्थनमें दूसरी युक्ति यह भी है कि यदि हम इस श्लोकके आधारपर 'गीतगोविन्दकार जयदेवको चन्द्रालोककार जयदेवसे भिन्न मानना चाहें तो फिर चन्द्रदत्तकृत 'भक्तमाल'के विवरणके अनुसार उन्हें उत्कल-निवासी जयदेवके रूपमें मानना होगा। उस दशामें 'गीतगोविन्द'के प्रथम सर्गमें बङ्गालके राजा लक्ष्मणसेनकी राजसभाके पञ्चरत्नोंका उल्लेख करनेवाले श्लोककी सङ्गति कैसे लगेगी ? 'गीतगोविन्द'का प्रथम सर्गवाला यह श्लोक सर्वथा प्रामाणिक श्लोक है। उसमें किसीका मतभेद नहीं है। इस श्लोकसे यह स्पष्ट है कि गीतगोविन्दकार जयदेव बङ्गदेशीय राजा लक्ष्मणसेनकी सभाके पञ्चरत्नोंमेंसे ही हैं। इसलिए वे चन्द्रालोककार तथा प्रसन्नराघवकार जयदेवसे अभिन्न ही हैं, भिन्न नहीं हैं।

चन्द्रालोककार जयदेवसे गीतगोविन्दकार जयदेवको भिन्न माननेका मुख्य आधार 'श्रीभोजदेव' इत्यादिश्लोक था। वह अप्रामाणिक है यह बात हम अभी दिखला चुके हैं। इसका दूसरा आधार चन्द्रदत्तकृत 'भक्तमाल'में दिया हुआ उत्कलवासी जयदेवका वर्णन है। वह वर्णन स्पष्टतः गीतगोविन्दकारसे ही सबन्ध रखता है। किन्तु उसमें जयदेवके माता-पिताके नामका कहीं उल्लेख नहीं आता है। केवल उत्कलदेशमें उनके जन्मकी और जगन्नाथपुरी तथा उत्कलसे सम्बद्ध 'गीतगोविन्द'के माहात्म्यकी प्रदर्शक कथाओंका वर्णन है। परन्तु उससे गीतगोविन्दकार जयदेवको चन्द्रालोककार जयदेवसे भिन्न माननेका समर्थन नहीं होता है। यह हो सकता है कि जयदेवका जन्म उत्कलके 'बिन्दुबिल्व' ग्राममें ही हुआ हो और उनका विवाह भी वहीं पद्मावतीके साथ हुआ हो, किन्तु बादको वे बङ्गदेशीय राजा लक्ष्मणसेनकी राजसभाके 'रत्न' बन गये हों। यह भी माना जा सकता है कि उन्होंने 'गीतगोविन्द'की रचना उत्कलमें रहते हुए ही कर ली हो जिससे उत्कल और जगन्नाथपुरीके मन्दिरमें 'गीतगोविन्द'का विशेष प्रचार हो गया हो। पर इससे उन्हें 'चन्द्रालोक' और 'प्रसन्नराघव'का कर्ता न माननेका समर्थन नहीं होता है, और न इससे यह सिद्ध होता है कि वे राजा लक्ष्मणसेनकी सभाके रत्नोंमें नहीं आ सकते हैं। यदि 'भक्तमाल'वाली कथा इस बातमें बाधा उपस्थित करती है कि गीतगोविन्दकार जयदेव राजा लक्ष्मणसेनकी सभाके 'रत्न' थे तो उस कथाको भी अप्रामाणिक मानना होगा, क्योंकि गीतगोविन्दकार जयदेवने स्वयं ही लक्ष्मणसेनके सभारत्नोंमें अपने नामका उल्लेख किया है।

इस सब विवेचनका परिणाम यह निकलता है कि गीतगोविन्दकार जयदेव चन्द्रालोककार जयदेवसे भिन्न नहीं हैं, अभिन्न ही हैं।

पक्षधर मिश्र और जयदेव मिश्र

चन्द्रदत्तके 'भक्तमाल'के अनुसार उत्कलप्रदेशमें जयदेव उत्कलवासीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मिथिलामें वे एक मौलिक विद्वान्के रूपमें प्रसिद्ध हैं। मैथिल-प्रसिद्धिके अनुसार जयदेव पक्षधर मिश्रका दूसरा नाम है। पक्षधर मिश्र मैथिल और नव्यन्यायके प्रमुख आचार्य हैं। उनका जन्मकाल १२७५ है। इन्हींका दूसरा नाम जयदेव मिश्र है। अलङ्कारशास्त्रपर इन्होंने 'चन्द्रालोक' ग्रन्थ लिखा है, इसी प्रकार गङ्गेशोपाध्याय-विरचित 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थके ऊपर पक्षधर मिश्रने 'तत्त्वचिन्तामण्यालोक' ग्रन्थकी रचना की है। पक्षधर मिश्र (जयदेव) के नव्यन्यायपर 'न्यायलीलावतीविवेक' तथा 'द्रव्यपदार्थालोक' ग्रन्थ भी है। जयदेव मिश्र पक्षधर मिश्रका ही दूसरा नाम हो सकता है, इस बातकी पुष्टि इस आधारपर होती है कि 'प्रसन्नराघव' नाटकमें जयदेव मिश्रने अपने तार्किकत्वका भी बड़े गर्वके साथ उल्लेख करते हुए लिखा है—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥

जयदेवके नामसे १. 'चन्द्रालोक', २. 'प्रसन्नराघव' नाटक तथा ३. 'गीतगोविन्द' तीन ग्रन्थ विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं।

'चन्द्रालोक'में १० 'मयूख' हैं। उनमें क्रमशः १. वाग्विचार, २. दोषनिरूपण, ३. लक्षण-निरूपण, ४. गुणनिरूपण, ५. अलङ्कारनिरूपण, ६. रसभावरीतिवृत्तिनिरूपण, ७. शब्दशक्तिनिरूपण, ८. गुणीभूतव्यङ्ग्यनिरूपण, ९. लक्षणानिरूपण और १०. अभिधानिरूपणका प्रतिपादन हुआ है। यह ग्रन्थ बड़ी सरल और सुन्दर शैलीमें लिखा गया है। अलङ्कारोंके निरूपणमें इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने अनुष्टुप् श्लोकके पूर्वार्द्धमें प्रत्येक अलङ्कारका लक्षण और आधे श्लोकमें उसका उदाहरण दे दिया है। इससे अलङ्कारोंके समझने और याद करनेमें बड़ी सरलता होती है। इसलिए यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ। इसके ऊपर प्रद्योतन भट्टाचार्यने 'शरदागम' टीका सबसे पहिले लिखी थी। उसके बाद अप्पय्यदीक्षित (१६२०-१६९०)ने 'चन्द्रालोक'के अलङ्कारप्रकरणको लेकर अपने 'कुवलयानन्द' ग्रन्थकी रचना की।

'चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः ।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम् ॥'

इनके अतिरिक्त वैद्यनाथ पायगुण्डेने 'रामा' नामक एक टीका और विश्वेश्वर पण्डितने, जो 'गागाभट्ट' नामसे भी कहे जाते हैं, 'चन्द्रालोक'पर 'सुधा' या 'राकागम' टीका लिखी। जोधपुरनरेश जसवन्तसिंह प्रथम (सं० १६८३-१७३५) ने इसी 'चन्द्रालोक'के आधारपर भाषाभूषण' नामक अलङ्कार-ग्रन्थकी रचना की है। 'चन्द्रालोक'का पाँचवाँ मयूख इस 'भाषाभूषण' ग्रन्थका आधार है। 'भाषाभूषण' 'चन्द्रालोक'का अनुवादमात्र नहीं है।

जयदेवका दूसरा ग्रन्थ 'प्रसन्नराघव' नाटक है। 'चन्द्रालोक'के समान उत्तरवर्ती साहित्यपर इसका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासने 'प्रसन्नराघव'के अनेक पद्योंका अनुवाद अपने 'रामचरितमानस'में प्रस्तुत किया है। उदाहरणरूपमें निम्नलिखित दो पद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

'चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्रविरहानलजातम् ।
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं धारया वहसि शीतलमम्भः ॥'

यह 'प्रसन्नराघव' नाटकके छठे अङ्कका श्लोक है। गोस्वामी तुलसीदासने इसका अनुवाद निम्नलिखित प्रकार किया है—

"चन्द्रहास हरु मम परितापं । रघुपति बिरह अनल संजातम् ।
सीतल निसा तव असिवर धारा । कह सीता हरु मम दुख भारा ॥"

'प्रसन्नराघव' नाटकके छठे अङ्कका पहिला श्लोक इस प्रकार है—

'उदर्कभूतिमिच्छद्भिः सद्भिः खलु न दृश्यते ।
चतुर्थीचन्द्रलेखेव परस्त्रीभालपट्टिका ॥'

गोस्वामी तुलसीदासजीने इसका भाषानुवाद निम्नलिखितप्रकार प्रस्तुत किया है—

"सो परनारि-लिलार गोसाईं।
तजहु चौथ चन्दाकी नाईं ॥"

२७. विद्याधर

एकावलीकार विद्याधरसे अलङ्कारशास्त्रकी प्रवृत्तियोंमें एक नया मोड़ आरम्भ होता है। अबतक हमने देखा है कि साहित्यशास्त्रके ऊपर सबसे बड़ा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम भारतके ठेठ उत्तरी भाग काश्मीरमें हुआ। साहित्यशास्त्रके २,००० वर्षोंके इतिहासमें बारहवीं शताब्दीमें हुए रुय्यकतक लगभग १,४०० वर्ष साहित्यिक प्रवृत्तियोंका प्रधान केन्द्र कश्मीर रहा है। यह भारतका उत्तरी विद्याकेन्द्र था। इसके बाद गुजरातका अनहिलपट्टन राज्य और पूर्वका बङ्गराज्य साहित्यक प्रवृत्तियोंके केन्द्र बने। एकावलीकार विद्याधरसे साहित्यिक प्रवृत्तियोंका केन्द्र दक्षिणभारतमें पहुँच गया। विद्याधर, विद्यानाथ और विश्वनाथ ये सब दक्षिण भारतकी विभूतियाँ हैं, जिन्होंने अलङ्कारशास्त्रके साहित्यनिर्माणमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

विद्याधरका एकमात्र ग्रन्थ 'एकावली' है। इसमें आठ 'उन्मेष' या अध्याय हैं। इनमें क्रमशः १. काव्यस्वरूप, २. वृत्तिविचार, ३. ध्वनिभेद, ४. गुणीभूतव्यङ्ग्य, ५. गुण और रीति, ६. दोष, ७. शब्दालङ्कार तथा ८. अर्थालङ्कारोंका विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' और 'अलङ्कारसर्वस्व'के आधार पर लिखा गया है। इसके ऊपर १४ वीं शताब्दीमें सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने 'तरला' नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। इसीलिए मल्लिनाथने अपनी काव्य-टीकाओंमें 'एकावली'के काव्यलक्षण ही प्रायः उद्धृत किये हैं।

'एकावली'की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें जितने उदाहरण दिये गये हैं वे स्वयं विद्याधरके बनाये हुए हैं और उन्होंने अपने आश्रयदाता उत्कलाधिपति नरसिंहदेवके स्तुतिरूपमें उनकी रचना की है। उन्होंने लिखा है—

'एष विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् ॥' —एकावली

ग्रन्थकारने स्वयं अपने इन श्लोकोंको 'चाटुश्लोक' (खुशामद और चापलूसीके श्लोक) कहा है। पूर्ववर्ती अलङ्कारसाहित्यमें यह प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती है। विद्याधरने इस नवीन चाटुप्रवृत्तिकी उद्भावना की। उनके बाद विद्यानाथने भी इसका अनुकरण किया। विद्याधरने जिस उत्कलाधिपतिके चाटुश्लोकोंको उदाहरणरूपमें प्रस्तुतकर 'एकावली'की रचना की है वे उड़ीसाके राजा नरसिंह द्वितीय माने जाते हैं। उनका समय १२८०–१३१४ ई० है। इसलिए विद्याधरका भी यही काल पड़ता है।

२८. विद्यानाथ

विद्याधरके बाद विद्यानाथका समय आता है। ये भी विद्याधर द्वारा उद्भावित 'चाटुप्रवृत्ति'के अनुगामी हैं। इन्होंने अलङ्कारशास्त्रपर 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ लिखा है। अन्य ग्रन्थोंके समान इसमें भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग हैं। इसके सारे उदाहरण आन्ध्रप्रदेशके काकतीय-वंशीय राजा प्रतापरुद्रकी स्तुतिमें स्वयं विद्यानाथके बनाये हुए हैं।

'प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः ।
अलङ्कारप्रबन्धोऽयं सन्तः कर्णोत्सवोऽस्तु वः ।'

—प्रतापरुद्रयशोभूषण १-९

इस 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के तृतीय अध्यायमें ग्रन्थकारने अपने आश्रयदाताकी स्तुतिमें लिखे हुए 'प्रतापकल्याण' नाटकका समावेश कर दिया है। प्रतापरुद्र आन्ध्रप्रदेशके राजा थे। इनकी राजधानी वारङ्गल, जिसको 'एकशिला' कहते हैं, थी। इनके शिलालेख १२९८-१३१७ ई० तकके मिलते हैं। इसलिए प्रतापरुद्र राजाका समय चौदहवीं शताब्दीका आरम्भिक भाग है। यही समय विद्यानाथका भी है। विद्यानाथके 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के आदर्शपर ही कदाचित् हिन्दीके प्रसिद्ध कवि भूषणने 'शिवराजभूषण' नामक अलङ्कार ग्रन्थकी हिन्दीमें रचना की थी।

२९. विश्वनाथ कविराज

विद्यानाथके बाद विश्वनाथ कविराजका नाम आता है। इनका अलङ्कारशास्त्रविषयक 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ बड़ा लोकप्रिय है। उसके अन्तिम श्लोकमें उन्होंने अपनेको 'श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः' कहा है, जिससे पता चलता है कि इनके पिताका नाम चन्द्रशेखर था। इनके पितामहका नाम नारायणदास था। इन्होंने 'काव्यप्रकाश'के ऊपर टीका भी लिखी है। उसका उल्लेख 'काव्यप्रकाश'की टीकाओंके प्रसङ्गमें किया जा चुका है। इसमें उन्होंने अपने पितामह श्रीनारायणदासका परिचय देते हुए लिखा है—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः...अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदासपादाः'

'साहित्यदर्पण'में इन्हीं नारायणदासका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'तत्प्रवणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम् ।'

इन दोनोंमें विश्वनाथने नारायणदासके साथ अपना जो सम्बन्ध दिखलाया है वह एक-सा नहीं है। पहिली जगह उनको अपना साक्षात् पितामह कहा है और दूसरी जगह 'वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठ' अर्थात् मित्रमण्डलीके प्रमुख कहा है। पता नहीं इनमेंसे कौन-सी बात ठीक है। पर इस विवरणसे यह निकलता है कि यह कलिङ्गके रहनेवाले थे। 'साहित्यदर्पण'के प्रथम परिच्छेदके अन्तकी पुष्पिकाके अनुसार उन्होंने अपनेको 'सान्धिविग्रहिक' और 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वे १८ भाषाओंके ज्ञाता थे और किसी राज्यके 'सान्धिविग्रहिक' अर्थात् विदेशमन्त्री थे। किन्तु उस राज्यका कोई उल्लेख नहीं किया है।

'साहित्यदर्पण'के चतुर्थ परिच्छेदमें 'अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः' (४-१४) इन शब्दोंमें दिल्लीके सुलतान अलाउद्दीन खिलजीका उल्लेख पाया जाता है। अलाउद्दीन खिलजीका शासनकाल १२९६-१३१६ ई० तक रहा है। उसने दक्षिणभारतपर आक्रमण कर पिछले आचार्य विद्यानाथके आश्रयदाता प्रतापरुद्रकी राजधानी वारङ्गल (एकशिला)को जीत लिया था। उसका उल्लेख 'साहित्यदर्पण'में पाये जानेसे विश्वनाथका काल उसके बाद ही सम्भव है। इधर 'साहित्यदर्पण'की एक हस्तलिपि प्राप्त हुई है, उसका लेखनकाल सन् १३८४ ई० (सं० १४४०) है। इसलिए विश्वनाथका काल चौदहवीं शताब्दीमें स्थिर होता है।

विश्वनाथका सबसे मुख्य और प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' है। 'काव्यप्रकाश' के समान इसमें भी दस परिच्छेद हैं और इन परिच्छेदोंमें प्रायः उसी क्रमसे विषयका विवेचन किया गया है। किन्तु इसकी अपनी विशेषता यह है इसके छठे परिच्छेदमें, जो इसका सबसे बड़ा परिच्छेद है, नाटचशास्त्र-सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयका समावेश कर दिया गया है, जिससे काव्य तथा नाटच-सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान एक ही ग्रन्थ द्वारा प्राप्त हो जानेसे ग्रन्थकी उपयोगिता बढ़ गयी है। 'काव्यप्रकाश'में नाटकसम्बन्धी अंश नहीं है। प्रथम परिच्छेदमें काव्यके प्रयोजन-लक्षणादि प्रस्तुत करते हुए विश्वनाथने मम्मटके 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस काव्यलक्षणका बड़े संरम्भके साथ खण्डन किया है और उसके स्थानपर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'को काव्यका लक्षण स्थापित किया है। द्वितीय परिच्छेदमें वाक्य और पदका लक्षण करनेके बाद अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनादि शब्दशक्तियोंका विस्तारके साथ विवेचन किया है। तृतीय उल्लासमें रसनिष्पत्तिका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। रसनिरूपणके साथ-साथ इसमें नायकनायिकाभेदका प्रतिपादन किया है। यह विषय भी 'काव्यप्रकाश'में नहीं आया है। चतुर्थ परिच्छेदमें काव्यके ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यके भेदोंका विवेचन किया है। पञ्चम परिच्छेदमें ध्वनिसिद्धान्तके विरोधी समस्त मतोंका खण्डन करके ध्वनिसिद्धान्तका समर्थन बड़ी प्रौढ़ताके साथ किया है। इसीलिए ग्रन्थकार परिच्छेदोंके अन्तकी पुष्पिकाओंमें अपनेको 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' लिखते हैं। छठे परिच्छेदमें नाटचशास्त्र-सम्बन्धी विषयोंका प्रतिपादन है। उसके बाद ७-१० चार परिच्छेदोंमें क्रमशः दोष, गुण, रीति तथा अलङ्कारोंका प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण बन गया है। ग्रन्थकी लेखनशैली बड़ी सरल और सुबोध है। 'काव्यप्रकाश'की-सी जटिलता इसमें कहीं नहीं है।

'साहित्यदर्पण'के लिखनेके बाद विश्वनाथने 'काव्यप्रकाश'के ऊपर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका लिखी। इनके अतिरिक्त अनेक काव्योंकी भी रचना की है, जिनमें १. 'राघवविलास' संस्कृतका महाकाव्य है; २. 'कुवलयाश्वचरित' प्राकृत भाषामें निबद्ध काव्य है; ३. 'प्रभावतीपरिणय' नाटिका; ४. 'चन्द्रकला' नाटिका; ५.. 'नरसिंहविजय' काव्य तथा ६. 'प्रशस्तिरत्नावली' इन ६ काव्य तथा नाटकोंका उल्लेख इन्होंने स्वयं 'साहित्यदर्पण' तथा 'काव्यप्रकाश'की टीकामें किया है। इनमेंसे अन्तिम 'प्रशस्तिरत्नावली' सोलह भाषाओंमें लिखा हुआ 'करम्भक' है।

३०. शारदातनय [१३वीं शताब्दी]

शारदातनय अलङ्कारशास्त्रके नहीं, अपितु नाटचशास्त्रके आचार्य हैं। इनके ग्रन्थका नाम 'भावप्रकाशन' है। ग्रन्थमें दस 'अधिकार' अथवा अध्याय हैं। इनमें क्रमशः १. भाव, २. रसस्वरूप, ३. रसभेद, ४. नायक-नायिका, ५. नायिकाभेद, ६. शब्दार्थसम्बन्ध, ७. नाटचेतिहास, ८. दशरूपक, ९. नृत्यभेद तथा १०. नाटच-प्रयोगका वर्णन किया गया है।

शारदातनयका नाम उनका राशिनाम नहीं है अपितु वे अपनेको शारदादेवीका पुत्र मानकर अपनेको 'शारदातनय' कहने-लिखने लगे, इसलिए उनका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। उन्होंने अपने 'भावप्रकाशन' ग्रन्थमें भोजके 'शृङ्गारप्रकाश' तथा मम्मटके 'काव्यप्रकाश'से अनेक श्लोकोंको उद्धृत किया है। आगे १३२० ई० के लगभग होनेवाले शिङ्गभूपालने अपने 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थमें इन शारदातनयके मतका उल्लेख किया है, इसलिए शारदातनयका समय उनसे पूर्व अर्थात् तेरहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

३१. शिङ्गभूपाल [१४वीं शताब्दी]

शारदातनयके समान शिङ्गभूपाल भी नाटचशास्त्रके आचार्य हैं। इनका 'रसार्णवसुधाकर' ग्रन्थ नाटचशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाला ग्रन्थ है। उसमें १. रञ्जकोल्लास, २. रसिकोल्लास तथा ३. भावोल्लास नामक तीन उल्लास हैं। प्रथम रञ्जकोल्लासमें नायक-नायिकाके स्वरूपका, दूसरे रसिकोल्लासमें रसके स्वरूपका, तीसरे भावोल्लासमें रूपकोंके वस्तुविन्यासका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। लेखनशैली सरल और सुन्दर है। 'रसार्णवसुधाकर' की पुष्पिकामें इन्होंने अपना परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'इति श्रीमदान्ध्रमण्डलाधीश्वरप्रतिगण्डभैरवश्रीअन्नप्रोतनरेन्द्रनन्दनभुजबल-भीमश्रीशिङ्गभूपालविरचिते रसार्णवसुधाकरनाम्नि नाटचालङ्कारे रञ्जकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।'

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये आन्ध्रके राजा अन्नप्रोतके पुत्र और आन्ध्रमण्डलके अधीश्वर थे। साथ ही इन्होंने अपने को शूद्र लिखा है।

'रसार्णवसुधाकर'के अतिरिक्त इन्होंने शार्ङ्गदेवके 'सङ्गीतरत्नाकर' नामक सङ्गीतशास्त्रविषयक ग्रन्थके ऊपर 'सङ्गीतसुधाकर' टीका लिखी है। इसकी पुष्पिका भी 'रसार्णवसुधाकर'की पुष्पिकासे बिलकुल मिलती-जुलती है। 'रसार्णवसुधाकर'के आरम्भमें इन्होंने अपने वंशादिका जो परिचय दिया है उससे विदित होता है कि इनका जन्म 'रेचल्ल' वंशमें हुआ था। इन्हें ६ पुत्र थे। विन्ध्याचलसे लेकर श्रीबोल नामक पर्वततकके बीचके भागपर इनका शासन था। इनकी राजधानीका नाम 'राजाचल' था और ये शूद्र थे। इनका समय चौदहवीं शताब्दीमें माना जाता है।

३२. भानुदत्त [१४वीं शताब्दी]

अबतक हमने काव्यशास्त्रविषयक साहित्यिक प्रवृत्तियोंका जो चित्र उपस्थित किया है उससे भारतके उत्तरमें कश्मीर, पश्चिममें अनहिलपट्टन, पूर्वमें बङ्ग और दक्षिणमें उत्कल, आन्ध्र आदिके राजाओं-के संरक्षणमें होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियोंका परिचय मिल जाता है। किन्तु इस कार्यमें मध्यभारतका भाग अबतक शून्य जैसा है। अब भानुदत्तसे मध्यभारतकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका आरम्भ होता है। भानुदत्तके दो ग्रन्थ हैं—१. 'रसमञ्जरी' और २. 'रसतरङ्गिणी'। इनमेंसे 'रसमञ्जरी' मुख्य गन्थ है। 'रसतरङ्गिणी' इसीका संक्षिप्त रूप है। 'रसमञ्जरी'के अन्तिम श्लोकमें ग्रन्थकारने अपना परिचय निम्नलिखित प्रकार दिया है—

'तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणिः
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता।'

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये विदेहभू अर्थात् मिथिलाके रहनेवाले थे और इनके पिताका नाम गणेश्वर था। 'विवादरत्नाकर' नामक धर्मशास्त्रविषयक ग्रन्थके लेखक चण्डेश्वरने भी अपनेको मन्त्री गणेश्वरका पुत्र बतलाया है। इससे प्रतीत होता है कि कदाचित् भानुदत्त और चण्डेश्वर सगे भाई होंगे। चण्डेश्वरने १३१५ ई० में अपना तुलादान करवाया था। इसलिए भानुदत्तका समय चौदहवीं शताब्दीमें ही निर्धारित होता है। पन्द्रहवीं शताब्दीमें गोपाल आचार्य (१४२८ ई०) ने

भानुदत्तकी 'रसमञ्जरी'पर विकास' नामक टीका लिखी है। 'रसमञ्जरी'पर अबतक ११ टीकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। 'रसमञ्जरी' एवं 'रसतरङ्गिणी'के अतिरिक्त भानुदत्तका 'गीतगौरीपति' नामक एक सुन्दर गीतिकाव्य भी मिलता है, जो जयदेवके 'गीतगोविन्द'के आदर्शपर लिखा गया है और उसीके समान सरल एवं सुन्दर है।

३३. रूपगोस्वामी [१५-१६वीं शताब्दी]

रूपगोस्वामी वृन्दावनकी विभूति हैं। ये चैतन्य महाप्रभुके शिष्य प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हैं। इन्होंने वैष्णव दृष्टिकोणसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं विशाल साहित्यकी रचना की है। रूपगोस्वामी तथा सनातनगोस्वामी ये दो भाई थे। दोनों चैतन्य महाप्रभुके शिष्य थे और उन्हींकी प्रेरणासे अपनी जन्मभूमि बंगालको छोड़कर वृन्दावनमें जाकर बसे थे। इनके साथ इनके एक भतीजे जीवगोस्वामी भी हैं। ये तीनों ही वैष्णवधर्मके प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके कारण वृन्दावनको साहित्यिक क्षेत्रमें अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ है। जीवगोस्वामीने सनातनगोस्वामीकी भागवत-टीकाका संक्षिप्तरूप 'लघुतोषिणी'के नामसे प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सनातनगोस्वामी तथा रूपगोस्वामीके सभी ग्रन्थोंकी सूची दी है। इस सूचीके अनुसार रूपगोस्वामीके १७ ग्रन्थ हैं। इनमें १. 'हंसदूत' काव्य, २. 'उद्धवसन्देश' काव्य, ३. 'विदग्धमाधव' नाटक, ४. 'ललितमाधव' नाटक, ५. 'दानकेलिकौमुदी' भाणिका, ६. 'भक्तिरसामृतसिन्धु', ७. 'उज्ज्वलनीलमणि' (रसशास्त्र) तथा ८. 'नाटकचन्द्रिका' ये आठ ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमेंसे भी अन्तिम तीन ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इन्हीं ग्रन्थोंके कारण अलङ्कारशास्त्रके इतिहासमें इनको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इनमेंसे 'विदग्धमाधव' का रचनाकाल १५३३ ई० तथा 'उत्कलिकावल्लरी' (जिसका उल्लेख ऊपर नहीं आया) का रचनाकाल १५५० ई० दिया गया है। इससे इनके कालनिर्धारणमें सहायता मिलती है। चैतन्य महाप्रभुका समय १५ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग है। रूपगोस्वामी उनके शिष्य हैं और १५५० में उन्होंने 'उत्कलिकावल्लरी'की रचना की है, इसलिए उनका समय हमने १५-१६वीं शताब्दी रखा है।

रूपगोस्वामीके साहित्यशास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले तीन ग्रन्थोंमें से 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' ये दोनों ग्रन्थ रसविषयपर हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण विभाग नामसे चार 'विभाग' हैं। प्रत्येक विभाग अनेक लहरियोंमें विभक्त हैं। इसमें भक्तिरस-को सर्वोत्तम रस सिद्ध करनेका यत्न किया गया है। पूर्वविभागमें भक्तिका सामान्य स्वरूप, लक्षणादि दिये हैं। दक्षिणविभागमें उसके विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभावोंका वर्णन किया गया है। पश्चिमविभागमें शान्त भक्तिरस, प्रीत भक्तिरस, प्रेयो भक्तिरस, वत्सल भक्तिरस तथा मधुर भक्तिरस आदि भक्तिरसके विशेष भेदोंका निरूपण किया है। उत्तरविभागमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसोंका वर्णन और रसोंके विरोधाविरोध आदिका दिग्दर्शन कराया गया है। इस ग्रन्थकी रचना १५४१ ई० (१४३३ शाके) में हुई थी। 'उज्ज्वलनीलमणि' इसका पूरक ग्रन्थ है। उसमें मधुरशृङ्गारका विवेचन है।

रूपगोस्वामीका साहित्यशास्त्रविषयक तीसरा ग्रन्थ 'नाटकचन्द्रिका' है। इसकी रचना उन्होंने भरत-नाट्यशास्त्र तथा शिङ्गभूपालके 'रसार्णवसुधाकर'के आधारपर की है। इसमें विश्वनाथके 'साहित्यदर्पण'में किये हुए नाट्यनिरूपणको भरतमुनिके विपरीत बतलाया गया है।

रूपगोस्वामीके भतीजे जीवगोस्वामीने उनके 'भक्तिरसामृतसिन्धु'पर 'दुर्गमसङ्गमिनी' तथा

'उज्ज्वलनीलमणि'पर 'लोचनरोचनी'टीकाएँ लिखी हैं। रूपगोस्वामी तथा सनातनगोस्वामीके समान जीवगोस्वामी भी बड़े उच्च कोटिके विद्वान् थे। ये तीनों आचार्य वृन्दावनके गौरवभूत हैं।

३४. केशवमिश्र [१६वीं शताब्दी]

भारतके मध्यभागमें होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियोंका यह प्रसङ्ग चल रहा है। इसमें हम वृन्दावन आ गये हैं। अब थोड़ा-सा और आगे बढ़ें तो हम भारतकी राजधानी दिल्लीके पास पहुँच जाते हैं। यह केशवमिश्रका स्थान है। केशवमिश्रने काव्यशास्त्रपर 'अलङ्कारशेखर' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है: इस ग्रन्थमें उन्होंने लिखा है कि इस ग्रन्थकी रचना धर्मचन्द्रके पुत्र राजा माणिक्यचन्द्रके आग्रहपर की गयी है। कनिङ्घमने धर्मचन्द्रके पुत्र माणिक्यचन्द्र राजाका उल्लेख काँगड़ाके राजाके रूपमें किया है। उनके अनुसार माणिक्यचन्द्र १५६३ ई० में काँगड़ाकी गद्दीपर बैठे और उन्होंने दस वर्षतक राज्य किया। इससे केशवमिश्रका काल सोलहवीं शताब्दीका उत्तरार्धभाग निश्चित होता है।

अन्य अलङ्कारग्रन्थोंके समान केशवमिश्रने भी अपने 'अलङ्कारशेखर' ग्रन्थकी रचना कारिकारूपमें की है और उसपर स्वयं ही वृत्ति लिखी है। इसमें आठ अध्याय या आठ 'रत्न' हैं। इसमें १. काव्यका लक्षण, २. रीति, ३. शब्दशक्ति, ४. आठ प्रकारके पददोष, ५. अठारह प्रकारके वाक्यदोष, ६. आठ प्रकारके अर्थदोष, ७. पाँच प्रकारके शब्दगुण, चार प्रकारके अर्थगुण, दोषोंका गुणभाव, ८. अलङ्कार तथा ९. रूपक आदि विषयोंका निरूपण किया गया है। इसमें इन्होंने यह भी लिखा है कि उन्होंने अपनी कारिकाओंकी रचना किन्हीं 'भगवान् शौद्धोदनि'के अलङ्कारग्रन्थके आधारपर की है। किन्तु आजतक 'भगवान् शौद्धोदनि' और उनके अलङ्कारग्रन्थका कोई पता नहीं चल सका है।

३५. कवि कर्णपूर [१६वीं शताब्दी]

कवि कर्णपूरके पिता शिवानन्द चैतन्य महाप्रभुके शिष्य थे। उनके पुत्रका नाम परमानन्ददास सेन था। यही परमानन्ददास सेन साहित्यिक जगत्में 'कवि कर्णपूर' नामसे विख्यात हैं। सन् १५२४ ई० में बङ्गालके नदिया जिलेमें इनका जन्म हुआ था। सन् १५७२ ई० में इन्होंने महाप्रभु चैतन्यके जीवनपर 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक नाटककी रचना की। इनका दूसरा ग्रन्थ 'अलङ्कारकौस्तुभ' है। इसीके कारण अलङ्कारशास्त्रके आचार्योंमें गिने जाते हैं। इस ग्रन्थमें दस 'किरण' या अध्याय हैं। इनमें काव्यलक्षण, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, रस तथा भाव, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, रीति तथा दोष आदिका वर्णन किया गया है।

३६. कविचन्द्र [१६वीं शताब्दी]

कवि कर्णपूरके पुत्रका नाम कविचन्द्र था। इन्होंने भी अलङ्कारशास्त्रपर 'काव्यचन्द्रिका' नामक ग्रन्थकी रचना की थी। इसमें १६ 'प्रकाश' या अध्याय हैं। ग्रन्थकारने 'सारलहरी' तथा 'धातुचन्द्रिका' नामक ग्रन्थोंकी रचना भी की है। इनका समय सत्रहवीं शताब्दी है।

३७. अप्पय्यदीक्षित [१६–१७वीं शताब्दी]

अप्पय्यदीक्षित दक्षिण भारतकी विभूति हैं। वे मुख्य रूपसे दार्शनिक, किन्तु सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् हैं। इन्हें १०४ ग्रन्थोंका कर्ता कहा जाता है। इनके पूर्व संख्या २३ पर निर्दिष्ट रामचन्द्रको

'प्रबन्धशतकर्ता' कहा गया था, पर अप्पय्यदीक्षितके ग्रन्थोंकी संख्या उनसे भी आगे निकल गयी है। विषयकी दृष्टिसे उनकी मुख्य रचनाओंका विभाजन निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है—

(१) अद्वैतवेदान्तविषयक ६ ग्रन्थ : १. 'परिमल', २. 'सिद्धान्तलेशसंग्रह', ३. 'वेदान्त-नक्षत्रवादावली', ४. 'मध्वतन्त्रमुखमर्दन', ५. 'मध्वमतविध्वंसन', ६. 'न्यायरक्षामणि'।

(२) भक्तिविषयक २६ रचनाएँ : १. 'शिखरिणीमाला', २. 'शिवतत्त्वविवेक', ३. 'ब्रह्म-तर्कस्तव', ४. 'लघुविवरण', ५. आदित्यस्तवरत्न', ६. 'आदित्यस्तवव्याख्या', ७. 'शिवाद्वैत-विनिर्णय,' ८. शिवध्यानपद्धति', ९. 'पञ्चरत्न', १०. 'पञ्चरत्नव्याख्या', ११. 'आत्मार्पण', १२ 'मानसोल्लासः', १३. 'शिवकर्णामृत', १४. 'आनन्दलहरी', १५ 'चन्द्रिका', १६. 'शिवमहिम्नकलिकास्तुति', १७. 'शिवमहिमव्याख्या', १८. 'रत्नत्रयपरीक्षा', १९. रत्नत्रयपरीक्षाव्याख्या', २०. 'अरुणाचलेश्वरस्तुति', २१. 'अपीतकुचाम्बास्तुति', २२. 'चन्द्रकलास्तव', १२३. 'शिवार्कमणिदीपिका', २४. 'शिवपूजाविधि', २५. 'नयमणिमाला', २६. 'नयमणिमालाव्याख्या'।

(३) रामानुजमतविषयक ५ ग्रन्थ : १. 'नयमयूखमालिका', ३. 'नयमयूखमालिकाव्याख्या', ३. श्रीवेदान्तदेशिकविरचित 'यादवाभ्युदय'की व्याख्या, ४. वेदान्तदेशिक-विरचित 'पादुकारहस्य'की व्याख्या, ५. 'वरदराजस्तव'।

(४) मध्वसिद्धान्तानुसारी २ ग्रन्थ : १. 'न्यायरत्नमाला', २. 'न्यायरत्नमालाव्याख्या'।

(५) व्याकरणविषयक १. 'नक्षत्रवादावली'।

(६) पूर्वमीमांसाशास्त्रपर २ ग्रन्थ : १. 'नक्षत्रवादावली', २. 'विधिरसायन'।

(७) अलङ्कारशास्त्रपर ३ ग्रन्थ : १. 'वृत्तिवार्तिक', ३. 'चित्रमीमांसा', ३. 'कुवलयानन्द'।

अप्पय्यदीक्षितके १०४ ग्रन्थोंमेंसे मुख्यतम ४०-५० ग्रन्थोंके नाम हमने ऊपर दिये हैं। इस सूची में दिये अन्तिम तीन ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रसे सम्बद्ध होनेके कारण प्रकृतमें उपयोगी हैं। इनमेंसे 'वृत्तिवार्तिक' ग्रन्थ, जैसा कि उसके नामसे प्रतीत होता है, वृत्ति अर्थात् शब्दशक्तिके विषयपर लिखा गया है। इसमें केवल दो ही परिच्छेद हैं जिनमें केवल अभिधा तथा लक्षणाका विवेचन किया गया है। इससे यह ग्रन्थ अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। 'चित्रमीमांसा' दूसरा ग्रन्थ है परन्तु यह भी केवल अतिशयोक्ति अलङ्कारपर्यन्त होनेसे अधूरा है। इसके अधूरे होनेका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकारने निम्नलिखित प्रकार किया किया है—

'अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव घर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः॥'

तीसरा ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' है। यह अप्पय्यदीक्षितका अलङ्कारशास्त्रविषयक मुख्य ग्रन्थ है। इसकी रचना जयदेवके 'चन्द्रालोक'के आधारपर हुई है। 'चन्द्रालोक'में अलङ्कारोंके लक्षण दिये हैं। उनको अप्पय्यदीक्षितने ज्योंका त्यों ले लिया है। किन्तु उदाहरण अन्य काव्योंसे भी प्रचुरमात्रामें उपस्थित किये हैं। अन्तमें केवल २४ अलङ्कार ऐसे दिये हैं जो जयदेवके 'चन्द्रालोक'में नहीं पाये जाते हैं। इन २४ अलङ्कारोंके लक्षण भी उन्होंने जयदेवकी शैलीसे ही बनाये हैं, अर्थात् आधे श्लोकमें लक्षण और आधे श्लोकमें उदाहरण दिया है।

'अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥'

इस श्लोकसे विदित होता है कि अप्पय्यदीक्षितने वेङ्कटपतिके अनुरोधसे 'कुवलयानन्द'की रचना की थी। वेङ्कट नामके दो राजा दक्षिण भारतमें मिलते हैं। एक विजयनगरराज्यमें १५३५ के लगभग और दूसरे पेन्नकोण्डराज्यमें,जिनके १५८६ से १६१३ तकके लेख मिलते हैं। कोई प्रथम वेङ्कटपतिको और कोई द्वितीय वेङ्कटपतिको अप्पय्यदीक्षितका आश्रयदाता मानते हैं। दोनों अवस्थाओं में उनका समय १६-१७ शताब्दीमें पड़ता है।

३८ पण्डितराज जगन्नाथ

अप्पय्यदीक्षितके बाद पण्डितराज जगन्नाथका नाम आता है। वैसे ये दोनों समकालीन और दक्षिण भारतके परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् हैं : पण्डितराज जगन्नाथके पिताका नाम पेरुभट्ट तथा माताका नाम लक्ष्मीदेवी था। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। यों इनका जन्म दक्षिण भारतमें हुआ था किन्तु इनका यौवन दिल्लीके शाहजहाँ बादशाहके यहाँ बीता था ('दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः')।

'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात् ॥'

शाहजहाँके यहाँ रहकर ये दाराशिकोहको संस्कृत पढ़ाते थे। उसके संस्कृत और भारतीय अध्यात्मविद्या के प्रति अनुपम अनुरागादि गुणोंको देखकर पण्डितराजने दाराशिकोहके ऊपर 'जगदाभरण' नामका एक पूरा काव्य ही बना डाला था। शाही दरबारके सरदार आसफअली इनके मित्र थे। १६४१ ई० में उनकी मृत्यु हो जानेपर उनकी स्मृतिमें इन्होंने 'आसफविलास' नामक काव्यकी रचना की थी।

पण्डितराज कवि होनेके नाते बड़े रसिक थे। दिल्लीमें आकर वे लवङ्गी नामकी यवन कन्याके चक्करमें फँस गये थे। यह यवनकन्या बहुत सामान्य परिवारकी थी। सिरपर पानीका घड़ा लेकर जाती हुई उस नवयुवतीको देखकर मुग्ध हो गये और बादशाहसे प्रार्थना की कि—

'न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं
न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा
लवङ्गी कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु ॥

लवङ्गीके ऊपर यह इतने आसक्त थे कि उसके बिना इन्हें तनिक भी चैन नहीं था और स्वर्गका सुख भी तुच्छ प्रतीत होता था—

'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः ॥
यवनी रमणी विपदः शमनी कमनीयतया नवनीतसमा।
उहि-ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता ॥'

इत्यादि अनेक श्लोक पण्डितराजने इस यवनकन्याके विषयमें कहे हैं। अपना यौवनकाल इन्होंने इस

यवनकन्याके साथ दिल्लीमें बिताया। ढलती उमरमें यौवनका नशा उतरनेपर इस पापका प्रायश्चित्त करनेके लिए 'मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते', मथुरा आकर कृष्णकी आराधना में लग गये और अन्त समयमें काशीमें पञ्चगङ्गा घाटपर बैठकर गङ्गाकी स्तुतिमें 'गङ्गालहरी'की रचना की। कहते हैं कि गङ्गालहरी' का एक-एक श्लोक भक्तिभावसे गाते जाते थे और गङ्गाकी धारा इनके पास बढ़ती आती थी (अथवा ये स्वयं गङ्गाकी धाराकी ओर बढ़ते जाते थे)। 'गङ्गालहरी'के अन्तिम श्लोकके पाठके साथ गङ्गाने इनको अपनी गोदमें ले लिया और इनकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। यह इनके यवनीप्रणयका अन्तिम प्रायश्चित्त था।

यवनीप्रणयकी घटनाको लेकर इनके प्रतिद्वन्द्वी अप्पय्यदीक्षितने इनको जातिबहिष्कृत करा दिया था। इसलिए ये अप्पय्यदीक्षितसे और भी अधिक नाराज हो गये थे और अप्पय्यदीक्षितकी 'चित्रमीमांसा'के खण्डन में 'चित्रमीमांसाखण्डन' ग्रन्थ लिखा, जिसमें अप्पय्यदीक्षितके लिए अनेक दुर्वाक्योंका प्रयोग किया है।

पण्डितराज जगन्नाथने बहुत-से ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमें १. 'भामिनीविलास', २. 'गङ्गालहरी', ३. 'करुणालहरी', ४. 'अमृतलहरी', ५. 'लक्ष्मीलहरी', ६. 'आसफविलास', ७. 'जगदाभरण', ८. 'प्राणाभरण', ९. 'सुधाहलहरी', १०. 'यमुनावर्णनचम्पू' ये सब काव्यग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। भट्टोजिदीक्षितकी 'मनोरमा'के खण्डनमें 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरणग्रन्थकी भी रचना की थी।

अलङ्कारशास्त्रके सम्बन्धमें इन्होंने जो ग्रन्थ लिखा, उसका नाम 'रसगङ्गाधर' है। यह बड़ा प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सारे उदाहरण इन्होंने स्वयं अपने बनाकर दिये हैं। इस बातका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥'

किन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि पण्डितराजका यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें केवल दो 'आनन' हैं। प्रथम आननमें अन्य सब काव्यलक्षणोंका खण्डन करके 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को काव्यका लक्षण स्थापित किया है। काव्यके हेतुओंमें 'प्रतिभा'को ही मुख्य हेतु ठहराया गया है और १. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम तथा ४. अधम, ये चार काव्यके भेद बतलाये हैं। द्वितीय आननमें ध्वनिके भेदोंको दिखलाकर अभिधा तथा लक्षणाका विवेचन किया है। उसके बाद ७० अलङ्कारोंका वर्णन किया है। उत्तरालङ्कारके विवेचनके बाद यह ग्रन्थ बीचमें ही समाप्त हो गया है।

'रसगङ्गाधर'पर नागेशभट्टकृत 'गुरुमर्मप्रकाशिका' टीका प्रकाशित हो चुकी है। नागेशभट्टने गोविन्द ठक्कुरकी 'काव्यप्रकाश'पर लिखी 'काव्यप्रदीप' टीकापर बृहत् तथा लघु दो 'उद्योत' भी लिखे हैं। 'उदाहरणदीपिका' मम्मटके ग्रन्थका विवरण है। उन्होंने अप्पय्यदीक्षितके 'कुवलयानन्द'- पर भी 'अलङ्कारसुधा' तथा 'विषमपदव्याख्यानषट्पदानन्द' टीका लिखी है। भानुदत्तकी 'रसमञ्जरी'की 'प्रकाश' टीका तथा 'रसतरङ्गिणी' व्याख्या भी नागेशभट्टने लिखी है।

३९. आशाधरभट्ट [१८वीं शताब्दी]

'शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम् ।
आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना ॥'

अपने 'अलङ्कारदीपिका' ग्रन्थके आरम्भमें आशाधरभट्टने इन शब्दोंमें अपना परिचय देते हुए अपने पिताका नाम रामजी तथा अपने गुरुका नाम धरणीधर सूचित किया है। आशाधरभट्टके अलङ्कार-शास्त्रविषयक तीन ग्रन्थ हैं—१. 'कोविदानन्द', २. 'त्रिवेणिका' और ३. 'अलङ्कारदीपिका'। ये ग्रन्थ अभीतक प्रकाशितरूपमें देखनेमें नहीं आये। किन्तु इनका जो विवरण हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची आदि में दिया गया है उससे विदित होता है कि 'कोविदानन्द' तथा 'त्रिवेणिका' ग्रन्थ शब्द-शक्तिके विषयपर हैं। 'त्रिवेणिका'में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना तीनों वृत्तियोंका निरूपण होनेसे इसका त्रिवेणिका नाम सार्थक है। इन तीनों शक्तियोंका उपयोग प्रधानतया कौन करते हैं इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है—

'शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा जनाः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ॥'

आशाधरभट्टका तीसरा ग्रन्थ 'अलङ्कारदीपिका' है। यह अप्पय्यदीक्षितके 'कुवलयानन्द'के आधारपर लिखा गया है। इसमें तीन 'प्रकरण' या अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें 'कुवलयानन्द'की कारिकाओंकी बालोपयोगी सरल व्याख्यामात्र की गयी है। द्वितीय प्रकरणका नाम उद्दिष्टालङ्कार-प्रकरण है। 'कुवलयानन्द'के अन्तमें रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित आदि रसवदलङ्कारोंको केवल 'उद्देश' अर्थात् नाममात्रेण कथन करके छोड़ दिया गया है। आशाधरने इस द्वितीय प्रकरणमें उन अलङ्कारोंके लक्षण अप्पय्यदीक्षितकी शैलीसे ही बना दिये हैं और उनकी व्याख्या कर दी है। 'अलङ्कार-दीपिका'का तीसरा 'परिशेषप्रकरण' है। इसमें संसृष्टि तथा सङ्करालङ्कारके पाँच भेदोंका निरूपण किया गया है। इसकी कारिकाएँ भी आशाधरने स्वयं बनायी हैं। जयदेवके 'चन्द्रालोक'में अलङ्कारोंकी संख्या १०० थी। उसके आधारपर लिखे गये 'कुवलयानन्द'में अप्पय्यदीक्षितने २४ अलङ्कार और बढ़ा दिये थे। आशाधरभट्ट की 'अलङ्कारदीपिका'में अलङ्कारोंकी संख्या १२५ हो गयी है। ये अप्पय्यदीक्षित-के बाद हुए इसलिए इनका समय १८वीं शताब्दी में निश्चित होता है।

अलङ्कारशास्त्रविषयक इन तीन ग्रन्थोंके अतिरिक्त १. 'अद्वैतविवेक' तथा २. 'प्रभापटल' ये दो और ग्रन्थ भी आशाधरभट्टने लिखे थे।

इन आशाधरभट्टके ४०० वर्ष पूर्व 'आशाधर' नामके एक जैन विद्वान् १४वीं शताब्दीमें हो चुके हैं। वे इनसे भिन्न हैं।

४०. नरसिंह कवि [१८वीं शताब्दी]

इनका अलङ्कारशास्त्रविषयक एक ही ग्रन्थ मिलता है, उसका नाम 'नञ्जराजयशोभूषण' है। यह ग्रन्थ विद्यानाथके 'प्रतापरुद्रयशोभूषण'के आधारपर लिखा गया है। अन्तर यह है कि यह राजाकी स्तुतिमें नहीं, अपितु मैसूरराज्यके मन्त्रीकी स्तुतिमें लिखा गया है। नञ्जराज १८वीं शताब्दीमें मैसूर-राज्यके मुख्यमन्त्री थे। राज्यका सारा अधिकार उन्हींके हाथमें था। इसलिए नञ्जराजने उन्हींको

अपना आश्रयदाता मानकर 'नञ्जराजयशोभूषण, नामक इस अलङ्कारग्रन्थकी रचना की है। इसमें सात 'विलास' या अध्याय हैं--१. नायक, २. काव्य, ३. ध्वनि, ४. रस, ५. दोष, ६. नाटक तथा ७. अलङ्कार। इन विषयोंका इसमें विवेचन किया गया है। नाटकका निरूपण करनेवाले षष्ठ विलासमें ग्रन्थकारने अपने आश्रयदाता नञ्जराजकी स्तुतिमें एक नाटकका ही समावेश कर दिया है। दक्षिण नायकके उदाहरणरूपमें दिये हुए निम्नलिखित पद्यसे नरसिंह कविकी रचनाशैलीका परिचय मिल सकता है।

'धम्मिल्ले नवमल्लिकाः स्तनतटे पाटीरचर्चा गले,
हारं मध्यतले दूकूलममलं दत्वा यशःकैतवात्।
यः प्राग्दक्षिणपश्चिमोत्तरदिशाः कान्ताः समं लालयन्,
आस्ते निस्तुलचातुरीकृतपदः श्रीनञ्जराजाग्रणीः॥'

४१. विश्वेश्वर पण्डित

अलङ्कारशास्त्रके प्रमुख साहित्यनिर्माताओंमें विश्वेश्वर पण्डित कदाचित् अन्तिम विद्वान् हैं। ये उत्तरप्रदेशके अलमोड़ा जिलेके अन्तर्गत 'पाटिया' ग्रामके निवासी पाण्डेय ब्राह्मण हैं। इनके पिताका नाम लक्ष्मीधर था, जो अपने समयके एक अत्यन्त प्रतिष्ठित मूर्धन्य विद्वान् और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पण्डित थे। विश्वेश्वर पण्डितने व्याकरण, न्याय और साहित्यशास्त्रोंपर उत्कृष्ट ग्रन्थोंकी रचना की है। 'वैयाकरण-सिद्धान्तसुधानिधि' इनका व्याकरणविषयक उत्कृष्ट एवं विशाल ग्रन्थ है। न्यायपर 'तर्क-कुतूहल' तथा 'दीधितिप्रवेश' ये दो इनके उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। साहित्यशास्त्रपर इनका ग्रन्थ 'अलङ्कारकौस्तुभ' नामसे विख्यात है। यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रका बड़ा प्रौढ़ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें अप्पय्यदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथके मतोंका अनेक स्थलोंपर बड़ी प्रौढ़ताके साथ खण्डन किया गया है।

इसके अतिरिक्त १. 'अलङ्कारमुक्तावली', २. 'अलङ्कारप्रदीप', ३. 'रसचन्द्रिका' और ४. 'कवीन्द्रकण्ठाभरण' ये चार ग्रन्थ और भी हैं। इस प्रकार, अलङ्कारकौस्तुभ'को मिलाकर विश्वेश्वर पण्डितके अलङ्कारविषयक ग्रन्थोंकी संख्या पाँच हो जाती है। इनमें 'अलङ्कारकौस्तुभ' सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

उपसंहार

भरतमुनि (२०० वि० पू०) से लेकर विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शताब्दीतक) लगभग २००० वर्षमें होनेवाले भारतीय काव्यशास्त्रके विकासकी यह संक्षिप्त रूपरेखा हमने प्रस्तुत की है। 'काव्यप्रकाश'के पढ़नेवालोंके लिए साहित्यशास्त्रके इतिहासका यह सर्वेक्षण मनोरञ्जक एवं लाभदायक होगा, इस आशाके साथ हम इसे समाप्त करते हैं।

गुरुपूर्णिमा
आषाढ़ शु० १५, सं० २०१७
८ जुलाई, सन् १९६० ।

विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि
आचार्य
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

श्रीमम्मटाचार्यकृतः

काव्यप्रकाशः

प्रथम उल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
काव्यप्रकाशदीपिका हिन्दीव्याख्या

[1]प्र सुमेधा गातुविद्विश्वदेवः सोमः पुनानः सद एति नित्यम् ।
भुवद्विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान् यतते पञ्च धीरः ॥

यस्य काव्यं विभोराद्यमजरन्चामरं श्रुतम् ।
काव्यप्रकाशकर्तारं कविमाद्यं नुमस्तु तम् ॥
आनन्दवर्धनकृतौ विवृतिं विरच्य
व्याख्यां विधाय विशदामपि वामनीये ।
वक्रोक्तिजीवितविधेऽपि विधाय वृत्तिं
काव्यप्रकाशमधुना विशदीकरोमि ॥

ग्रन्थकार ['श्रीमम्मटाचार्य' ग्रन्थके निर्माण-कार्यमें उपस्थित होनेवाले सम्भावित] विघ्नोंके नाशके लिए ग्रन्थके आरम्भमें [ग्रन्थारम्भमें स्मरण करने योग्य सरस्वती अथवा विशेषरूपसे कवि-भारतीरूप] उचित इष्टदेवताका स्मरण [ध्यान और शिष्योंकी शिक्षाके लिए केवल मानसव्यापारसाध्य उस स्मरणको 'मङ्गलाचरण'के रूपमें अङ्कित भी] करते हैं—

ग्रन्थकार

'काव्यप्रकाश' श्रीमम्मटाचार्यकी सर्वोत्तम कृति है। साहित्यशास्त्रमें इस ग्रन्थने और इसके द्वारा इसके निर्माता श्रीमम्मटाचार्यने विपुल ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है। परन्तु इस ग्रन्थकी रचनामें केवल मम्मटाचार्यका ही हाथ नहीं है अपितु उसके अन्तिम भागका निर्माण दूसरे कश्मीरी विद्वान् श्री 'अल्लटसूरि'के हाथों हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि मम्मटाचार्य अपने जीवनकालमें 'काव्यप्रकाश' को पूरा नहीं कर सके थे। वे दशम उल्लासका 'परिकर-अलङ्कार'तकका भाग ही लिख पाये थे कि बीचमें ही सब-कुछ छोड़कर स्वर्ग-धाम सिधार गये। उनके पीछे उनके मित्र श्री 'अल्लटसूरि'ने शेष भागकी रचना कर ग्रन्थको पूर्ण किया। इस प्रकार इस ग्रन्थकी रचना दो विद्वानोंके प्रयत्नसे हुई है यह बात ग्रन्थके अन्तिम उपसंहारात्मक श्लोकसे भी प्रतीत होती है, पर उससे भी अधिक स्पष्टरूपसे उसका वर्णन निम्नलिखित दो प्राचीन श्लोकोंमें पाया जाता है—

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
प्रबन्धः पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा ॥

---

१. 'ऋग्वेद', ९।९२।३।

इस श्लोकमें स्पष्टरूपसे यह प्रतिपादन किया गया है कि मम्मटाचार्यने केवल 'परिकर अलङ्कार' पर्यन्त 'काव्यप्रकाश'की रचना की थी । उनके बाद श्री अल्लटसूरिने शेष भागकी रचनाकरके ग्रन्थको पूर्ण किया । दूसरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है ।

काव्यप्रकाश इह कोऽपि निबन्धकृद्भ्यां
द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसवत्त्वलाभः ।
लोकेऽस्ति विश्रुतमिदं नितरां रसालं
[1]रन्ध्रप्रकाररचितस्य तरोः फलं यत् ।।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे रन्ध्र-प्रकार या बन्ध-प्रकार अर्थात् कलम लगानेकी शैलीसे लगाये गये कलमी आमका फल संसारमें अधिक स्वादिष्ट-रूपसे प्रसिद्ध है उसी प्रकार 'मम्मट' तथा 'अल्लट' दो विद्वानों द्वारा बनाये गये इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थमें भी सहृदय विद्वानोंको विशेष आनन्द मिलता है ।

कारिका तथा वृत्ति-ग्रन्थोंके कर्ताका अभेद

रचना-शैलीकी दृष्टिसे भी 'काव्यप्रकाश'में दो भाग पाये जाते हैं—एक कारिकाभाग और दूसरा वृत्तिभाग । यहाँ 'ग्रन्थकृत् परामृशति' ये जो शब्द आये हैं उनके आधारपर कुछ विद्वानोंका विचार है कि इन दोनों भागोंकी रचना अलग-अलग व्यक्तियोंने की है । वे लोग कारिकाभागका रचयिता 'भरतमुनि'को मानते हैं और मम्मटाचार्यको केवल उन कारिकाओंपर वृत्ति लिखनेवाला मानते हैं । अपने मतके समर्थनमें वे निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं—

१. 'ग्रन्थकृत् परामृशति' इस वाक्यमें प्रथम-पुरुषके प्रयोग द्वारा वृत्तिकार अपनेसे भिन्न किसी अन्य ग्रन्थकारका निर्देश कर रहे हैं । इससे प्रतीत होता है कि जिन कारिकाओंकी व्याख्या 'मम्मटाचार्य' करने जा रहे हैं उनका निर्माता उनसे भिन्न है । इसलिए ये कारिकाएँ 'भरतमुनि'की बनायी हुई हैं और मम्मटाचार्य केवल उनपर वृत्तिका ही निर्माण कर रहे हैं ।

२. इस सिद्धान्तके माननेवाले दूसरी युक्ति यह देते हैं कि रूपकके निरूपणके प्रसङ्गमें—

[2]समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ।
'आरोपिताः' इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

यह पाठ मिलता है । इसमें ऊपरकी पंक्ति कारिकाभागकी है और नीचेकी पंक्ति वृत्तिभागकी है । कारिकाकारने 'श्रौता आरोपिताः' इन पदोंमें बहुवचनका प्रयोग किया है, परन्तु उसकी व्याख्यामें वृत्तिकार उस बहुवचनको अविवक्षित बतलाते हैं । यदि वृत्तिकार मम्मट ही कारिकाके भी निर्माता होते तो कारिकामें स्वयं ही बहुवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग कर सकते थे । उस दशामें उसकी व्याख्या में 'बहुवचनमविवक्षितम्' लिखनेकी आवश्यकता ही न होती । परन्तु वास्तवमें कारिका उनकी लिखी नहीं है इसलिए मूल—भरतमुनिकी कारिका—में बहुवचन रखकर उसकी वृत्तिमें उनको 'बहुवचनम् अविवक्षितम्' लिखना पड़ा ।

मुख्य रूपसे इन दो युक्तियोंके आधारपर ही कुछ विद्वान् 'काव्यप्रकाश'के कारिकाभागको भरत-मुनिकृत मानकर मम्मटाचार्यको केवल वृत्तिभागका निर्माता सिद्ध करना चाहते हैं । परन्तु उनका यह

---

१. बन्ध-प्रकार इति पाठान्तरम् ।
२. 'काव्यप्रकाश', दशम उल्लास, सूत्र १३९ कारिका ९३ ।

पक्ष ठीक नहीं है। यह ठीक है कि मम्मटाचार्यने दो-तीन स्थलोंपर भरतमुनिकी कारिकाएँ भी दी हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। 'काव्यप्रकाश'की १४२ कारिकाओंमें केवल दो-तीन कारिकाएँ भरतमुनिकी उद्धृत की गयी हैं, शेष सब कारिकाएँ मम्मटाचार्यकी स्वयं बनायी हुई ही हैं। ग्रन्थकार जब अपनी बनायी हुई कारिकाओंपर स्वयं वृत्ति लिखने बैठता है तो वह अपनेको कारिकाकारसे भिन्न-सा मानकर 'ग्रन्थकृत् परामृशति' आदि प्रथम-पुरुषका प्रयोग करता है और स्वरचित कारिकाकी व्याख्यामें स्वयं ही 'बहुवचनमविवक्षितम्' आदि भी लिख सकता है। इस प्रकारका व्यवहार न केवल 'काव्य-प्रकाश'में अपितु अन्य अनेक ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। मम्मटाचार्यके अतिरिक्त आनन्दवर्धन, कुन्तक, मुकुलभट्ट, विश्वनाथ आदि आचार्योंने भी इस पद्धतिका अवलम्बन किया है। इन सभीने स्वयं कारिका-रूपमें अपने ग्रन्थोंकी रचनाकर उनपर स्वयं ही वृत्तिकी रचना की है। इसी प्रकार मम्मटाचार्यने भी अपनी लिखी कारिकाओंपर स्वयं ही वृत्ति लिखकर 'काव्यप्रकाश'की रचना की है यह मानना ही उचित है।

इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लासमें जहाँ मम्मटाचार्यने रसका निरूपण किया है वहाँ [1]"उक्तं हि भरतेन' लिखकर विशेषतः प्रमाणरूपसे भरतमुनिका उल्लेख किया है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि केवल वह अंश भरतमुनिका है। अन्य सब कारिकाभाग स्वयं मम्मटाचार्यका ही है। इसी प्रकार दशम उल्लासमें रूपकालङ्कारके निरूपणमें 'माला तु पूर्ववत्' यह कारिकाका भाग आया है। परन्तु इसके पूर्व किसी कारिकामें 'माला'का वर्णन नहीं आया है। हाँ, उपमालङ्कारके प्रसङ्गमें वृत्तिभागमें 'एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा' यह पङ्क्ति अवश्य आयी है। 'मालारूपक'वाली कारिकामें वृत्तिभागके इसी अंशकी ओर सङ्केत किया गया है। यदि कारिकाएँ भरतमुनिकी होतीं तो इस वृत्तिभागका सङ्केत उसमें कैसे हो सकता था! इसलिए भी 'काव्यप्रकाश'के कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनों मम्मटाचार्यके बनाये हुए हैं यही बात मानना उचित एवं अधिक युक्तिसंगत है।

साहित्य-मीमांसाका विवेचन

हमने अपनी बनायी 'साहित्य-मीमांसा' नामक कारिका-रूपमें लिखी हुई अन्य पुस्तकमें इस विषयका विवेचन इस प्रकार किया है—

[2]काव्यप्रकाशनामा च मम्मटाचार्यनिर्मितः।
ग्रन्थो लेभे परां ख्यातिं शते तु द्वादशे कृतः॥१॥

"कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा॥"

कारिका भरतस्यात्र वृत्तिर्मम्मटनिर्मिता।
य एवं मेनिरे केचिन्मतं तेषामशोभनम्॥२॥

कारिकाणां शते त्वत्र द्वाचत्वारिंशदुत्तरे।
कथं हरेयुः स्वातन्त्र्यं द्वित्रा भरतकारिकाः॥३॥

---

१. सूत्र ४३, कारिका २७ की व्याख्या।

२. 'साहित्य-मीमांसा' ६।

'ग्रन्थारम्भे प्रयोगो यः प्रथमे पुरुषे कृतः ।
'परामृशती'ति नूनं सोऽनहङ्कारसूचकः ।।४।।
रूपके कारिकायान्तु बहुवचनं प्रयुज्यते ।
वृत्तौ तस्य च सम्प्रोक्तं 'बहुत्वमविवक्षितम्' ।।५।।
तेनापि भिन्नकर्तृत्वमनयोर्न प्रसिद्धचति ।
स्वाभिन्नकर्तृकत्वेऽपि तथा व्याख्यानसम्भवात् ।।६।।
मङ्गलं मूलमात्रे तु वृत्तेरादौ न दृश्यते ।
एतेनापि तयोरेककर्तृकत्वं सुनिश्चितम् ।।७।।
'तदुक्तं भरतेनेति' वृत्तिस्तुर्ये तु दृश्यते ।
सर्वाश्चेत् कारिकास्तस्य किमर्थमत्र कीर्तनम् ।।८।।
रूपके कारिकायां हि प्रोक्तं 'माला तु पूर्ववत्' ।
वृत्तेस्तेन परामर्शान्न कर्तृत्वं विभिद्यते ।।९।।
तस्मात् काव्यप्रकाशस्य वृत्तिभागोऽथ कारिकाः ।
उभयं मम्मटेनैव निर्मितमिति निश्चितम् ।।१०।।

इस प्रकार श्रीमम्मटाचार्यने अपनी बनायी हुई कारिकाओंकी ही व्याख्या स्वयं लिखकर अपने इस ग्रन्थकी रचना की है यह बात बिलकुल निश्चित है।

ग्रन्थका लक्षण

'पञ्चाङ्गकं वाक्यं ग्रन्थः' अर्थात् पाँच अवयवोंसे युक्त वाक्यको ग्रन्थ कहते हैं। वस्तुतः उन पाँच अङ्गोंको ही दूसरी जगह 'पञ्चाधिकरण' नामसे कहा गया है—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं विदुः ।।

(१) विषय, (२) उसके सम्बन्धमें विशय अर्थात् संशय, (३) पूर्वपक्ष, (४) उत्तरपक्ष आदि दिखलाकर अन्तमें किसी (५) निर्णयको प्राप्त करना यह पाँच अङ्ग शास्त्रमें 'अधिकरण' माने गये हैं, वे ही पाँचों ग्रन्थोंके भी अङ्ग हैं। उन पाँचों अङ्गोंसे युक्त महावाक्य 'ग्रन्थ' कहलाता है। 'काव्यप्रकाश'में भी अनेक विषयोंमें पूर्वपक्ष आदिका निराकरण करके निर्णय या सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं इसलिए यह भी ग्रन्थ कहा जाता है। अन्य विद्वानोंने 'सम्बन्धप्रयोजनज्ञानाहितशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः' यह ग्रन्थका लक्षण किया है।

मङ्गलाचरण

प्रत्येक शुभकार्यके प्रारम्भमें भगवान्‌का स्मरण करना सभी आस्तिकोंमें समानरूपसे पाया जाता है। इसलिए ग्रन्थके आरम्भमें भी किसी-न-किसी रूपमें अपने इष्टदेवताका स्मरण किये जानेकी परम्परा सारे भारतीय साहित्यमें पायी जाती है। इसको 'मङ्गलाचरण' नामसे कहा जाता है। इस 'मङ्गलाचरण' अथवा भगवान्‌के नामका स्मरण करनेसे कार्य-सिद्धिके मार्गमें आनेवाली विघ्नबाधाओंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी क्षमता प्राप्त होती है। इसलिए विघ्नविघातको भी 'मङ्गलाचरण'का एक मुख्य प्रयोजन माना जाता है। इसी परम्पराके अनुसार मम्मटाचार्यने भी अपने ग्रन्थके आरम्भमें

१. 'साहित्य-मीमांसा' ६।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।१।।

पहिली कारिका मङ्गलाचरणके स्वरूपमें लिखी है । 'काव्यप्रकाश' नामसे यह साहित्यशास्त्रके एक मुख्य ग्रन्थका निर्माण करने जा रहे हैं । इसलिए उन्होंने वाङमयकी अधिष्ठातृ-देवता और उसमें भी विशेषरूपसे कवि-भारतीका इष्टदेवताके रूपमें स्मरण करना उचित समझा है । अतएव 'भारती कवेर्जयति'के रूपमें उस कवि-भारतीका जय-जयकार करते हुए वे लिखते हैं—

[पद्मत्वादिरूप असाधारण धर्म अथवा अदृष्ट या धर्माधर्मादिरूप] नियतिके द्वारा निर्धारित नियमोंसे रहित, केवल आनन्दमात्रस्वभावा, [कविकी प्रतिभाको छोड़कर] अन्य किसीके अधीन न रहनेवाली तथा [छह रसोंके स्थान पर] नौ रसों [के योग] से मनोहारिणी काव्य-सृष्टिकी रचना करनेवाली कविकी भारती [वाणी—सरस्वती] सर्वोत्कर्षशालिनी है ।।१।।

कवि-सृष्टिकी विशेषताएँ

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यने कविको स्वयं प्रजापति या ब्रह्मा और काव्यसंसारको उसकी सृष्टि कहा है—

[1]अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

इस अपार काव्यसंसारका निर्माता कवि है । उस कवि-प्रजापतिकी इच्छा और रुचिके अनुसार ही इस काव्यसंसारकी रचना होती है । यह कहकर आनन्दवर्धनाचार्यने कविके असाधारण महत्त्वका प्रतिपादन किया है, पर मम्मटाचार्य उससे भी एक पग आगे बढ़ गये हैं । उन्होंने कविकी सृष्टिको ब्रह्माकी सृष्टिसे भी उत्कृष्ट माना है और इस प्रकार कविकी सामर्थ्यको ब्रह्माके सामर्थ्यसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है । अपने इस मङ्गलाचरणमें ग्रन्थकारने अपने इष्ट-देवता 'कवि-भारती'को सर्वोत्कर्षशालिनी सिद्ध करनेके लिए 'व्यतिरेकालङ्कार'का प्रयोग किया है । उपमानसे उपमेयका आधिक्य वर्णन करनेपर व्यतिरेकालङ्कार होता है । यहाँ ब्रह्माकी सृष्टिरूप उपमानकी अपेक्षा कवि-भारतीकी सृष्टि—निर्मिति—के उत्कर्षका प्रतिपादन कर ग्रन्थकारने उसके सर्वोत्कर्षशालित्वकी स्थापना की है । ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें काव्यप्रकाशकारने चार प्रकारकी विशेषताओंका उल्लेख इस मङ्गल-श्लोकमें किया है । उनको इस प्रकार समझना चाहिये—

१. पहली विशेषता यह है कि ब्रह्माकी सृष्टि 'नियतिकृतनियमसहिता' है, परन्तु कविकी सृष्टि 'नियतिकृतनियमरहिता' है । 'नियति' शब्दके दो अर्थ हो सकते हैं । 'नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनया इति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिरूपः' अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मोंका नियन्त्रण किया जाता है वे पद्मत्वादिरूप असाधारण धर्म 'नियति' पदसे कहे जाते हैं । उसके द्वारा किया गया नियम 'यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः' जहाँ पद्मत्व होता है वहाँ विशेष प्रकारका सौरभ रहता है इस प्रकारकी व्याप्तिको 'नियति-कृत-नियम' कहा जा सकता है । ब्रह्माकी सृष्टि इस 'नियति-कृत-नियम'से युक्त है । उसमें इस प्रकारकी व्याप्ति पायी जाती है कि विशेष प्रकारके सौरभ आदिका विशेष पदार्थोंके साथ ही सम्बन्ध होता है, परन्तु कविकी सृष्टिमें इस प्रकारका कोई नियम नहीं है । उसकी सृष्टिमें स्त्रीके

१. 'ध्वन्यालोक', पृष्ठ ४२२ ।

मुखमें कमलकी सुगन्ध, उसकी आँखोंमें कमलका सौन्दर्य और उसके शरीरमें कमलकी कोमलता रहती है। उसकी सृष्टिमें चन्द्रमाकी शीतल चाँदनी और मेघोंकी मन्दध्वनिसे भी विरहिणियोंके लिए आगकी लपटें निकलती हुई दिखलायी देती हैं। इसलिए कविकी सृष्टि 'नियतिकृत-नियम-रहिता' है।

'नियति' शब्दका दूसरा अर्थ 'अदृष्ट' या धर्माधर्म' है। ब्रह्माकी सारी सृष्टि 'अदृष्ट'के सिद्धान्तपर ही स्थिर है। प्राणियोंके पूर्वकृत कर्म या 'अदृष्ट'के फलभोगके लिए ही इस सृष्टिकी रचना हुई है और उसीके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको सुख-दुःख, स्वर्ग और नरककी प्राप्ति होती है। परन्तु कविकी सृष्टि इन सब बन्धनोंसे परे है। कवि केवल अपनी कल्पनाके सहारे जब चाहता है अपने नायकको या पात्रोंको विघ्न-बाधाओंके भयङ्कर संघर्षमें डाल देता है और जब चाहता है तब अतर्कितरूपसे मनोवाञ्छित सामग्रीसे भी अधिक सुख-सामग्री उनके सामने उपस्थित कर देता है। [1]"स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।" के अनुसार वह इसी शरीरसे मनुष्यको सदेह स्वर्गमें पहुँचा सकता है। इसलिए कवि-सामर्थ्य ब्रह्माके सामर्थ्यसे कहीं अधिक है। मङ्गलाचरणके श्लोकमें 'नियतिकृतनियमरहिताम्' लिखकर मम्मटाचार्यने कवि-भारतीकी इसी विशेषताका उल्लेख किया है।

२. कवि-सृष्टिकी दूसरी विशेषता 'ह्लादैकमयत्व' है। ब्रह्माकी सृष्टिमें सुख-दुःख दोनोंका अस्तित्व है। कोई प्राणी संसारमें रहकर दुःखसे नहीं बच सकता। सांसारिक सुखोंके साथ दुःखका भोग अवश्यम्भावी है। परन्तु कविकी सृष्टिमें दुःखका अस्तित्व नहीं है। उसकी सृष्टिमें जब हम 'इन्दुमती'के वियोगमें 'अज'को विलाप करते हुए सुनते हैं और जब 'उत्तररामचरित'के कविको सीता-वियोगमें रोते हुए रामचन्द्रको देखकर [2]"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" पत्थरोंको रुलाते हुए पाते हैं तब उस करुण रसमें भी आनन्दका अनुभव करते हैं। उस आनन्दातिरेकसे द्रवीभूत होकर नेत्रोंसे भी अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। कविकी सृष्टिमें रुदन एवं क्रन्दनसे भरा हुआ करुणरस भी आनन्दानुभूतिस्वरूप ही है—

[3]करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥

इसलिए कविकी सृष्टि 'ह्लादैकमयी'—केवल सुखमयी—है। 'संख्याः संख्येये ह्याद्वादश त्रिषु' 'अमरकोश'के इस वचनके अनुसार द्वादशपर्यन्त संख्या-वाचक शब्द संख्याके अतिरिक्त संख्येय वस्तुके वाचक भी होते हैं। इसलिए यहाँ 'एक' शब्द संख्याका नहीं अपितु संख्येयका वाचक है। उससे [4]"तत्प्रकृतवचने मयट्' इस सूत्रसे मयट्-प्रत्यय होकर 'एकं [वस्तु] प्राचुर्येण प्रस्तुतं यस्यां सा एकमयी' एक वस्तु जिसमें प्रचुरतासे प्रस्तुत है वह 'एकमयी' हुई है। 'ह्लादेन एकमयी ह्लादैकमयी' इस प्रकारका समास होकर 'ह्लादैकमयी' यह पद सिद्ध होता है और इसका अर्थ 'आनन्दमात्रपरिच्छिन्नस्वरूपा' होता है। 'ह्लाद' शब्दका 'एक' शब्दके साथ 'कर्मधारय-समास' करके 'ह्लादश्चासौ एकः ह्लादैकः' पद बनाकर और उससे 'मयट्-प्रत्यय' करके इस पदको सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस दशामें [5]"पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इस सूत्रसे 'पूर्वनिपात अनिवार्य

१. 'काव्यप्रकाश', अष्टम उल्लास, उदाहरण सं० ३४७।
२. 'उत्तररामचरित' १, २८।
३. 'साहित्यदर्पण' ३, ४।
४. 'अष्टाध्यायी' ५, ४, २१।
५. 'अष्टाध्यायी' २, १, ४९।

होनेके कारण 'एकश्चासौ ह्लादः एकह्लादः' यह रूप बनेगा, 'ह्लादैकः' रूप नहीं बनेगा। इसलिए इस प्रकारका समास न करके पूर्वोक्त रीतिसे पहिले संख्ये-वस्तु-वाचक 'एक' शब्दसे प्राचुर्यार्थमें अथवा प्रदीपकारके अनुसार स्वार्थमें मयट्-प्रत्यय करके 'एकमयी' शब्द बना लेनेके बाद उसका तृतीयान्त 'ह्लाद' शब्दके साथ 'ह्लादेन एकमयी ह्लादैकमयी' इस प्रकारका समास करना ही उचित है, जिसका अर्थ 'आनन्दमात्रस्वभावा' होता है। इससे ब्रह्माकी सृष्टिमें सांख्याभिमत सुख-दुःख-मोहस्वभावत्वकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें आनन्दमात्रस्वभावत्व दिखलाकर ग्रन्थकारने कवि-सृष्टिके दूसरे उत्कर्षका प्रतिपादन किया है।

३. कविकी सृष्टिमें तीसरी विशेषता मम्मटाचार्यने 'अनन्य-परतन्त्राम्' इस पदसे प्रदर्शित की है। ब्रह्माकी सृष्टि प्रकृति अथवा समवायि असमवायि-निमित्तकारण आदिके बिना सम्भव न होनेके कारण इनके अधीन है परन्तु कविकी सृष्टिके लिए कविकी अपनी प्रतिभाके अतिरिक्त अन्य किसी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती। वह किसी दूसरेके अधीन न होनेसे 'अनन्यपरतन्त्रा' है। इसीलिए वह ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा उत्कर्षशालिनी है।

अनन्य-परतन्त्रा पदमें 'परतन्त्र' पदका प्रयोग किया गया है, इसमें परतन्त्र शब्दका अर्थ अधीन है। परतन्त्रका पराधीन अर्थ न करके केवल अधीन अर्थ ही करना चाहिये। क्योंकि 'अनन्यपराधीना' यह अर्थ कुछ सङ्गत-सा नहीं होता है। इसलिए यहाँ 'परतन्त्र' शब्दका केवल 'अधीन' अर्थ ही लेना चाहिये।

[1]"परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि।
अधीनो निघ्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ॥

'अमरकोश'के इस वचनके अनुसार 'परतन्त्र' शब्द केवल 'अधीन' अर्थका वाचक भी माना गया है।

४. ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कविकी सृष्टिमें चौथी विशेषता यह दिखलायी है—ब्रह्माकी सृष्टिमें मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त केवल ये छः प्रकारके रस पाये जाते हैं। उनमेंसे सब रस मनुष्योंको प्रिय ही नहीं हैं, कटु-रस अत्यन्त अप्रिय भी है। औषध आदिके रूपमें भी उसका सेवन करनेसे आदमी घबड़ाता है। परन्तु कवि-सृष्टिके रसोंमें एक विशेषता तो यह है कि उसमें छह रसोंके स्थानपर शृङ्गार, वीर, करुण आदि नौ रस होते हैं और जैसा कि अभी कहा जा चुका है, दूसरी विशेषता यह है कि वे सब रस केवल आनन्दमय ही होते हैं। इसलिए कविकी सृष्टि 'नवरसा' और 'रुचिरा' होनेके कारण भी ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

'नवरस' पदमें 'नवानां रसानां समाहारः' इस प्रकारका समास नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस दशामें 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इस महाभाष्यके वचनके अनुसार त्रिलोकी, पञ्चमूली आदिके समान 'नवरसी' इस प्रकारका प्रयोग प्राप्त होगा। इसलिए 'समाहार द्विगु-समास' न करके 'नवसंख्याका रसा यस्यां सा नवरसा' इस प्रकारका 'बहुव्रीहिसमास' करनेके बाद फिर 'नवरसा चासौ रुचिरा चेति नवरसरुचिरा' यह 'कर्मधारयसमास' करके इस पदको बनाना चाहिये। अथवा 'नवावयवश्चासौ रसश्च' इस विग्रहमें 'शाकपार्थिववत्' मध्यमपदलोपी कर्मधारयसमास करके 'नवरसा' पद बनानेके बाद उसका 'रुचिरा' पदके साथ फिर कर्मधारयसमास किया जा सकता है।

इस प्रकार ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा कवि-भारतीकी रचनामें चार महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ पायी

---

१. 'अमरकोश' ३-१-१६।

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा, न च हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् । एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः । अत एव जयति । जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ॥१॥

जाती हैं । ब्रह्माकी अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट सृष्टिकी रचना करनेवाली कवि-भारती 'जयति' अर्थात् सर्वोत्कर्षशालिनी है, यह लिखकर मम्मटाचार्यने अपने ग्रन्थके आरम्भमें कवि-भारतीका जय-जय-कार किया है और उसके द्वारा कवि-भारतीके प्रति अपनी सम्मान-भावना द्वारा नमस्कार भी सूचित किया है ।

[ब्रह्माकी] सृष्टि 'नियति' [पद्मत्वादिरूप असाधारण धर्म अथवा अदृष्ट] के सामर्थ्यसे निश्चित स्वरूपवाली, [त्रिगुणात्मक होनेसे] सुख-दुःखमोहस्वभावसे युक्त, परमाणु आदि रूप उपादान-कारण, तथा कर्म आदि रूप सहकारिकारणके अधीन, छह रसोंसे युक्त और उनसे केवल मनोहारिणी ही नहीं [अपितु अरुचिकर भी] इस प्रकारकी ब्रह्माकी रचना अर्थात् सृष्टि है। कवि-भारतीकी सृष्टि तो इसके विपरीत [नियतिकृतनियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतन्त्रा और नवरसरुचिरा] है, इसलिए [कविकी भारती] विजय-शालिनी [सर्वोत्कर्षसे युक्त] है । 'जयति' [क्रिया] के अर्थसे [जयकार करनेवालेका उसके प्रति] नमस्कार आक्षिप्त [बिना कहे अर्थतः बोधित] होता है । इसलिए मैं उसका अभिवादन करता हूँ यह [अर्थ भी] सूचित होता है ॥१॥

मङ्गलाचरणके इस श्लोकमें 'आर्या' छन्दके 'गीति' नामक भेदका लक्षण पाया जाता है । आर्या छन्दका लक्षण कालिदासने 'श्रुतबोध'में इस प्रकार किया है—

[1]यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

संस्कृतके इस 'आर्या' छन्दको ही प्राकृतमें 'गाथा' नामसे कहा जाता है । इसी छन्दमें संस्कृतकी 'आर्या-सप्तशती' तथा प्राकृतकी 'गाथा-सप्तशती'की रचना हुई है । 'प्राकृत-पिङ्गल'के आचार्य पिङ्गलनागने गाथाका लक्षण इस प्रकार किया है—

[2]पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिं संजुत्ता ।
जह पढमं तह तीअं दहपञ्चविहूसिआ गाहा ॥

गाथाका यह लक्षण आर्या छन्दके पूर्वोक्त लक्षणसे बिलकुल मिलता-जुलता है । यहाँ मम्मटाचार्यने अपने मङ्गलाचरणके श्लोकमें इसी 'आर्या' छन्दके विशेष भेद 'गीति'का प्रयोग किया है । 'गीति'का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

[3]आर्या प्रथमदलोक्तं कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः ।
दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः ॥

इस मङ्गलश्लोकमें उपमानभूत ब्रह्माकी सृष्टिकी अपेक्षा उपमेयभूत कवि-भारतीकी सृष्टिमें

---

१. 'श्रुतबोध' ।
२. प्राकृत-पिङ्गल' ।
३. वृत्तरत्नाकर २-८ ।

चार प्रकारका आधिक्य दिखलाया गया है इसलिए यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है। व्यतिरेकालङ्कारका लक्षण 'काव्यप्रकाश'में इस प्रकार किया गया है—

[1]"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः'।

'भारती कवेर्जयति'में कविपदमें जो षष्ठीका प्रयोग हुआ है वह सम्बन्ध-सामान्यका सूचक है। 'कवेर्भारती' इसके दो अर्थ हो सकते हैं—एक कविकी भारती अर्थात् काव्य, और दूसरी कविकी भारती अर्थात् उसकी आराध्य-देवता सरस्वती। इन दोनोंमेंसे पहिले अर्थमें कविका, काव्य-रूप अपनी भारतीके साथ जन्य-जनक-भाव-सम्बन्ध होगा और देवतारूप दूसरे पक्षमें कविका भारतीके साथ आराध्य-आराधक-भाव-सम्बन्ध होगा।

'जयत्यर्थेन नमस्कार आक्षिप्यते' यहाँ 'जयति'का अर्थ उत्कर्षशालिनी होता है। इसलिए 'जयत्यर्थेन'का अर्थ 'उत्कर्षेण' होता है। उससे अपने अपकर्षज्ञानपूर्वक प्रह्वीभावरूप नमस्कारकी अभिव्यक्ति होती है। 'वैयाकरण-मञ्जूषामें' 'सुबर्थ'के प्रकरणमें 'नमः' शब्दका अर्थ "अपकृष्टत्वज्ञान-बोधनानुकूलो व्यापारः स्वरादिपठितनमःशब्दार्थः" इस प्रकार किया है। नमस्कार करनेवाला पुरुष नमस्कार्यकी अपेक्षा अपनेको छोटा समझकर ही नमस्कार करता है। इसलिए नमस्कार्य कविभारतीके 'जयति' पदसे सूचित उत्कर्षके द्वारा ग्रन्थकर्ताके नमस्कार या प्रह्वीभावकी सूचना मिलती है। अतएव यहाँ 'जयति' कहनेसे 'मैं उस कवि-भारतीको नमस्कार करता हूँ' यह अर्थ ही प्रतीत होता है; यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है॥१॥

अनुबन्धचतुष्टय

इस प्रकार प्रथम कारिकामें मङ्गलाचरण करनेके बाद ग्रन्थके विषय, प्रयोजन आदि रूप अनुबन्धचतुष्टयका निरूपण करनेका अवसर आता है। किसी भी कार्यमें मनुष्य तभी प्रवृत्त होता है जब उसमें उसको इष्ट-साधनता तथा कृतिसाध्यताका ज्ञान होता है। 'इदं मदिष्टसाधनम्' यह कार्य मेरे लिए हितकर या मेरे अभीष्टका साधन है और 'इदं मत्कृति-साध्यम्' मैं इस कार्यको भली प्रकार कर सकता हूँ इस प्रकारका ज्ञान होनेपर ही मनुष्य किसी कार्यमें प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं। इस ज्ञानमें 'इदम्' अंशसे विषय, 'इष्ट' पदसे प्रयोजन, 'साधनम्' पदसे सम्बन्ध एवं 'मत्' पदसे अधिकारीका ज्ञान होता है। इस प्रकार इन चारोंका ज्ञान ही प्रवृत्तिका प्रयोजक होता है। इसलिए 'प्रवृत्तिप्रयोजक-ज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यह 'अनुबन्ध'का लक्षण किया गया है और अधिकारी, विषय, सम्दन्ध और प्रयोजन इन चारोंको 'अनुबन्ध' शब्दसे कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें इन चारों अनुबन्धोंका निरूपण आवश्यक माना गया है—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

इन चार अनुबन्धोंमें विषय तथा प्रयोजन ये दो अनुबन्ध मुख्य हैं अतः इनका शब्दतः निरूपण आवश्यक होता है। शेष अधिकारी तथा सम्बन्ध इनकी अपेक्षा गौण हैं, इनकी सिद्धि शब्दतः कहे बिना अर्थतः भी हो जाती है। इसलिए अगली कारिकामें ग्रन्थकार अपने ग्रन्थके विषय और प्रयोजनका प्रतिपादन करेंगे।

---

१. 'काव्यप्रकाश', दशम उल्लास, सूत्र १५८. कारिका १०५।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह--

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म तत् कान्तेव

ग्रन्थके नामसे ही प्रतीत हो जाता है कि इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय काव्यसे सम्बन्ध रखनेवाला है, अर्थात् इसमें काव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण, दोष, रीति, अलङ्कार आदिका विवेचन किया गया है। इसलिए वह काव्य-चर्चा ही इसका विषय है और काव्यका जो प्रयोजन है वही इस ग्रन्थका भी प्रयोजन है, क्योंकि यह ग्रन्थ भी उस काव्य-फलकी सिद्धिमें प्रधान कारण होता ही है। इसलिए अपने ग्रन्थका प्रयोजन लिखनेके स्थानपर ग्रन्थकार मुख्यरूपसे विषय-भूत काव्यका प्रयोजन दिखाते हुए आगे लिखते हैं—

काव्यके प्रयोजन

और यहाँ [इस ग्रन्थमें] कहा जानेवाला [काव्यका लक्षण, उसके भेद, गुण, दोष, अलङ्कार आदि रूप] विषय [रसास्वादन आदि रूप काव्यके फलोंकी सिद्धिका प्रधान साधन होनेसे] सप्रयोजन है यह [काव्यके प्रयोजनोंको दिखाते हुए] कहते हैं—

काव्यका यशजनक, अर्थका उत्पादक, [लोक-] व्यवहारका बोधक, [शिव अर्थात् कल्याण, शिवेतर अर्थात् उससे भिन्न] अनिष्टका नाशक, पढ़ने [या सुनने, देखने आदि] के साथ ही [सद्यः] परम आनन्दका देनेवाला और स्त्रीके समान [सरसरूपसे कर्तव्याकर्तव्यका] उपदेश प्रदान करनेवाला होता है ॥२॥

[काव्यका निर्माण कविको] कालिदास आदिके समान (१) यश [की प्राप्ति, नषध महाकाव्यके प्रणेता महाकवि श्रीहर्षसे नहीं, अपितु 'रत्नावली नाटिका' के प्रणेता राजा] श्रीहर्ष आदिसे धावक आदि [पण्डितों] के समान (२) धन [की प्राप्ति कराता है और काव्योंके अध्ययन करनेसे पढ़नेवालोंको वर्णित राजा आदिके साथ अन्य लोगोंके व्यवहारको पढ़ने या नाटक आदिमें देखनेके द्वारा काव्य ही] (३) राजा आदिके साथ किये जाने योग्य आचारका परिज्ञान [कराता है। इसी प्रकार काव्यनिर्माण] (४) सूर्य आदि [की स्तुति] से 'मयूर' [कवि] आदि [के कुष्ठ-निवारण] के समान अनर्थका निवारण [करता है] और इन समस्त प्रयोजनोंमें मुख्य [काव्यके पढ़ने या सुननेके बाद सद्यः] तुरन्त ही रसके आस्वादनसे समुत्पन्न और अन्य सब विषयोंके परिज्ञानसे शून्य (५) परम आनन्द [की अनुभूति], तथा राजा [की आज्ञा] के समान शब्द-प्रधान वेद आदि शास्त्रोंसे [विलक्षण], मित्र [-वचन] के समान अर्थ-प्रधान पुराण और इतिहास आदिसे (विलक्षण), शब्द तथा अर्थ दोनोंके गुणीभावके कारण रसके साधक [व्यञ्जन] व्यापारकी प्रधानताके द्वारा, [वेद-शास्त्र-पुराण-इतिहास आदिसे] विलक्षण, जो लोकोत्तर वर्णन-शैलीमें निपुण कविका कर्म [अर्थात् काव्य] है वह (६) स्त्रीके समान सरसताके

सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥२॥

साथ [सरस बनाकर] राम आदिके समान आचरण करना चाहिये, रावण आदिके समान नहीं, यह यथायोग्य उपदेश [आवश्यकतानुसार] कवि तथा सहृदय [पाठक आदि] दोनोंको कराता है । इसलिए [काव्यकी रचना तथा उसके अध्ययन] में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥२॥

इस वाक्यका अर्थ समझनेके लिए उसका विश्लेषण करना आवश्यक है । वाक्यका क्रियापद 'करोति' लगभग वाक्यके अन्तमें आया है । इस क्रियाके कर्म-पद यशः, धनम्, आचार-परिज्ञानम्, अनर्थनिवारणम्, आनन्दम्, उपदेशं च ये ६ हैं । इन सबके साथ उपमा और विशेषण जुड़े हुए हैं । विशेषरूपसे आनन्दके साथ 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्', 'रसास्वादनसमुद्भूतम्' और 'विगलितवेद्यान्तरम्' ये तीन विशेषण जुड़े हुए हैं । वाक्यमें 'काव्यम्' पद कर्तृपद है । पर उसके साथ 'वेदादिशास्त्रेभ्यः पुराणादीतिहासेभ्यश्च विलक्षणं' इन विशेषणोंको जोड़कर 'यत् काव्यं तत्', यह कर्तृपद बनता है । इन विशेषणोंके साथ भी दूसरे विशेषण जुड़े हुए हैं । 'प्रभुसम्मित-शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः [विलक्षणं] सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च [विलक्षणं] यत् काव्यं तत्—यशः, धनम्, आचार-परिज्ञानम्, अनर्थनिवारणम्, उपदेशं च करोति' यह वाक्य बनता है । वेद-शास्त्र-इतिहास-पुराणादिसे काव्यकी विलक्षणता दिखलानेके लिए पूर्वोक्त विशेषणोंके अतिरिक्त 'शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूत-व्यापारप्रवणतया' पद तथा 'उपदेशं' इस कर्मपदके साथ 'कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य' पदमें इतिकर्तव्यता भी समाविष्ट हो गयी है । फलतः इस वाक्यकी रचना बड़ी दुरूह और क्लिष्ट हो गयी है । बिना टीकाके इसका अर्थ समझना जरा टेढ़ी खीर है । मम्मटाचार्यने सारे ग्रन्थमें इसी प्रकारकी रचना शैलीका अवलम्बन किया है । इसीलिए 'काव्यप्रकाश'की बीसों टीकाएँ होते हुए भी अनेक स्थलोंपर उसका रहस्य आज भी दुरूह बना हुआ है ।

उपदेशकी त्रिविध शैली

इस प्रकार मम्मटाचार्यने इस कारिकामें काव्यके छह प्रयोजन दिखलाये हैं । इसमेंसे 'कान्ता-सम्मिततया उपदेशयुजे' इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वेदादि शास्त्र तथा पुराण-इतिहासादिसे काव्यका भेद और उसकी उपादेयताका प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंगसे किया है । काव्यके प्रयोजनोंमें यश, धन आदि अन्य प्रयोजनोंके साथ कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है । वेद-शास्त्र-इतिहास-पुराण आदिकी रचना भी मनुष्योंको शुभ-कर्मोंमें प्रवृत्त करने तथा अशुभ-कर्मोंसे निवृत्त करनेके लिए ही की गयी है । परन्तु काव्यकी उपदेश-शैली उन सबसे विलक्षण है । इस विलक्षणताका उपपादन करनेके लिए ग्रन्थकारने शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रसप्रधान तीन तरहकी उपदेशशैलियोंकी कल्पना की है, जिनको क्रमशः 'प्रभुसम्मित', 'सुहृत्सम्मित' तथा 'कान्तासम्मित' पदोंसे निर्दिष्ट किया है । वेद-शास्त्र आदिकी शैली 'प्रभुसम्मित' या शब्दप्रधान शैली है । राजाज्ञाएँ तथा राजकीय विधान सदा शब्दप्रधान होते हैं । उनमें जो कुछ आज्ञा दी जाती है उसका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है । इसी प्रकार वेद-शास्त्र आदिमें जो उपदेश दिये गये हैं उनका अक्षरशः पालन करना ही अभीष्ट होता है । इसलिए वे शब्दप्रधान होनेसे राजाज्ञाके समान या प्रभुसम्मित उपदेश-शैलीमें अन्तर्भुक्त होते हैं ।

दूसरी उपदेश-शैली इतिहास-पुराण आदिकी है । इनमें वेद-शास्त्र आदिके समान शब्दोंकी प्रधानता नहीं होती है अपितु अर्थपर विशेष बल दिया जाता है । इसलिए उनका अक्षरशः पालन

आवश्यक नहीं होता है अपितु उनके अभिप्रायका अनुसरण किया जाता है। इसको ग्रन्थकारने 'सुहृत्-सम्मित' शैली कहा है। मित्र अपने मित्रको उचित कार्यका अनुष्ठान करने तथा अनुचित कामका परित्याग करनेका उपदेश करता है। परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञाके समान शब्दप्रधान नहीं होता है। उसका तात्पर्य अर्थमें होता है। इसलिए अर्थमें तात्पर्य रखनेवाली इस दूसरे प्रकारकी उपदेश-शैलीको ग्रन्थकारने 'सुहृत्सम्मित' शैली कहा है। इतिहास-पुराण आदिका अन्तर्भाव इस शैलीके अन्तर्गत होता है।

काव्यकी उपदेश-शैली इन दोनोंसे भिन्न प्रकारकी होती है। उसमें न शब्दकी प्रधानता होती है और न अर्थकी। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनोंका गुणीभाव होकर केवल रसकी प्रधानता होती है। इस शैलीको मम्मटने 'कान्तासम्मित' उपदेश-शैली नाम दिया है। स्त्री जब किसी काममें पुरुषको प्रवृत्त या किसी कार्यसे उसको निवृत्त करती है तब वह अपने सारे सामर्थ्यसे उसको सरस बनाकर ही उस प्रकारकी प्रेरणा करती है। इसलिए कान्तासम्मित-शैलीमें शब्द तथा अर्थ दोनोंका गुणीभाव होकर रसकी प्रधानता हो जाती है। इसलिए इसको रसप्रधान-शैली कहा जा सकता है। मम्मटाचार्यने काव्यकी उपदेश-शैलीको इस श्रेणीमें रखा है। काव्योंके पढ़नेसे भी रामादिके समान आचरण करना चाहिये, रावण आदिके समान आचरण नहीं करना चाहिये इस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त होती है। परन्तु उसमें शब्द या अर्थकी नहीं अपितु रसकी प्रधानता होती है। काव्यके रसास्वादनके साथ-साथ कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान भी मनुष्यको होता जाता है। यह शैली वेद-शास्त्रकी शब्दप्रधान तथा इतिहास-पुराण आदिकी अर्थप्रधान दोनों शैलियोंसे भिन्न और सरसताके कारण अधिक उपादेय है। इसलिए काव्यके विषयमें प्रयत्न करना ही चाहिये, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

काव्यसे यशकी प्राप्ति होती है इसको सिद्ध करनेके लिए ग्रन्थकारने कालिदासका उदाहरण दिया है, जो उचित ही है। अर्थप्राप्ति भी काव्यसे हो सकती है; इसके लिए ग्रन्थकारने धावकका नाम लिया है। श्रीहर्षके नामसे 'रत्नावली-नाटिका' आदि जो ग्रन्थ पाये जाते हैं वे वस्तुतः उनके बनाये हुए नहीं हैं अपितु धावक नामक किसी अन्य कविके बनाये हुए हैं। राजा श्रीहर्षने प्रचुर धन देकर उस कविको सम्मानित तथा पुरस्कृत किया, इसलिए कविने उसपरसे अपना नाम हटाकर लिखनेवालेके स्थानपर राजा श्रीहर्षका नाम डाल दिया है। इस प्रकार उन काव्योंसे धावकको केवल धनकी प्राप्ति हुई, यशकी प्राप्ति जितनी होनी चाहिये थी उतनी नहीं हुई। तीसरा प्रयोजन 'व्यवहारविदे' अर्थात् व्यवहारका ज्ञान है। काव्य-नाटक आदिमें जो चरित्र-चित्रण होता है उससे भिन्न-भिन्न स्थितियोंमें पात्रोंके परस्पर व्यवहारकी शैलीका परिज्ञान होता है; विशेषकर राजा आदिके साथ किस प्रकारका शिष्टाचार व्यवहारमें लाना चाहिये इस बातका परिज्ञान काव्यादिके द्वारा ही साधारण जनोंको प्राप्त होता है। 'सद्यः परनिर्वृतये' अर्थात् काव्यके निर्माण अथवा पाठके साथ ही जो एक विशेष प्रकारके आन्तरिक आनन्दकी प्राप्ति होती है वह अलौकिक आनन्दानुभूति ही काव्यका सबसे मुख्य प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूतिकी वेलामें पाठक संसारका और सब-कुछ भूलकर उसी काव्य जगत्में तल्लीन हो जाता है। इस तन्मयतामें ही उस अलौकिक आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए ग्रन्थकारने उसके साथ 'विगलितवेद्यान्तरम्' तथा 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' ये दो विशेषण जोड़े हैं।

इन प्रयोजनोंमें 'शिवेतरक्षति' अर्थात् अनिष्ट—अमङ्गलका निवारण भी एक प्रयोजन बतलाया गया है। इसके लिए ग्रन्थकारने 'मयूर' कविका उदाहरण दिया है। 'मयूर' कविका एकमात्र काव्य 'सूर्यशतक' मिलता है। इसमें सूर्यके स्तुति-परक १०० श्लोक हैं। कहते हैं कि इन श्लोकों द्वारा सूर्यकी

स्यति कर 'मयूर' कविने कुष्ठ-रोगसे छुटकारा पाया था। इसलिए ग्रन्थकारने उसे अनिष्ट-निवारणके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। 'मयूर' कविके कुष्ठी होनेके विषयमें एक कथा प्रसिद्ध है। उसका भी इस प्रसङ्गमें उल्लेख कर देना उचित होगा। 'मेरुतुङ्गाचार्य' कृत 'प्रबन्धचिन्तामणि' तथा 'यज्ञेश्वर-भट्ट'कृत 'सूर्य-शतक'की टीकामें मयूरभट्टके कुष्ठी होने और उस दुष्टरोगसे मुक्त होनेकी कथा इस प्रकार दी गयी है—

मयूरभट्टका उपाख्यान

संवत् १०७८ या सन् १०२१ में मयूर कवि राजा भोजके सभारत्न थे और धारानगरीमें रहते थे। 'कादम्बरी' नामक प्रसिद्ध गद्य-काव्यके निर्माता महाकवि 'बाणभट्ट' इनके भगिनी-पति अर्थात् बहनोई थे। वे भी उसी धारानगरीमें रहते थे। दोनों ही कवि थे इसलिए साले-बहनोईके इस सम्बन्धके अतिरिक्त भी उन दोनोंमें विशेष मैत्री-भाव था। दोनों अपनी नूतन रचनाएँ एक-दूसरेको सुनाते रहते थे।

एक दिनकी बात है कि बाणकी पत्नी किसी कारणसे बाणभट्टसे अत्यन्त अप्रसन्न हो गयी। बाणभट्टने उसको मनानेका बहुतेरा प्रयत्न किया पर उसमें उनको सफलता नहीं मिली। इस मान-मनौवलमें ही उनकी सारी रात बीत गयी और लगभग सबेरा हो आया, पर बाणभट्ट भी अपने प्रयत्नमें लगे हुए थे। वे अपनी पत्नीसे कह रहे थे—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

"हे प्रिये, रात्रि समाप्त हो आयी है। चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है और यह दीपक भी रातभर जागनेके कारण अब निद्राके वशीभूत होकर झोंके ले रहा है। यद्यपि प्रणामसे मानकी समाप्ति हो जाती है पर मेरे सिर नवानेपर भी तुम अपना क्रोध नहीं छोड़ रही हो—"

श्लोकके तीन चरण बन पाये थे और बाणभट्ट उन्हीं तीनोंको बार-बार दुहरा रहे थे। इसी समय मयूरभट्ट प्रातःकालके भ्रमण और काव्यचर्चाके निमित्त बाणभट्टको साथ ले जानेके लिए उनके घर आ पहुँचे। बाणभट्टको ऊपर लिखे श्लोकका पाठ करते हुए सुनकर वे बाहर ही रुक गये। थोड़ी देर सुननेके बाद उनसे चुप न रहा गया और उन्होंने श्लोकके चतुर्थ चरणकी इस प्रकार पूर्ति करके उसे जोरसे सुना ही दिया कि—

'कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्।'

बाणकी पत्नीने जब यह सुना तो उसे बड़ा क्रोध आया और उस क्रोधके आवेशमें उसने पूर्ति करनेवालेको पहिचाने बिना ही कुष्ठी हो जानेका शाप दे दिया। उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे मयूरभट्टपर शापका प्रभाव पड़ा और वे कुष्ठी हो गये। इसके बाद मालूम होने तथा क्रोध शान्त होनेपर उसीने उनको शापके प्रभावसे मुक्त होनेका यह उपाय बतलाया कि तुम गङ्गाके किनारे जाकर सूर्यकी उपासना करो, उसीसे तुम इस रोगसे मुक्त हो सकोगे। तदनुसार मयूरभट्टने गङ्गाके किनारे एक वृक्षपर एक रस्सीका छीका लटकाकर और उसपर बैठकर सूर्यदेवकी उपासना प्रारम्भ की। वह प्रतिदिन सूर्यकी स्तुतिमें एक नया श्लोक बनाते थे और प्रतिदिन अपने छीकेकी एक रस्सी काटते जाते थे। छीकेकी सौ डोरियाँ कट जानेपर उनके गङ्गामें गिरनेके पूर्व ही सूर्यदेवकी कृपासे उनको आरोग्य-लाभ हो गया। इस प्रकार

सूर्यकी स्तुतिमें मयूरकविने जिन सौ श्लोकोंकी रचना की, उन्हींका संग्रह 'सूर्यशतक' नामसे प्रसिद्ध है। इसी प्रसिद्ध कथाके आधारपर मम्मटाचार्यने 'शिवेतरक्षतये'की व्याख्यामें मयूरभट्टके नामका उल्लेख किया है।

वामनाभिमत काव्यके प्रयोजन

मम्मटाचार्यने यहाँ काव्यके जिन छह प्रयोजनोंका निरूपण किया, लगभग उसी प्रकारके काव्य-प्रयोजनोंका प्रतिपादन उनके पूर्ववर्ती आचार्योंने भी किया है। इनमेंसे 'वामन'कृत प्रयोजनोंका निरूपण सबसे अधिक संक्षिप्त है। उन्होंने काव्यके केवल दो प्रयोजन माने हैं—एक कीर्ति और दूसरा प्रीति या आनन्द। उन्होंने लिखा है—

[1]'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।

इनमेंसे प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूतिको काव्यका दृष्ट-प्रयोजन तथा कीर्तिको काव्यका अदृष्टार्थ-प्रयोजन माना है और इसपर विशेष बल दिया है। उन्होंने इस विषयमें तीन श्लोक भी दिये हैं—

[2]प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम् ॥१॥
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम् ॥२॥
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिञ्च व्यपोहितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः ॥३॥

भामह-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन

वामनके भी पूर्ववर्ती आचार्य भामहने इनकी अपेक्षा अधिक विस्तारके साथ काव्यके प्रयोजनोंका वर्णन निम्नलिखित प्रकार किया है—

[3]धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥

अर्थात् उत्तम काव्यकी रचना धर्म, अर्थ काम और मोक्ष-रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओंमें निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्दको उत्पन्न करनेवाली होती है।

भामहके इस श्लोकको उत्तरवर्ती सभी आचार्योंने आदरपूर्वक अपनाया है। इसके अनुसार कीर्ति तथा प्रीतिके अतिरिक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदिमें निपुणताकी प्राप्ति भी काव्यका प्रयोजन है।

कीर्तिको काव्यका मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए जिस प्रकार वामनने तीन श्लोक लिखे थे, जो ऊपर दिये जा चुके हैं, उसी प्रकार भामहने भी कुछ श्लोक इसी अभिप्रायके लिखे हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं—

[4]उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः ॥६॥

१, २. वामन—'काव्यालङ्कारसूत्र', १, १, ५।
३. भामह—'काव्यालङ्कार', १, २।
४. भामह—'काव्यालङ्कार' प्रथम परिच्छेद।

रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी ।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम् ॥७॥
अतोऽभिवाञ्छता कीर्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः ।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः ॥८॥
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥११॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः ॥१२॥

अर्थात् उत्तम काव्योंकी रचना करनेवाले महाकवियोंके दिवङ्गत हो जानेके बाद भी उनका सुन्दर काव्य-शरीर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अक्षुण्ण बना रहता है ॥६॥

और जबतक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भू-मण्डल तथा आकाशमें व्याप्त रहती है तबतक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपदका भोग करते हैं ॥७॥

इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रखनेवाली कीर्तिके चाहनेवाले कविको, उसके उपयोगी समस्त विषयोंका ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्यकी रचनाके लिए प्रयत्न करना चाहिये ॥८॥

काव्यमें एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बातका ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि बुरे काव्यकी रचनासे कवि उसी प्रकार निन्दाका भाजन होता है जिस प्रकार कुपुत्रसे पिताकी निन्दा होती है ॥११॥

[कु-कवि बननेकी अपेक्षा तो अ-कवि होना अच्छा है क्योंकि] अ-कवित्वसे न तो अधर्म होता है और न व्याधि या दण्डका भागी ही बनना पड़ता है परन्तु कु-कवित्वको विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं ॥१२॥

कुन्तक-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन

कुन्तकने अपने 'वक्रोक्तिजीवित'में इसको और भी अधिक स्पष्ट किया है । उन्होंने काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण करते हुए लिखा है—

[१]धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥३॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥४॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अर्थात् काव्य की रचना अभिजात—श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न—राजकुमार आदिके लिए सुन्दर एवं सरस ढंगसे कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिका सरल मार्ग है ।

सत्काव्यके परिज्ञानसे ही व्यवहार करनेवाले सब प्रकारके लोगोंको अपने-अपने व्यवहारका पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है ।

[और सबसे बड़ी बात यह है कि] उससे सहृदयोंके हृदयमें चतुर्वर्ग-फलकी प्राप्तिसे भी बढ़कर आनन्दानुभूतिरूप चमत्कार उत्पन्न होता है ।

१. 'वक्रोक्तिजीवितम्', प्रथम उन्मेष, ३–५ कारिका ।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृत्तस्य, शास्त्राणाँ छन्दो-व्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानाँ च महाकवि-

---

कवि तथा पाठकको दृष्टिसे प्रयोजन-विभाग

इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्योंने जिन काव्य-प्रयोजनोंका प्रतिपादन किया था उनका और भी अधिक परिमार्जन करके काव्यप्रकाशकारने सबसे अधिक सुन्दर एवं विस्तृत रूपमें काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण किया है । इनमेंसे तीनको मुख्यतः कवि-निष्ठ तथा तीनको मुख्यतः पाठक-निष्ठ प्रयोजन कहा जा सकता है । 'यशसे', 'अर्थकृते' तथा 'शिवेतरक्षतये' ये तीन मुख्यतः कविके उद्देश्यसे और 'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिर्वृतये' तथा 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' ये तीन मुख्यतः पाठककी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोजन कहे जा सकते हैं । परन्तु प्राचीन आचार्योंने इस प्रकारका विभाजन नहीं किया है ।

भरतमुनिके काव्य-प्रयोजन

काव्यशास्त्रके आद्य आचार्य श्रीभरतमुनिने अपने 'नाटचशास्त्र' [अ० १, श्लो० ११३–११५] में नाटच अथवा काव्यके प्रयोजनोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृति-क्रीड़ा-सुखादिकृत् ॥११३॥
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाटचमेतद् भविष्यति ॥११४॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाटचमेतद् भविष्यति ॥११५॥

उत्तरवर्ती आचार्योंने इसीके आधारपर काव्यके प्रयोजनोंका निरूपण किया है ।

इस प्रकार अधिकांश आचार्योंने कीर्ति या यशको काव्यका मुख्य प्रयोजन माना है । कदाचित् इसीलिए मम्मटाचार्यने भी अपनी कारिकामें उसको सबसे पहिला स्थान दिया है । कविकी दृष्टिसे वह है भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण । परन्तु पाठककी दृष्टिसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन 'सद्यः परनिर्वृति' अर्थात् अलौकिक आनन्दानुभूति है । इसलिए मम्मटाचार्यने उसको 'सकलप्रयोजन-मौलिभूतम्' कहा है ॥२॥

काव्यके हेतु

इस प्रकार काव्य तथा उसके उपयोगी विषयोंमें अभिरुचि उत्पन्न करनेके लिए काव्यके प्रयोजनों-का प्रतिपादन करनेके बाद ग्रन्थकार काव्यके प्रयोजक हेतुओंका वर्णन अगली कारिकामें करते हैं—

[कविमें रहनेवाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभारूप] १. शक्ति, २. लोक [व्यवहार], शास्त्र तथा काव्य आदिके पर्यालोचनसे उत्पन्न निपुणता और ३. काव्य [की रचना-शैली तथा आलोचनापद्धति]

सम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः । काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ॥३॥

को जाननेवाले [गुरु] की शिक्षाके अनुसार [काव्य-निर्माणका] अभ्यास, ये [तीनों मिलकर समष्टि-रूपसे] उस [काव्य] के विकास [उद्भव] के कारण हैं ॥३॥

१. कवित्वका बीजभूत संस्कार-विशेष [प्रतिभा या] शक्ति [कहलाती] है, जिसके बिना काव्य [निकलता] बनता ही नहीं है । अथवा [निकलने, तुकबन्दीके रूपमें कुछ] बन जानेपर [भी] उपहासके योग्य होता है । २. लोक अर्थात् स्थावरजङ्गमरूप संसारके व्यवहारके, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण, संज्ञा-शब्दों [अभिधान] के कोश [अमरकोश आदि], कला [अर्थात् भरत, कोहल आदि प्रणीत नृत्य-गीत आदि चौसठ प्रकारकी कलाओंके प्रतिपादक लक्षण-ग्रन्थों], चतुर्वर्ग [अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्रतिपादक ग्रन्थ], हाथी-घोड़े [आदिके लक्षणोंके प्रतिपादक शालिहोत्र आदि रचित ग्रन्थ] एवं खड्ग आदिके लक्षणग्रन्थों और महाकविसम्बन्धी [अर्थात् महाकवियों द्वारा रचे गये] काव्योंके, आदि [पदके] ग्रहणसे [सूचित] इतिहास आदिके पर्यालोचनसे उत्पन्न व्युत्पत्ति [विशेष प्रकारका ज्ञान] तथा ३. जो काव्य [की रचना] करना और उसकी विवेचना करना जानते हैं उनके उपदेशके अनुसार [अपने आप नवीन श्लोकादिके] निर्माण करने और [प्राचीन कवियोंके श्लोकोंमें] जोड़-तोड़ करनेमें बार-बार प्रवृत्ति [अर्थात् अभ्यास] ये तीनों मिलकर [समष्टिरूपसे] अलग-अलग नहीं, उस काव्यके उद्भव अर्थात् निर्माण और विकासमें कारण हैं । अलग-अलग तीन कारण नहीं होते हैं ।

यहाँ ग्रन्थकारने (१) शक्ति, (२) लोकव्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदिके पर्यालोचनसे उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा (३) काव्यकी रचना-शैली और उसके गुण-दोषोंके जाननेवाले विद्वानोंकी शिक्षाके अनुसार अभ्यास इन तीनोंकी समष्टिको काव्य-निर्माणकी योग्यता प्राप्त करनेका कारण माना है ।

वामन-प्रतिपादित काव्यके हेतु

वामनने भी इसी प्रकार (१) लोक, (२) विद्या तथा (३) प्रकीर्ण इन तीनोंको काव्यका अङ्ग, काव्य-निर्माणकी क्षमता प्राप्त करनेका साधन बतलाया है—

[1]लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि १, ३, १ ।

[2]लोकवृत्तं लोकः १, ३, २ ।

[3]शब्दस्मृत्यभिधानकोश-छन्दोविचिति-कला-कामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्याः १, ३, ३ ।

[4]लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम् १, ३, ११ ।

इस प्रकार वामनने काव्यके कारणोंका अधिक विस्तारके साथ विवेचन किया है । प्रथम अधिकरणके तीसरे अध्यायके २० सूत्र वामनने इन काव्याङ्गोंके निरूपण करनेमें व्यय किये हैं जिनको यहाँ मम्मटाचार्यने केवल एक कारिकामें कह दिया है । मम्मटने वामनके लोक तथा विद्या दोनोंको 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता'के अन्तर्गत कर लिया है । 'प्रकीर्ण'मेंसे 'शक्ति'को अलग कर दिया है और 'वृद्ध-सेवा'का 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यासः'में अन्तर्भाव करके मम्मटने वामनके समान आठ काव्याङ्गोंका मुख्यरूपसे तीन काव्य-साधनोंके रूपमें प्रतिपादन किया है ।

१-४. वामन—'काव्यालङ्कारसूत्र' १, ३, १-२-३ और ११ ।

भामह-प्रतिपादित काव्य-हेतु

वामनके पूर्ववर्ती आचार्य भामहने भी काव्य-साधनोंका निरूपण लगभग उसी प्रकारसे किया है। उन्होंने लिखा है—

[1]शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी ।।९।।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।।१०।।

इन काव्य-साधनोंकी तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि काव्य-साधन सभी आचार्योंकी दृष्टिमें लगभग एक-से ही हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न आचार्योंने उनके पौर्वापर्य अथवा विभाग आदिमें थोड़ा-बहुत भेद करके उनका अलग-अलग ढंगसे निरूपण कर दिया है। तत्त्वतः उनके विवेचनमें अधिक भेद नहीं है ।।३।।

१. मम्मटका काव्य-लक्षण

इस प्रकार द्वितीय कारिकामें काव्यके प्रयोजन तथा तृतीय कारिकामें काव्यके साधनोंका निरूपण कर चुकनेके बाद चतुर्थ कारिकामें ग्रन्थकार काव्यका लक्षण प्रस्तुत करने जा रहे हैं। किसी भी पदार्थका अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव—तीनों प्रकारके दोषोंसे रहित एकदम निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करना यों ही कठिन होता है, फिर काव्य जैसे दुर्बोध पदार्थका लक्षण करना और भी अधिक कठिन है। फिर भी काव्यप्रकाशकारने इस दिशामें जो प्रयत्न किया है वह प्रशंसनीय है। यद्यपि उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदिने उनके लक्षणका बुरी तरहसे खण्डन किया है, परन्तु वास्तविक दृष्टिसे विचार किया जाय तो वह उतना दूषित लक्षण नहीं है जितना विरोधियोंने उसको चित्रित करनेका प्रयत्न किया है। उनके काव्य-लक्षणके गुण-दोषकी मीमांसा करनेसे पहिले उनके लक्षणोंको भली प्रकार समझ लेना चाहिये अन्यथा उसकी समालोचना और मीमांसा समझमें नहीं आ सकेगी।

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'

मम्मटाचार्यके अनुसार यह काव्यका लक्षण है। इस लक्षणमें सबसे पहिली बात यह है कि मम्मट शब्द तथा अर्थ दोनोंकी समष्टिको काव्य मानते हैं। अकेला शब्द या अकेला अर्थ इनमेंसे कोई भी काव्य नहीं है। 'तत्' यह सर्वनामपद पिछली 'काव्यं यशसे' इत्यादि कारिकामें प्रयुक्त हुए काव्यपदका परामर्शक है। द्वितीय कारिकामें मुख्य संज्ञापद या 'काव्य'पदका प्रयोग करनेके बाद तीसरी तथा चौथी दोनों कारिकाओंमें ग्रन्थकारने 'तत्' इस सर्वनाम-पदके प्रयोग द्वारा ही उसका निर्देश किया है। इसलिए यहाँ भी 'तत्' पद 'काव्य'का परामर्शक है। 'शब्दार्थौ तत्'का अर्थ 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह हुआ। इसके अनुसार शब्द तथा अर्थ, ये दोनों मिलकर काव्यपदवाच्य होते हैं, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

इस 'शब्दार्थौ' पदके तीन विशेषण लक्षणमें प्रस्तुत किये गये हैं। वे शब्द और अर्थ दोनों किस प्रकारके होने चाहिये कि (१) 'अदोषौ', (२) 'सगुणौ' तथा (३) 'अनलंकृती पुनः क्वापि'। अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों दोष-रहित हों यह पहली बात है। दूसरी बात यह है कि वे दोनों 'सगुण' माधुर्य आदि काव्य-गुणोंसे युक्त होने चाहिये और तीसरी बात यह है साधारणतः वे अलङ्कार सहित भी होने चाहिये परन्तु जहाँ कहीं रसादिकी प्रतीति हो रही हो वहाँ उनके अलङ्कारविहीन होनेपर भी काम चल

१. भामह—'काव्यालङ्कार' १, ९-१०।

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

[सूत्रम् १] तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।

दोषगुणालंकारा वक्ष्यन्ते । क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः । यथा—

[1]यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥१॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः । रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता ।

सकता है । इस प्रकार इन तीन विशेषणोंसे युक्त शब्द तथा अर्थकी समष्टिका नाम काव्य है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । यही बात आगे कहते हैं—

इस प्रकार इस [काव्य] के साधन बतलाकर [उसके] स्वरूपको कहते हैं—

[सू० १]—दोषोंसे रहित, गुण-युक्त और [साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु] कहीं-कहीं अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ [दोनोंकी समष्टि] काव्य [कहलाती] है ।

दोष, गुण और अलङ्कार [किसको कहते हैं यह बात] आगे कहेंगे । ['अनलंकृती पुनः क्वापि' इस वाक्यांशमें प्रयुक्त] 'क्वापि' इस पदसे [ग्रन्थकार] यह कहते हैं कि [साधारणतः] सब जगह अलङ्कारसहित [शब्द तथा अर्थ होने चाहिये] परन्तु कहीं [जहाँ व्यङ्ग्य या रसादिकी स्थिति विद्यमान हो वहाँ] स्पष्टरूपसे अलङ्कारकी सत्ता न होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है । जैसे—

[जिन प्रियतम पतिदेवने विवाहके बाद प्रथम सम्भोग द्वारा मेरे कुमारीभावके सूचक योनिच्छदका भङ्ग करके कौमार्यका हरण किया, चिर उपभुक्त, मेरे] कौमार्यका हरण करनेवाले वे ही पतिदेव हैं, और [आज फिर] वे ही चैत्र [मास] की [उज्ज्वल चाँदनीसे भरी हुई] रातें हैं, खिली हुई मालतीकी [मालतीका अर्थ जाति-पुष्प या चमेली होता है परन्तु 'न स्याज्जाती वसन्ते' इत्यादि कविसम्प्रदायके अनुसार वसन्त ऋतुमें जाति-पुष्पका वर्णन करना वर्जित है, इसलिए यहाँ मालती पदसे वसन्तमें खिलनेवाली किसी लता-विशेषका ग्रहण करना चाहिये] सुगन्धसे भरी हुई और [वसन्त ऋतुमें कदम्ब भी नहीं खिलता है, वह वर्षा ऋतुमें खिलता है । इसलिए यहाँ कदम्ब शब्दसे वसन्तमें खिलनेवाले धूलि-कदम्ब नामक पुष्प-विशेषका ग्रहण करना चाहिये] धूलि-कदम्बकी उन्मादक [प्रौढ़ अत्यन्त कामोत्तेजक] वायु बह रही है और मैं भी वही हूँ [सभी सामग्री पुरानी, चिर उपभुक्त होनेसे उसमें उत्कण्ठा होनेका कोई अवसर नहीं] फिर भी [न जाने क्यों आज] वहाँ नर्मदाके तटपर उस बेतके पेड़के नीचे [जहाँ अनेक बार अपने पतिदेवके साथ सम्भोग कर चुकी हूँ-सम्भोगकी] उन काम-केलियोंके [फिर-फिर करनेके] लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है ॥१॥

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है और रसके प्रधान होनेसे [रसवदलङ्कारके रूपमें] उसको भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है । [क्योंकि वह रसवदलङ्कार रसके गौण होनेपर ही होता है] ।

---

१. 'शार्ङ्गधर-पद्धति'में यह श्लोक 'शिलाभट्टारिका'के नामसे दिया गया है ।

इस उदाहरणकी विश्वनाथकृत आलोचना

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है इस कथनका अभिप्राय यह है कि वैसे चाहें तो खींच-तान करके यहाँ अलङ्कार निकाला जा सकता है; जैसे कि साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने इसमें 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकालनेका प्रयत्न किया है। 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' ये दोनों अलङ्कार परस्पर विरोधीरूप हैं।

विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।
सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्ततो द्विधा।

जहाँ बिना कारणके कार्यका वर्णन किया जाय वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है। इसके विपरीत जहाँ कारण होनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति न हो वहाँ 'विशेषोक्ति' नामक दूसरा अलङ्कार होता है। साहित्यदर्पणकारका कहना यह है कि यहाँ उत्कण्ठारूप कार्यका वर्णन किया गया है परन्तु उसका कारण विद्यमान नहीं है। उत्कण्ठा सदा किसी नयी चीजकी प्राप्तिके लिए होती है। यहाँ कोई भी नयी चीज नहीं, सभी वस्तुएँ पहिले सैकड़ों बारकी भोगी हुई हैं। इसलिए उत्कण्ठाका कारण न होनेपर भी उत्कण्ठारूप कार्यका वर्णन होनेसे यहाँ 'विभावना' अलङ्कार है। इसी प्रकार यदि इसको उलट दिया जाय तो यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकल सकता है। यहाँ सब ही वस्तुएँ उपभुक्त-चर हैं इसलिए उत्कण्ठा नहीं होनी चाहिये। अर्थात् उत्कण्ठाके अभावकी सारी सामग्री विद्यमान है परन्तु उत्कण्ठाका अभावरूप कार्य नहीं है, उत्कण्ठा हो रही है। इस प्रकार उत्कण्ठाभावका कारण रहते हुए भी उत्कण्ठाभाव कार्यके न होनेसे यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार भी पाया जाता है।

समाधान

इस प्रकार साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने इस श्लोकमें 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' दो अलङ्कारोंकी कल्पना करके और उनके सन्देह-सङ्कर अलङ्कारकी स्थिति सिद्ध करके मम्मट द्वारा 'अनलंकृती पुनः क्वापि'के उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किये गये इस श्लोकमें अलङ्कारके अभावका खण्डन किया है। परन्तु विश्वनाथन अत्यन्त संरम्भके साथ विभावना-विशेषोक्ति-मूलक सन्देह-सङ्कर अलङ्कारको यहाँ सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह मम्मटाचार्यकी दृष्टिसे ओझल नहीं था। वे भी जानते थे कि यहाँ इस प्रकारसे 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' या दोनोंका सन्देह-सङ्कर अलङ्कार निकाला जा सकता है। परन्तु ये अलङ्कार भाव-मुखेन नहीं, अभाव-मुखेन निकलते हैं इसलिए वे स्पष्ट नहीं अपितु खींचतानकर ही निकाले जा सकते हैं। इसीलिए तो मम्मटने उसे 'स्फुटालङ्कार-विरह'के उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है। अतएव विश्वनाथने जो इस उदाहरणका खण्डन किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है।

विश्वनाथकी भावना

विश्वनाथने अपने 'साहित्यदर्पण'में मम्मटके इस काव्य-लक्षणकी बुरी तरह छीछालेदर की है। उनकी दृष्टिमें तो 'काव्यप्रकाश'के इस काव्य-लक्षणमें 'पदसंख्यातोऽपि भूयसी दोषाणां संख्या' जितने पद प्रयुक्त हुए हैं उनसे भी अधिक दोष उसमें हैं। 'साहित्यदर्पण'को पढ़नेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथकी दृष्टिमें मम्मट महामूर्ख आदमी हैं, वह साहित्यशास्त्रकी बारहखड़ी भी नहीं जानते हैं। उन्होंने अपने पाण्डित्यके प्रदर्शनका यही एकमात्र उपाय समझा है कि 'काव्यप्रकाश'का हर बातमें खण्डन किया जाय। कदाचित् इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थका नाम 'साहित्यदर्पण' रखा है। 'दर्पण'का कार्य 'प्रकाश'का प्रतिक्षेप करना ही है। दर्पणको यदि सूर्यके सामने दिखाया जाय तो उसपर जो सूर्यकी

किरणें पड़ेंगी वे वहाँसे प्रतिक्षिप्त होकर सामने खड़े हुए व्यक्तिकी आँखोंमें भीषण चकाचौंध उत्पन्न कर देंगी। इस प्रकार साहित्यदर्पणकार विश्वनाथके अपने 'दर्पण' द्वारा काव्यप्रकाशकार मम्मटके 'प्रकाश'का प्रतिक्षेप कर साहित्यके विद्यार्थियोंकी दृष्टिमें चकाचौंध उत्पन्न कर दी है जिसके कारण विद्यार्थी उस समय अन्धा-सा हो जाता है और 'काव्यप्रकाश'में उसे कुछ भी तत्त्व नहीं दिखायी देता।

'अदोषौ'पदकी आलोचना

काव्यप्रकाशकारने अपने लक्षणमें 'शब्दार्थौ'के जो तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' दिये हैं उन तीनोंका ही विश्वनाथने बुरी तरह खण्डन किया है। उनकी युक्तियोंका सार यह है कि यदि दोषरहित शब्दार्थको ही काव्य माना जाय तो इस प्रकारका नितान्त दोषरहित काव्य संसारमें मिल सकना ही कठिन है। इसलिए 'एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्' अर्थात् ऐसी दशामें काव्य या तो संसारमें मिलेगा ही नहीं और यदि भूले-भटके कहीं मिल भी गया तो बहुत कम मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त आगे चलकर 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि जिस श्लोकको ध्वनि-प्रधान होनेसे उत्तम काव्य माना गया है उसमें भी 'विधेयाविमर्श' दोषके विद्यमान होनेसे उसको उत्तम-काव्य क्या, काव्य भी नहीं कहा जा सकेगा और यदि यह कहा जाय कि दोष तो उस श्लोकके थोड़े-से ही अंशमें है तो—

'यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्[1]।'

जिस अंशमें दोष है वह अकाव्यत्वका प्रयोजक होगा और जिस अंशमें ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्वका प्रयोजक होगा। इस प्रकार दोनों अंशोंकी इस छीना-झपटीमें वह काव्य या अकाव्य कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

समाधान

इस प्रकार साहित्यदर्पणकारने 'अदोषौ' पदके लक्षणमें रखे जानेका खण्डन किया है। परन्तु काव्यप्रकाशकारका 'अदोषौ' पदके रखनेका अभिप्राय यह है कि काव्यत्वके विघटक जो 'च्युतसंस्कार' आदि प्रबल दोष हैं उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता, अपितु जब वह रसानुभूतिमें बाधक होता है तभी दोष कहा जाता है। जैसे 'दुःश्रवत्व' दोष करुण, शृंगार आदि कोमल रसोंकी अनुभूतिमें बाधक होता है इसलिए वहाँ उसे दोष कहा जाता है। परन्तु वीर, बीभत्स या भयानक रसमें वह 'दुःश्रवत्व' रसानुभूतिका बाधक नहीं, अपितु साधक हो जाता है इसलिए वहाँ दोष नहीं, अपितु गुण कहा जाता है। इसलिए जो दोष प्रबल होनेके कारण रसानुभूतिमें बाधक हों उन प्रबल दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य हैं। यह काव्यप्रकाशकारका अभिप्राय है। अतः साधारण स्थितिके दुर्बल दोषके विद्यमान होनेपर भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती है। स्वयं साहित्यदर्पणकारने भी साधारण दोषोंके रहते हुए भी काव्यमें काव्यत्व स्वीकार किया है।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

जैसे कीड़ोंसे खाया हुआ प्रवाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार जिस काव्यमें रसादिकी अनुभूति स्पष्टरूपसे होती रहती है वहाँ दोषके होते हुए भी काव्यत्वकी हानि नहीं होती।

१. 'साहित्यदर्पण', प्रथम परिच्छेद।

इस सिद्धान्तको साहित्यदर्पणकार भी स्वीकार करते हैं और काव्यप्रकाशकारने जो अपने काव्य-लक्षणमें 'अदोषौ' पदका समावेश किया है वह भी इसी अभिप्रायसे किया है कि रसानुभूतिके बाधक प्रबल दोषोंसे रहित शब्द तथा अर्थकी समष्टि काव्य कहलाती है अर्थात् जहाँ साधारण दोषके होते हुए भी रसानुभूतिमें बाधा नहीं होती है वह दोष-युक्त काव्य भी काव्य ही है। ऐसी दशामें काव्य 'प्रविरलविषय' या 'निर्विषय' कुछ भी नहीं होता है, और न 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादिमें साधारण 'विधेयाविमर्श' दोषके होनेसे अकाव्यत्व होता है। इसलिए विश्वनाथने इसके खण्डनमें जो कुछ लिखा है उसका 'पाण्डित्य-प्रदर्शन'के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है।

'सगुणौ'की आलोचना

इसी प्रकार लक्षणमें दिये हुए 'सगुणौ'पदका भी विश्वनाथने खण्डन किया है। उनका कहना है कि गुण तो रसके धर्म होते हैं, रसमें रहते हैं। वे शब्द या अर्थके धर्म नहीं होते हैं इसलिए शब्द या अर्थमें नहीं रह सकते हैं। ऐसी दशामें रस ही 'सगुण' कहा जा सकता है, शब्द या अर्थको 'सगुण' नहीं कहा जा सकता। इसलिए काव्यप्रकाशकारने जो 'सगुणौ' पदको 'शब्दार्थौ'के विशेषणरूपमें प्रयुक्त किया है वह भी उचित नहीं किया है।

विश्वनाथ तो ऐसा समझ रहे हैं कि मम्मटाचार्य मानों कोई बिलकुल साधारण विद्यार्थी हों जिनको इस बातका भी बोध नहीं है कि गुण शब्द या अर्थके धर्म नहीं हैं। पर ऐसी बात नहीं है। काव्यप्रकाशकार भी जानते हैं कि गुण रसके धर्म होते हैं। फिर भी गौणरूपसे शब्द और अर्थके साथ भी उनका सम्बन्ध हो सकता है। अष्टम उल्लासमें 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।' लिखकर मम्मटाचार्यने गौणीवृत्तिसे शब्द तथा अर्थके साथ भी गुणोंके सम्बन्धका प्रतिपादन किया है और उसी दृष्टिसे यहाँ 'शब्दार्थौ'के विशेषणरूपमें 'सगुणौ' पदका प्रयोग किया गया है। इसलिए विश्वनाथने अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करनेके लिए काव्यप्रकाशकारपर जो यह पङ्कप्रक्षेप किया है वह सब केवल उनका अकाण्ड-ताण्डवमात्र है।

रसगङ्गाधरकार-कृत आलोचना

'काव्यप्रकाश'के इस काव्यलक्षणपर न केवल विश्वनाथने, अपितु रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथने भी कुछ आपत्ति उठायी है। परन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथसे बिलकुल भिन्न है। विश्वनाथने लक्षणके केवल विशेषणभागका खण्डन किया है, विशेष्य-भाग अर्थात् 'शब्दार्थौ' पदपर कोई आक्षेप नहीं किया है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथने लक्षणके केवल विशेष्यांश 'शब्दार्थौ' पदपर आपत्ति उठायी है, विशेषण-भूत 'अदोषौ', 'सगुणौ' आदि पदोंपर कोई आक्षेप नहीं किया है। 'शब्दार्थौ' पदपर पण्डितराजको यह आपत्ति है कि काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनोंकी समष्टिमें नहीं रहता है और न दोनोंकी व्यष्टिमें अलग-अलग काव्यत्व रहता है। अपितु केवल शब्दमें ही काव्यत्व रहता है। उन्होंने लिखा है—

[1]'यत्तु प्राञ्चः (काव्यप्रकाशकारादयः) ० ० ० शब्दार्थौ काव्यमित्याहुः, तत्र विचार्यते— ० ० ० अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं (व्यासज्यवृत्ति) प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः, एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् पद्ये काव्य-द्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।'

१. 'रसगङ्गाधर', पृष्ठ ५।

अर्थात् जो काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनोंको काव्य कहते हैं उसके विषयमें यह विचार करना है कि वह काव्यत्व शब्द तथा अर्थ दोनोंमें 'व्यासज्य-वृत्ति' अर्थात् दोनोंमें मिलकर रहनेवाला धर्म है अथवा 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् एक-एकमें अलग भी रह सकता है। इनमेंसे पहिला अर्थात् 'व्यासज्य-वृत्ति'वाला पक्ष नहीं बन सकता है; क्योंकि उस दशा में 'एको न द्वौ' इस व्यवहारके समान यह श्लोक-वाक्य तो है परन्तु काव्य नहीं है इस प्रकारका व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थोंमें रहनेवाली द्वित्व-संख्या दोनोंमें मिलकर ही रहती है, अलग-अलग नहीं। इसलिए द्वित्व-संख्या उन दोनों पदार्थोंका व्यासज्य-वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं तभी 'द्वौ'—'ये दो हैं' इस प्रकारका व्यवहार होता है और जब उनमेंसे एक ही पदार्थ उपस्थित होता है उस समय 'यह दो नहीं, एक है' इस प्रकारका व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'यह श्लोक-वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा। इसलिए काव्यत्वको 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काव्यत्वको 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनोंमें अलग-अलग रहनेवाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि उस दशामें एक ही श्लोक-वाक्यमें शब्द और अर्थ दोनोंकी दृष्टिसे दुहरा काव्यत्व आ जायगा। इसलिए एक पद्यमें दो काव्योंका व्यवहार होने लगेगा। इसलिए शब्द तथा अर्थमें न 'व्यासज्य-वृत्ति' काव्यत्व बनता है, न 'प्रत्येक-पर्याप्त'। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है। यह पण्डितराज जगन्नाथका सिद्धान्त है। इसीलिए उन्होंने—

[1]"रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'

इस प्रकार काव्यका लक्षण किया है।

नागेशभट्टकृत पण्डितराजकी प्रत्यालोचना

परन्तु उनका यह खण्डन उनके ही टीकाकार नागेशभट्टको उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए 'रसगङ्गाधर'की इसी स्थलकी टीकामें 'नोचिता' इस प्रतीकको लेकर उन्होंने लिखा है—

"आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितम्, काव्यं श्रुतम्, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' ५,२,५९ इति सूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः सङ्गच्छते। लक्षणयान्यतरस्मिन्नपि तत्त्वात् 'एको न द्वौ' इतिवत् न तदापत्तिः। तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।"

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्वका प्रयोजक जो 'रसास्वादव्यञ्जकत्व' है वह शब्द तथा अर्थ दोनोंमें समानरूपसे रहता है। काव्यको पढ़ा, काव्यको सुना और काव्यको समझा इस प्रकारका व्यवहार भी दिखलायी देता है, इससे शब्द तथा अर्थ दोनोंकी काव्यता प्रतीत होती है, केवल शब्द या केवल अर्थकी नहीं और काव्यप्रकाशोक्त अनुपहसनीय काव्यका नियामक 'चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयत्वावच्छेदकधर्मत्व' रूप काव्य-लक्षण शब्द तथा अर्थ दोनोंमें रहता है, एकमें नहीं। इसलिए काव्यत्वको 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी दशामें, अर्थात् काव्यत्वको व्यासज्य-वृत्ति धर्म माननेपर ही, 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनि-सूत्रके 'महाभाष्य'में भाष्यकार पतञ्जलि मुनिने वेदत्व आदिको जो व्यासज्य-वृत्ति धर्म माना है उसकी सङ्गति लगती है। इस प्रकार काव्यत्व

१. 'रसगङ्गाधर', पृष्ठ ४।

मुख्यरूपसे 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म है परन्तु लक्षणासे केवल शब्द अथवा केवल अर्थमें भी काव्यत्व माना जा सकता है। इसलिए 'एको न द्वौ'के समान 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इस प्रकारके व्यवहारका कोई अवसर नहीं आता है। फलतः 'काव्यप्रकाश'के अनुसार शब्द तथा अर्थ दोनोंको काव्य माननेमें कोई बाधा नहीं है यह 'रसगङ्गाधर'के टीकाकार नागेशभट्टका अभिप्राय है।

न केवल नागेश, अपितु पण्डितराज जगन्नाथको छोड़कर प्रायः सभी आचार्योंने शब्द और अर्थ दोनोंको ही काव्य माना है। इस विषयमें विभिन्न आचार्योंके निम्नलिखित वचन उद्धृत किये जा सकते हैं—

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा [भामह १, १६]
२ काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते [वामन १, १]
३ शब्दार्थौ काव्यम् [रुद्रट—काव्यालङ्कार २, १]
४ अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् [हेमचन्द्र पृ० १६]
५ शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम् [वाग्भट पृ० १४]
६ गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ [विद्यानाथ—प्रतापरुद्र पृ० ४२]
७ शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः [विद्याधर—एकावली पृ० १, १३]

इस प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनोंमें काव्यत्व माननेवाला मत ही बहुजन-समादृत मत है। अतएव पण्डितराज जगन्नाथने जो उसका खण्डन किया है वह उपादेय नहीं है।

'अनलंकृती पुनः क्वापि' अर्थात् कहीं स्फुटालङ्कार-रहित शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं, इसे दिखलानेके लिए काव्यप्रकाशकारने जो 'यः कौमारहरः' इत्यादि श्लोक उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया है उसका समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है कि यहाँ कोई अलङ्कार स्पष्ट नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि उसमें खींचातान करके 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' जैसे अलङ्कार निकालनेका प्रयत्न उचित नहीं है। अतएव विश्वनाथने यहाँ 'विभावना' 'विशेषोक्ति' मूलक सन्देह-सङ्कर अलङ्कार सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया, वह ठीक नहीं है। 'हरो वरः' इस प्रकारका अनुप्रासरूप शब्दालङ्कार भी प्रकृत शृङ्गार रसके विरोधी वर्ण रेफसे घटित होनेके कारण अलङ्कार कहलाने योग्य नहीं है।

'रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता' 'काव्यप्रकाश'की इस पंक्तिका अभिप्राय यह है कि—जहाँ रस स्वयं प्रधान न होकर अन्य किसीका अङ्ग बन जाता है वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकारके रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार अलग माने गये हैं। इनमेंसे भी कोई अलङ्कार यहाँ नहीं है। क्योंकि यदि रस यहाँ प्रधान न होकर किसी अन्यका अङ्ग होता तब तो इसमें 'रसवत्'-अलङ्कार हो सकता था। परन्तु यहाँ तो रस किसी अन्यका अङ्ग नहीं, अपितु स्वयं प्रधानरूपसे अनुभूत हो रहा है इसलिए 'रसवदलङ्कार' भी नहीं है। अतएव 'अनलंकृती पुनः क्वापि'का यह उदाहरण ठीक बन जाता है यह काव्यप्रकाशकारका अभिप्राय है।

२. भामहका काव्य-लक्षण

मम्मटके पूर्ववर्ती आचार्योंमेंसे साहित्यशास्त्रके भीष्मपितामह 'भामह'का काव्य-लक्षण सबसे अधिक प्राचीन है। उन्होंने—

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।' १, १६।

यह काव्यका लक्षण किया है। यह लक्षण जितना ही प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनोंके सहभावको काव्य माना है। वे सहभाव या 'सहितौ' शब्दका क्या अर्थ लेते हैं इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है। पर उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचनामें वर्णित अर्थके अनुरूप शब्दोंका प्रयोग हो या शब्दोंके अनुरूप अर्थका वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पदसे विवक्षित हैं। वही शब्द और अर्थका 'साहित्य' है।

३. दण्डीका काव्य-लक्षण

भामहके बाद 'काव्यादर्श'के निर्माता "दण्डी'का स्थान माना जाता है। दण्डीने पूर्वके आचार्योंका उल्लेख करते हुए लिखा है—

[1]"अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥
तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।'

अर्थात् प्रजाजनोंकी व्युत्पत्तिको ध्यानमें रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानोंने विचित्र मार्गोंसे युक्त काव्यवाणीके रचनाके प्रकारोंका वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने काव्यके शरीर तथा उसके अलङ्कारोंका वर्णन किया है।

यहाँतक डेढ़ कारिकामें दण्डीने पूर्व आचार्योंके मतकी चर्चा की है। उनका सङ्केत यहाँ मुख्य रूपसे 'भामह'की ओर ही है। 'भामह'के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस लक्षणमें काव्यके शब्द और अर्थमय 'शरीर'का निर्देश है और आगे ग्रन्थमें उसके अलङ्कारोंका वर्णन किया गया है। इस प्रकार 'तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।' यह पंक्ति स्पष्टरूपसे 'भामह'की ओर संकेत कर रही है। भामहके इस लक्षणमें आये हुए 'सहितौ' पदकी कोई व्याख्या नहीं की गयी थी। इस कमीको पूरा करनेका प्रयत्न 'दण्डी'ने किया है—

[2]'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली ॥'

यही दण्डीका काव्य-लक्षण है। इष्ट अर्थात् मनोरम हृदयाह्लादक अर्थसे युक्त पदावली—शब्द-समूह—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्यका शरीर है। इस प्रकार 'भामह' और 'दण्डी' दोनोंने काव्यके शरीर तथा अलङ्कारोंकी चिन्ता की है, पर उसकी आत्माका विचार नहीं किया है।

३. वामनका काव्य-लक्षण

दण्डीके बाद 'वामन'का लक्षण सामने आता है। वामनने भामह और दण्डीके उक्त काव्य-शरीरमें प्राणप्रतिष्ठा करनेका प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्यके शरीरकी चिन्ता न करके उसके आत्माका अनुसन्धान करनेका प्रयत्न किया है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' [काव्यालङ्कारसूत्र १, २, ६] यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। अर्थात् वे 'रीति'को काव्यकी 'आत्मा' मानते हैं और 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', 'सौन्दर्यमलङ्कारः' आदि सूत्रोंमें काव्यके सौन्दर्यधायक अलङ्कारोंको काव्यकी ग्राह्यता एवं उपादेयताका प्रयोजक मानते हैं।

४. आनन्दवर्धनका मत

भामह और दण्डीने काव्यके शरीरकी चर्चा की थी इसलिए आत्माका कोई प्रश्न उनके सामने

१-२. 'काव्यादर्श', १, ९-१०।

न था। वामनने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर काव्यकी 'आत्मा' क्या है, एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए अगले विचारक आनन्दवर्धनाचार्यके सामने काव्यकी आत्माके निर्धारण करनेका प्रश्न, काव्य-प्रश्न बन गया। रीतियोंको वे केवल 'सङ्घटना' या अवयव-संस्थानके समान ही मानते हैं, उनको काव्यकी 'आत्मा' वे नहीं मानते हैं। इसलिए उन्होंने 'ध्वनि'को काव्यकी आत्मा माना है और वह भी अपने मतसे ही नहीं, अपितु प्राचीन अलिखित परम्पराके आधारपर वे 'ध्वनि'को ही काव्यकी आत्मा माननेके पक्षमें हैं। इस विषयमें कुछ लोगोंने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हींके निराकरणके लिए उन्हें 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखनेकी आवश्यकता पड़ी।

[१]काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्यके मतसे 'ध्वनि' ही काव्यका जीवनाधायक तत्त्व है। उसके विना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देहके समान त्याज्य हैं। ध्वनि-रूप आत्माकी प्रतिष्ठा होनेपर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं।

५. राजशेखरका मत

पिछले आचार्योंने काव्यके शरीर, आत्मा, अलङ्कार आदिका जो यह रूपक बाँधा था इसकी पृष्ठ-भूमिमें उन्होंने एक 'काव्यपुरुष'की कल्पना की थी जो बहुत स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर राजशेखरने इस 'काव्यपुरुष' की कल्पनाको एकदम स्पष्ट और मूर्त रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने 'काव्यपुरुष'का वर्णन करते हुए लिखा है—

"शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तर-प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति[२]।"

ध्वनिकारने ध्वनिको काव्यकी 'आत्मा' माना था। राजशेखरने उस आत्मतत्त्वको और अधिक निश्चितरूप देनेके लिए वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनिको छोड़कर केवल रसको काव्यका आत्मा माना है।

६. कुन्तकका काव्य-लक्षण

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकने इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्पष्टरूपसे काव्यका लक्षण करनेका प्रयत्न किया है।

[३]शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

कुन्तकके इस लक्षणमें पूर्वोक्त सभी लक्षणोंका सारांश प्रायः आ जाता है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' यह भामहका लक्षण कुन्तकके इस लक्षणमें स्पष्टरूपसे ही समाविष्ट हो गया है। 'तद्विदाह्लाद-

१. 'ध्वन्यालोक', १, १।
२. 'काव्यमीमांसा', पृष्ठ १३-१४।
३. 'बक्रोक्तिजीवित', १-७।

कारिणि बन्धे व्यवस्थितौ'से दण्डीकी 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' तथा वामनकी 'रीति' दोनोंका समावेश हो जाता है। 'वक्र-कविव्यापारशालिनि'से ध्वन्यालोककारके व्यञ्जना-व्यापार-प्रधान 'ध्वनि' तथा राजशेखरके 'रस' दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार कुन्तकने मानों पूर्ववर्ती सभी आचार्योंके काव्य-लक्षणोंका निचोड़ अपने इस लक्षणमें समाविष्ट कर दिया है। फिर भी अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है। क्योंकि 'सहितौ' पदका स्पष्टीकरण न भामहके लक्षणमें हुआ था और न यहाँ हुआ है। अतएव शब्द और अर्थके इस 'साहित्य'का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

[1]"शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते॥
साहित्यमनयोः, शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥'

यहाँ पहिले यह शंका उठायी है कि शब्द और अर्थ तो प्रतीतिमें सदा साथ-साथ ही भासते हैं फिर 'सहितौ' पदसे आप उनमें कौन-सी विशेषता दिखलाना चाहते हैं? इस शंकाका उत्तर देते हुए कुन्तक यह कहते हैं कि शब्द और अर्थके 'साहित्य'का अभिप्राय काव्य-सौन्दर्यके लिए उनकी 'न्यूनता या अधिकतासे रहित' मनोहर स्थिति होना चाहिये। उसीको शब्द और अर्थका 'साहित्य' कहते हैं।

इस प्रकार कुन्तकने काव्यलक्षणको अधिक विस्तारके साथ स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

७. क्षेमेन्द्रका मत

साहित्यशास्त्रके इतिहासमें जिस प्रकार वामन अपने 'रीति-सिद्धान्त'के लिए, आनन्दवर्धन अपने 'ध्वनि-सिद्धान्त'के लिए और कुन्तक अपने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त'के लिए प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने 'औचित्य-सिद्धान्त'के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'औचित्य'को ही काव्यका 'जीवित' माना है। अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थमें वे लिखते हैं—

[2]काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥

८. विश्वनाथका काव्य-लक्षण

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य'को काव्य मानते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह उनका काव्य-लक्षण है।

मम्मटके काव्य-लक्षणकी विशेषता

काव्यप्रकाशकार मम्मटका 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' यह काव्य-लक्षण अन्य लक्षणोंकी अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। कुन्तकने जिस बातको कई कारिकाओंमें कहा है मम्मटने इस आधी कारिकामें ही उसको समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' पद

१. 'वक्रोक्तिजीवित', १-१६, १७।
२. 'औचित्यविचारचर्चा', ४, ५।'

तद्भेदान् क्रमेणाह—

[सू० २] **इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥**

इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य

जोड़कर उन्होंने काव्य-लक्षणका नया दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन लक्षणोंमें इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था । पूर्वलक्षणकारोंने काव्यके शरीर 'शब्द तथा अर्थ', उसकी आत्मा रीति, रस या ध्वनि उसके अलङ्कारोंकी चर्चा तो अपने लक्षणोंमें की थी, परन्तु गुणदोषकी चर्चा नहीं की थी । मम्मट इस दोष तथा गुणके प्रश्नको सामने लाये हैं और वह बड़ा आवश्यक प्रश्न है । कितना ही सुन्दर काव्य हो पर उसमें यदि एक भी उत्कट दोष आ जाता है तो वह उसके गौरवको कम कर देता है ।

यों तो महाकवि कालिदासने—

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।'

कहकर चन्द्रमाके सौन्दर्यके भीतर उसके कलङ्कके दब जानेकी बात कही है । उनके अनुसार चन्द्रमाका कलङ्क कितना ही दब गया हो परन्तु देखनेवालेको वह सबसे पहिले खटकता है । इसी प्रकार काव्यका दोष उसके गौरवको कम करनेवाला हो जाता है । इसलिए मम्मटने गुण और अलङ्कारोंकी चर्चा करनेसे पहिले दोषकी चर्चा की है—

'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम् ।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा ॥'

शरीरके संस्कारमें भी पहिले दोषापनयनरूप संस्कार करनेके बाद ही गुणाधानरूप संस्कार किया जाता है, तब उसके बाद अलङ्कार आदिका नम्बर आता है । वह अगर न भी हो तो भी दोषापनयन तथा गुणाधानरूप संस्कार तो अपरिहार्य हैं । उनके बिना काम नहीं चलता है । इसीलिए मम्मटने काव्यके शरीरभूत शब्दार्थके 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणों द्वारा इस द्विविध संस्कारकी अपरिहार्यताका प्रतिपादन किया है और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कारकी गौणताको सूचित किया है । इस प्रकार थोड़े शब्दोंमें भाव-गाम्भीर्यके द्वारा मम्मटने अपने काव्यलक्षणको अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है ।

काव्य-भेद : १. ध्वनि-काव्य

इस प्रकार काव्यका लक्षण करनेके बाद काव्यप्रकाशकार उसके मुख्य तीन भेदोंका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं ।

[काव्यके प्रयोजन, उसके साधन तथा उसके लक्षणके निरूपणके बाद अब] क्रमसे [अवसरप्राप्त] उसके भेदोंको कहते हैं—

[सू० २]—वाच्य [अर्थ] की अपेक्षा व्यङ्ग्य [अर्थ] के अधिक चमत्कारयुक्त होनेपर [इदं] काव्य उत्तम होता है, और विद्वानोंने उसको 'ध्वनि' [-काव्य नामसे] कहा है ॥४॥

'इदं' यह पद [यहाँ] काव्यका बोधक है । 'बुध' अर्थात् वैयाकरणोंने प्रधानभूत 'स्फोट' रूप व्यङ्ग्यकी अभिव्यक्ति करानेमें समर्थ शब्दके लिए 'ध्वनि' इस पदका प्रयोग किया था । उसके बाद उनके मतका अनुसरण करनेवाले अन्यों [अर्थात् साहित्यशास्त्रके आचार्यों] ने भी वाच्यार्थको गौण बना

ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्य-व्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

देनेवाले व्यङ्ग्यार्थकी अभिव्यक्ति करानेमें समर्थ शब्द तथा अर्थ दोनोंके लिए [ध्वनि' पदका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया]।

'ध्वनि' नामका मूल आधार

यहाँ ग्रन्थकारने जो पंक्तियाँ लिखी हैं उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग मुख्यरूपसे वैयाकरणोंने किया था और साहित्यशास्त्रमें आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्योंने व्याकरणशास्त्रके इस 'ध्वनि' शब्दको अपना लिया है। इस शब्द-प्रयोगको अपना लेनेका कारण यह था कि व्याकरणशास्त्रमें प्रधानभूत 'स्फोट' की अभिव्यक्ति शब्दसे होती है इसलिए 'ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'स्फोट'के अभिव्यञ्जक शब्दोंके लिए 'ध्वनि' पदका प्रयोग किया गया था। इसीके आधारपर ध्वनिवादी आचार्योंने भी वाच्यार्थको दबा सकनेमें समर्थ जो व्यङ्ग्य अर्थ उसको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द तथा अर्थके लिए 'ध्वनि' इस पदका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ वैयाकरणोंके जिस 'ध्वनि'पदके प्रयोगकी ओर ग्रन्थकार संकेत कर रहे हैं वह महाभाष्यमें आया है। उसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—

[1]"अथ शब्दानुशासनम् ।... अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। किं यत्तत् सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाण्यर्थरूपं स शब्दः? नेत्याह, द्रव्यं नाम तत् ।... कस्तर्हि शब्दः। येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके 'ध्वनिः' शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं मा कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति। ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् 'ध्वनिः' शब्दः।

इसमें 'ध्वनि'को शब्द कहा गया है। परन्तु स्फोटरूप व्यङ्ग्यके अभिव्यक्त करनेवाले शब्दके लिए ध्वनि पदका प्रयोग हुआ है यह बात इस पंक्तिसे नहीं निकलती है। फिर भी व्याकरणशास्त्रमें अन्य स्थानोंपर स्फोट-सिद्धान्तकी कल्पना की गयी है और उस 'स्फोट'की अभिव्यक्ति श्रोत्र-ग्राह्य वर्ण या ध्वनिसे ही होती है। इसलिए ग्रन्थकारने उक्त आशयकी पंक्ति लिखी है। इस विषयको और अधिक स्पष्टरूपसे समझनेके लिए स्फोट-सिद्धान्तको समझना आवश्यक है। इसलिए संक्षेपमें उसका विवरण नीचे दे रहे हैं।

स्फोटवाद

'स्फोटवाद' वैयाकरणोंका प्रमुख सिद्धान्त है। 'स्फोट' शब्दकी व्युत्पत्ति 'स्फुटति अर्थः यस्मात् स स्फोटः' इस प्रकार की जाती है। अर्थात् जिससे अर्थकी प्रतीति हो उसको 'स्फोट' कहते हैं। यह 'स्फोट' पद-स्फोट, वर्ण-वाक्य-स्फोट आदि भेदसे आठ प्रकारका होता है। 'पदस्फोट'से पदार्थकी तथा वाक्य-स्फोटसे वाक्यार्थकी प्रतीति होती है। गकार, औकार, विसर्जनीयके योगसे मिलकर बना हुआ जो 'गौः' पद गायका बोध कराता है, वह श्रोत्रसे सुनायी देनेवाली ध्वनि नहीं, उससे व्यक्त मानस 'स्फोट' है। क्योंकि श्रोत्रसे सुनायी देनेवाली ध्वनि तो क्षणिक और अस्थिर है। एक ध्वनिके उच्चारणके वाद जबतक दूसरी ध्वनिका उच्चारण किया जाता है तबतक पहिला ध्वनि-रूप वर्ण नष्ट हो जाता है इसलिए अनेक वर्णोंके समुदायरूप पदकी उपस्थिति एक साथ नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनेक

---

1. 'महाभाष्य', प्रथमाह्निक, पृष्ठ ७।

यथा—

नि:शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।। २ ।।

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते ।।४।।

पदोंके समुदायरूप वाक्यकी भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती है । तब पदार्थ या वाक्यार्थकी प्रतीति कैसे होती है इस प्रश्नका समाधान करनेके लिए वैयाकरणोंने 'स्फोट-सिद्धान्त'की कल्पना की है । उनका अभिप्राय यह है कि पूर्वपूर्व वर्णके अनुभवसे एक प्रकारका संस्कार उत्पन्न होता है । उस संस्कारसे सहकृत अन्त्य वर्णके श्रवणसे तिरोभूत वर्णोंको भी ग्रहण करनेवाली एक मानसिक पदकी प्रतीति उत्पन्न होती है । इसीका नाम 'पदस्फोट' है । अर्थकी प्रतीति इस 'पदस्फोट'के द्वारा ही होती है, श्रोत्रसे गृहीत शब्द या ध्वनिसे नहीं; क्योंकि उस रूपमें तो अनेक वर्णोंके समुदायरूप पदकी स्थिति ही नहीं बन सकती है ।

इसी प्रकार 'पूर्व-पूर्व-पदानुभवजनितसंस्कारसहकृत-अन्त्य-पद-श्रवण'से सदसद् अनेक पदावगाहिनी मानसी वाक्य-प्रतीति होती है, वैयाकरण उसको 'वाक्य-स्फोट' कहते हैं । इस 'वाक्य-स्फोट'से वाक्यार्थकी प्रतीति होती है । वर्ण-ध्वनिसे वर्ण-स्फोटकी अभिव्यक्ति होती है ।

नैयायिक 'स्फोट'को नहीं मानते हैं । इसका कारण यह है कि वैयाकरणोंका यह 'स्फोट' नित्य है । इसी 'स्फोट'को लेकर वे शब्दको नित्य बतलाते हैं । नैयायिकके मतसे शब्द अनित्य है और स्फोटकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है । वे केवल 'सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति' तथा 'सदसदनेकपदावगाहिनी वाक्य-प्रतीति' मानते हैं । पर उसे 'स्फोट' नहीं कहते हैं और न नित्य मानते हैं ।

इस 'स्फोट'की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि-रूप शब्दसे होती है । इसलिए जैसे वैयाकरणोंने अपने यहाँ प्रधानभूत 'स्फोट'के अभिव्यञ्जक शब्दके लिए 'ध्वनि' पदका प्रयोग किया है उसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द तथा अर्थके लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदिने 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग साहित्यशास्त्रमें किया है यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

[ध्वनि-काव्यका उदाहरण] जैसे—

तुम्हारे स्तनके अग्रभागका चन्दन बिलकुल छूट गया है । [यदि स्नानसे यह चन्दन छूटता तो केवल अग्रभागका ही नहीं, सारे स्तनका छूटता । यह जो ऊपर उठे हुए अग्रभागका ही चन्दन छूटा है, वह निश्चय परपुरुषके आलिङ्गनसे ही छूटा है ।] अधरका राग बिलकुल छूट गया है, आँखोंका अंजन अत्यन्त पुँछ गया है और तुम्हारा यह कृश शरीर रोमाञ्चयुक्त हो रहा है । अपनी सखीकी [बान्धवरूप मेरी] पीड़ाको न समझनेवाली और झूठ बोलनेवाली अरी दूती तू यहाँसे बावली नहाने गयी थी और उस अधम [नायक] के पास नहीं गयी ॥२॥

यहाँ [कहनेवाली भी जानती है कि यह नायकके साथ भोग करके आयी है और जिससे कहा जा रहा है वह तो जानती ही है । इसलिए वक्ता तथा बोद्धाके वैशिष्टयसे तू] उसीके पास गयी थी, और रमण करनेके लिए ही गयी थी, यह बात विशेषकर 'अधम' पदसे अभिव्यक्त होती है । [इसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त है इसलिए ग्रन्थकारने इसको उत्तम-काव्य या ध्वनि-काव्यके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है] ॥४॥

[सू० ३] **अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।**

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥३॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

[सू० ४] **शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥**

काव्य-भेद : २. गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य

इस प्रकार ध्वनि-काव्यका लक्षण तथा उदाहरण दे चुकनेके बाद काव्यके 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक दूसरे भेदका लक्षण करके उसका उदाहरण आगे देते हैं—

[सू० ३] उस प्रकारके [अर्थात् वाच्यसे अधिक चमत्कारी] व्यङ्ग्य [अर्थ] न होनेपर [गुणीभूतव्यङ्ग्य [नामक दूसरे प्रकारका काव्य] होता है जो मध्यम [काव्य कहा जाता] है ।

[अतादृशि] वैसा न होनेपर अर्थात् [व्यङ्ग्यार्थके] वाच्यसे अधिक उत्तम न होनेपर ['गुणीभूत-व्यङ्ग्य-काव्य होता है] जैसे—

वेतस-वृक्षकी ताजी तोड़ी हुई मञ्जरीको हाथमें लिये ग्रामके नवयुवकको देख-देखकर तरुणीके मुखकी कान्ति मलिन होती जा रही है ॥३॥

यहाँ अशोक या वेतसके [वञ्जुलः पुंसि तिनिशे वेतसाशोकयोरपि] लता-गृहमें [ग्राम-तरुणके साथ मिलनेका] संकेत देकर [घरके काममें लग जाने अथवा अन्य लोगोंकी उपस्थितिके कारण निकलनेका समय न मिलनेसे तरुणी नियत समयपर वहाँ] नहीं आयी [और ग्रामतरुण समयपर पहुँच गया; उसको देखकर तरुणीकी मुख-कान्ति मलिन हो रही है] यह व्यङ्ग्य, वाच्यके ही उस [व्यङ्ग्य] की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होनेसे, गुणीभूत हो गया है । [इसलिए यह गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है] ॥३॥

'ग्रामतरुण' इस पदसे यह भी व्यक्त होता है कि ग्राममें एक ही तरुण है, अनेक युवतियों द्वारा प्रार्थ्यमान होनेसे उसका दुबारा जल्दी मिलना कठिन है । इसलिए पश्चात्तापका अतिशय सूचित होता है । यहाँ व्यङ्ग्य अर्थकी अपेक्षा वाच्य अर्थके ही अधिक चमत्कारी होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्यका यह उदाहरण दिया है ।

वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों जहाँ समान स्थितिमें हों, वहाँ भी व्यङ्ग्यके वाच्यातिशायी न होनेके कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य ही होता है । उसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया है । पञ्चम उल्लासमें जहाँ 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'का विस्तारके साथ विवेचन किया जायगा, वहाँ वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनोंके 'तुल्य-प्राधान्य'का उदाहरण भी दिया जायगा ।

काव्य-भेद : ३. चित्र-काव्य

इस प्रकार काव्यके ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप उत्तम तथा मध्यम भेदोंके लक्षण एवं उदाहरण यहाँ तक दिखलाये । आगे काव्यके तीसरे भेद 'चित्र-काव्य'का लक्षण तथा उदाहरण दिखलाते हैं—

[सू० ४]—व्यङ्ग्य [अर्थ] से रहित 'शब्द-चित्र' तथा 'अर्थ-चित्र' [दो प्रकारका] अधम [काव्य] कहा गया है ॥५॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् । अवरम् अधमम् । यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥

[1]विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥५॥

चित्र [नाम] गुण तथा अलङ्कारसे युक्त [होनेसे] है । अव्यङ्ग्य [का अभिप्राय] स्पष्टरूपसे [प्रतीयमान] व्यङ्ग्य अर्थसे रहित [काव्य] है । अवर [का अर्थ] अधम है । [शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र—दोनोंके उदाहरण देते हैं] जैसे—

['मन्दाकिनी वः मन्दताम् अह्नाय भिद्यात्' यह इस श्लोकका मुख्य वाक्य है, शेष सब मन्दाकिनीके विशेषण हैं । इसलिए श्लोकका भावार्थ यह हुआ कि] गङ्गा तुम्हारी मन्दता अर्थात् अज्ञान या पापको अह्नाय अर्थात् झटिति तुरन्त ही दूर करे । [किस प्रकारकी मन्दाकिनी कि—] स्वच्छन्दरूपसे उछलती हुई, अच्छ अर्थात् निर्मल और [कच्छ-कुहर] किनारेके गड्ढोंमें [छात दुर्बल, छातेतर] अत्यन्त वेगसे प्रवाहित होनेवाली जो जलकी धारा [अम्बुच्छटा] उससे जिनके मोह अज्ञानका [मूर्च्छा] नाश हो गया है ऐसे महर्षियोंके द्वारा जिसमें आनन्दपूर्वक स्नान तथा आह्निक [सन्ध्या-वन्दन आदि] कार्य किये जा रहे हैं [इस प्रकारकी मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता, अज्ञान अथवा पापादिको दूर करे । इस विशेषणसे मन्दाकिनीके महर्षिजनसेव्यत्वका प्रतिपादन कर अन्य तीर्थोंकी अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया है । आगे अन्य नदियोंसे उसकी श्रेष्ठता दिखलाते हैं । उद्यन्तः प्रकाशमाना उदारा महान्तो दुर्दुरा भेका यासु एवंविधा दर्यः कन्दरा यस्यां सा] जिनमें बड़े-बड़े मेढक दिखलायी पड़ रहे हैं इस प्रकारकी कन्दराओंसे युक्त, और दीर्घकाय एवं अदरिद्र अर्थात् [बड़े ऊँचे तथा शाखा, पत्र-पुष्प आदिसे लदे हुए] जो वृक्ष उनके गिराने [द्रोह] के कारण ऊपर उठनेवाली बड़ी-बड़ी लहरोंसे [मेदुरमदा] अत्यन्त गर्वशालिनी गङ्गा तुम्हारे पाप या अज्ञान आदिको तुरन्त नष्ट करे । उसमें कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है केवल शब्दोंका अनुप्रास-जन्य चमत्कार है । अतः चित्र काव्य है ॥

यह 'शब्दचित्र'का उदाहरण है । अर्थचित्रका उदाहरण आगे देते हैं—

[शत्रूणां मानम् अभिमानम् द्यति खण्डयति, मित्रेभ्यो मानमादरं ददाति वा इति मानदः] शत्रुओंके अभिमानको चूर करनेवाले जिस [हयग्रीव] को यों ही घूमनेके लिए [युद्ध या अमरावतीपर विजय करनेके लिए नहीं] अपने महलसे निकला हुआ सुनकर भी घबड़ाये हुए इन्द्रके द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है इस प्रकारकी [इन्द्रकी राजधानी] अमरावती [नगरीरूप नायिका] ने भयसे [द्वाररूप अपनी] आँखें बन्द-सी कर लीं ।

यहाँ 'भिया निमीलिताक्षीव अमरावती जाता' अर्थात् अमरावतीने मानों डरके मारे आँखें बन्द कर ली हों यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है । इस उत्प्रेक्षामें ही कविका प्रधानरूपसे तात्पर्य है । इसलिए

---

१. मेण्ठ-कवि-कृत 'हयग्रीववध-नाटक' ।

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूपविशेष-निर्णयो नाम प्रथम उल्लासः

यद्यपि वीररसकी प्रतीति हो सकती है परन्तु उसमें कविका तात्पर्य न होनेसे इसको चित्र-काव्यमें स्थान दिया गया है। परन्तु अर्थचित्रका यह उदाहरण कुछ ठीक नहीं जँचता है। यहाँ वीररसकी प्रतीति होती है, जिसमें हयग्रीव स्वयं 'आलम्बन-विभाव', प्रतिपक्षी इन्द्रगत भय 'उद्दीपन-विभाव', मानका खण्डन 'अनुभाव' और यदृच्छा-सञ्चरणसे गम्य धृति 'व्यभिचारिभाव' है। इसलिए यह व्यङ्गच-रहित अधम 'चित्र-काव्य'का उदाहरण नहीं हो सकता है। यदि उत्प्रेक्षासे वीररस अभिभूत हो जाता है यह कहा जाय, तो इसको गुणीभूत-व्यङ्गचके उदाहरणमें अन्तर्भूत किया जा सकता है। अधमकाव्यकी श्रेणीमें रखकर कदाचित् इस श्लोकके साथ न्याय नहीं किया गया है।

सारांश

इस प्रकार इस प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकारने (१) मङ्गलाचरण, उसके बाद (२) काव्यके प्रयोजन, (३) काव्यके साधन, (४) काव्यका लक्षण तथा (५) काव्यके भेदोंका वर्णन किया है। काव्यके भेदोंका वर्णन करते हुए उन्होंने मुख्यरूपसे काव्यके तीन भेद किये हैं—१. ध्वनि-काव्य, २. गुणीभूत-व्यङ्गच-काव्य और ३. चित्र-काव्य। इनमेंसे 'ध्वनि-काव्य' उसको कहते हैं जिसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्गचार्थ अधिक चमत्कारयुक्त हो। इसके विपरीत जहाँ व्यङ्गचार्थकी अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक वा उसके तुल्य चमत्कारजनक होता है उसको 'गुणीभूत-व्यङ्गच-काव्य' कहते हैं, और जहाँ व्यङ्गचका सर्वथा अभाव होता है उसको 'चित्र-काव्य' कहते हैं। इनमेंसे ध्वनि-काव्य उत्तम, गुणीभूत-व्यङ्गच-काव्य मध्यम तथा चित्र-काव्य अधम श्रेणीमें गिना जाता है।

काव्यप्रकाशमें काव्यके प्रयोजन, कारण तथा स्वरूप-विशेष-का निर्णय नामक प्रथम उल्लास समाप्त हुआ।

श्रीमदाचार्य-विश्वेश्वर-सिद्धान्तशिरोमणिविरचितायां काव्यप्रकाशदीपिकायां हिन्दीव्याख्यायां प्रथम उल्लासः समाप्तः।

द्वितीय उल्लासः

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

[सू० ५] स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

अथ काव्यप्रकाश-दीपिकायां द्वितीय उल्लासः

उल्लास-सङ्गति

प्रथम उल्लासमें काव्यका लक्षण करते हुए ग्रन्थकारने शब्द तथा अर्थ दोनोंकी समष्टिको काव्य बतलाया था । इसलिए काव्यके इस लक्षणको समझनेके लिए शब्द तथा अर्थके स्वरूपका ज्ञान आवश्यक है । इसलिए ग्रन्थकार इस द्वितीय उल्लासमें शब्द तथा अर्थके स्वरूपका परिचय करानेका प्रयत्न कर रहे हैं । इस दृष्टिसे उन्होंने अपने इस द्वितीय उल्लासका नाम 'शब्दार्थस्वरूपनिर्णय' रखा है । उन्होंने वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थ माने हैं । उसीके अनुसार वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्द माने हैं । इन तीन प्रकारके शब्दोंसे तीनों प्रकारके अर्थोंकी प्रतीतिके लिए उन शब्दोंमें अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक तीन प्रकारकी शब्द-शक्तियाँ मानी हैं । इस उल्लासमें ग्रन्थकार तीन प्रकारके अर्थ, तीन प्रकारके शब्द और तीन प्रकारकी शब्द-शक्तियोंका वर्णन करेंगे । सबसे पहले तीन प्रकारके शब्दोंका निरूपण करते हैं ।

शब्दके तीन भेद

[काव्यका लक्षण हो जानेके बाद लक्षणमें आये हुए 'शब्दार्थौ'का विवेचन करनेके लिए] क्रमसे [अवसरप्राप्त] शब्द तथा अर्थके स्वरूपको कहते हैं—

[सू० ५]—यहाँ [काव्यमें] वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक [भेदसे] तीन प्रकारका शब्द होता है ।

'यहाँ' इससे 'काव्यमें' [यह अर्थ लेना चाहिये] । इन (वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक तीनों प्रकारके शब्दों] का स्वरूप [आगे] बतलाया जायगा ।

अन्य शास्त्रोंमें वाचक तथा लक्षक दो प्रकारके शब्द तो प्रायः माने गये हैं परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्दका निरूपण साहित्यशास्त्रको छोड़कर अन्य शास्त्रोंमें नहीं किया गया है । इसलिए कारिकामें 'अत्र' शब्दका विशेषरूपसे प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि अन्य शास्त्रोंमें व्यञ्जक-शब्द नहीं माना गया है परन्तु काव्यमें तो व्यञ्जक शब्दके बिना कोई चमत्कार ही न रह जायगा इसलिए यहाँ काव्यमें तीनों प्रकारके शब्द माने जाते हैं । इनमें वाचक शब्द मुख्यार्थका बोधक होता है इसलिए सबसे पहिले उसको रखा गया है । लाक्षणिक शब्द वाचक शब्दके ऊपर आश्रित रहता है इसलिए वाचकके बाद लाक्षणिक शब्दका स्थान आता है और व्यञ्जक शब्द इन दोनोंकी अपेक्षा रखता है इसलिए उसको तीसरे स्थानपर रखा गया है । उसमें भी विशेषरूपसे यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह तीन प्रकारका विभाग केवल शब्दकी उपाधियोंका है, शब्दोंका नहीं; क्योंकि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है या अमुक शब्द केवल व्यञ्जक है इस प्रकार कोई निश्चित विभाग शब्दोंमें नहीं पाया जाता है । एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है और लक्षक तथा व्यञ्जक भी । इसलिए यह तीन प्रकारका विभाग शब्दोंका नहीं, अपितु शब्दकी उपाधियोंका ही समझना चाहिये ? जिस प्रकार एक ही व्यक्ति

[सू० ६] वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

[सू० ७] तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥६॥

उपाधिके भेदसे कभी वाचक और कभी पाठक कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपाधियोंके भेदसे एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक कहा जा सकता है ।

अर्थके तीन भेद

जिस प्रकार उपाधिभेदसे शब्द तीन प्रकारके होते हैं उसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकारके होते हैं । उनको कहते हैं—

[सू० ६]—वाच्य [लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य] आदि उन [वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दों] के अर्थ [भी तीन प्रकारके] होते हैं ।

[वाच्यादिका अर्थ है] वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य ।

अर्थका चतुर्थ भेद—'तात्पर्यार्थ'

[सू० ७]—किन्हीं कुमारिलभट्टके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि ['अभिहितान्वयवादी' मीमांसकों] के मतमें [तीन प्रकारके वाच्यादि अर्थोंके अतिरिक्त चौथे प्रकारका] तात्पर्यार्थ भी होता है ॥६॥

भारतीय साहित्यमें शाब्दबोधका विवेचन व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा इन तीन शास्त्रोंमें विशेषरूपसे किया गया है । इनमेंसे व्याकरणशास्त्रमें पद-पदार्थोंका विवेचन है, इसलिए व्याकरणको 'पद-शास्त्र' कहते हैं । न्यायमें विशेषरूपसे प्रमाणोंका विवेचन किया गया है इसलिए न्यायको 'प्रमाण-शास्त्र' कहा जाता है । इसी प्रकार वाक्यार्थ-शैलीका विवेचन मीमांसामें विशेषरूपसे किया है, इसलिए मीमांसाको 'वाक्य-शास्त्र' कहा जाता है । शाब्दबोधमें इन तीनों शास्त्रोंकी आवश्यकता पड़ती है इसलिए शाब्दबोधमें निष्णात इन तीनों शास्त्रोंके पण्डितको 'पद-वाक्य-प्रमाणज्ञः' इस गौरवपूर्ण उपाधिसे विभूषित किया जाता है । यहाँ ग्रन्थकारने अर्थविवेचनके प्रसङ्गमें मीमांसकोंके सिद्धान्तको प्रदर्शित करनेके लिए 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' यह पंक्ति विशेषरूपसे लिखी है ।

मीमांसकोंमें भी वाक्यार्थके विषयमें कई मत पाये जाते हैं, जिनमें 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' दो मुख्य हैं । प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थ-सारथिमिश्र आदि 'अभिहितान्वयवाद'के माननेवाले हैं । इसके विपरीत प्रभाकर-गुरु और उनके अनुयायी शालिकनाथमिश्र आदि 'अन्विताभिधानवाद'के माननेवाले हैं ।

अभिहितान्वयवाद

अभिहितान्वयवादका अभिप्राय यह है कि पहिले पदोंसे पदार्थोंकी प्रतीति होती है । उसके बाद उन पदार्थोंका परस्परसम्बन्ध, जो पदोंसे उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ-मर्यादासे उपस्थित होता है । इसलिए पहिले पदोंके द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति द्वारा बोधित होते हैं, बादमें वक्ताके तात्पर्यके अनुसार उनका परस्पर अन्वय या सम्बन्ध होता है जिससे वाक्यार्थकी प्रतीति होती है । इस प्रकार वाक्यार्थ-बोधके लिए अभिहित पदार्थोंका अन्वय माननेके कारण कुमारिलभट्ट आदिका यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है । इस मतमें पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध पदोंसे नहीं, अपितु वक्ताके तात्पर्यके अनुसार होता है, इसलिए उसको 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं, वही वाक्यार्थ

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां' मतम् ।

कहलाता है और उसकी बोधक शक्तिको 'तात्पर्याख्या शक्ति' भी कहा जाता है, जो पहिले बतलायी हुई तीनों शक्तियोंसे भिन्न चौथी शक्ति मानी जा सकती है । परन्तु मीमांसक व्यञ्जना-शक्ति नहीं मानते हैं इसलिए उनकी दृष्टिसे तो यह चौथी नहीं, तीसरी ही शक्ति है ।

ग्रन्थकारने 'अभिहितान्वयवाद'के इसी सिद्धान्तका परिचय इस प्रकार दिया है—

जिन [पदार्थों] का स्वरूप आगे कहा जायगा ऐसे [पदों द्वारा अभिहित केवल] पदार्थोंका आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिके बलसे [समन्वय] परस्पर सम्बन्ध होनेमें पदोंसे प्रतीत होनेवाला अर्थ न होनेपर भी [तात्पर्यविषयीभूत अर्थ होनेके कारण] विशेष प्रकारका तात्पर्यरूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है यह 'अभिहितान्वयवादियों' [अर्थात् कुमारिलभट्टके अनुयायियों] का मत है ।

एक तो 'अभिहितान्वयवाद'का सिद्धान्त दार्शनिक विषय होनेके कारण वैसे ही क्लिष्ट है उसपर आचार्य मम्मटकी क्लिष्ट रचना-शैलीके कारण ये पंक्तियाँ और भी कठिन एवं दुरूह बन गयी हैं । 'आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशात्' इस वाक्य-खण्डको ग्रन्थकारने पहिले रखा है और 'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानाम्' इस वाक्यांशको बादमें रखा है । यह वाक्य-रचना अर्थको समझनेमें कुछ कठिनाई उपस्थित करती है । यदि इसके स्थानपर 'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानाम् आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशात् समन्वये' इस प्रकार का पाठ रखते तो अर्थका समझना अपेक्षाकृत सरल हो जाता । पंक्तियोंका आशय यह है कि पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध पदों द्वारा उपस्थित न होनेपर भी आकांक्षादिके बलसे भासता है । यही 'तात्पर्यार्थ' है और यही 'वाक्यार्थ' कहलाता है । इसीको पंक्तिमें 'तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति' इन शब्दोंसे कहा है ।

इस अनुच्छेदमें आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि शब्दोंका प्रयोग हुआ है । ये नये शब्द हैं इसलिए इनका अर्थ समझ लेना आवश्यक है । इनमेंसे 'आकांक्षा' वस्तुतः 'श्रोताकी जिज्ञासारूप' है । एक पदको सुननेके बाद वाक्यके अन्य पदोंके सुने बिना पूरे अर्थका ज्ञान नहीं होता है, इसलिए वाक्यके अगले पदके सुननेकी इच्छा श्रोताके मनमें उत्पन्न होती है । इसीका नाम आकांक्षा है । जिन पदोंके सुननेपर इस प्रकारकी आकांक्षा होती है उनके समुदायको ही वाक्य कहते हैं । आकांक्षासे रहित 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' आदि यों ही अनेक पद बोल देनेसे वाक्य नहीं बनता है । दूसरे 'योग्यता' पदका अभिप्राय 'पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें बाधाका अभाव' है । जहाँ पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें बाधा होती है उस पद-समुदायको वाक्य नहीं कहा जाता और न उससे वाक्यार्थबोध होता है । जैसे 'वह्निना सिञ्चति' इस पद-समुदायमें 'योग्यता' नहीं है अर्थात् अग्निसे सिंचाई नहीं की जा सकती है । इसलिए वह्नि तथा सिंचनके सम्बन्धमें बाधा होनेसे यहाँ योग्यताका अभाव है । इस कारण इसको वाक्य नहीं कहा जा सकता है । तीसरा 'सन्निधि' पद है, उसका अर्थ 'एक ही पुरुष द्वारा अविलम्बसे पदोंका उच्चारण करना' है । यदि एक ही व्यक्ति द्वारा घंटे-घंटेभर बादमें पदोंका अलग-अलग उच्चारण किया जाय तो वे सब मिलकर वाक्य नहीं कहला सकते हैं; क्योंकि उनमें 'आसत्ति' या सन्निधि' नहीं है । इसलिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिसे युक्त जो पदसमुदाय होता है वही वाक्य कहलाता है और उसीसे वाक्यार्थका बोध होता है । इसलिए यहाँ ग्रन्थकारने इन तीनोंका उल्लेख किया है । 'अभिहितान्वयवाद'में पहिले पदोंसे केवल—अनन्वित—पदार्थ उपस्थित होते हैं उसके बाद पदोंकी आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिके बलसे 'तात्पर्य-

वाच्य एव वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः' ।

शक्ति' द्वारा उन पदार्थोंके परस्परसम्बन्धरूप वाक्यार्थोंके बोध होता है। यह 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्टके मतका सारांश ग्रन्थकारने यहाँ प्रस्तुत किया है।

अन्विताभिधानवाद

दूसरा सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' है। इस सिद्धान्तके प्रतिपादक प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथमिश्र आदि हैं। इनका कहना यह है कि पहिले 'केवल' पदार्थ अभिहित होते हों और बादको उनका 'अन्वय' होता हो यह बात नहीं है, बल्कि पहिलेसे 'अन्वित' पदार्थोंका ही अभिधासे बोधन होता है। इसलिए इस सिद्धान्तका नाम 'अन्विताभिधानवाद' रखा गया है। इस मतमें पदार्थोंका 'अन्वय' पूर्वसे ही सिद्ध होनेके कारण, उसके करानेके लिए, 'तात्पर्याख्या शक्ति'की आवश्यकता नहीं होती है।

प्रभाकर अपने इस मतके समर्थनके लिए यह युक्ति देते हैं कि पदोंसे जो पदार्थोंकी प्रतीति होती है वह 'सङ्केतग्रह'के बाद ही होती है और उस सङ्केतका ग्रहण व्यवहारसे होता है। जैसे, छोटा बालक है, उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्दका क्या अर्थ है, कौन-सा शब्द किस अर्थके बोधनके लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदिके पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसीको आज्ञा देता है कि 'जरा कलम उठा दो।' बालक न कलमको जानता है और न 'उठा दो'का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिताके इस वाक्यको सुनता है और भाईके व्यापारको देखता है। इससे उसके मनपर उस समष्टि वाक्यके समष्टिभूत अर्थका एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दावात उठा दो।' बालक फिर इस वाक्यको सुनता और भाईको तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बारके व्यवहारको देखकर बालक धीरे-धीरे कलम, दावात, उठाना, रखना आदि शब्दोंके अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहारसे सङ्केत-ग्रह होता है। यह सङ्केत-ग्रह केवल पदार्थमें नहीं, अपितु किसीके साथ अन्वित-पदार्थमें ही होता है। इसलिए जब 'केवल' 'अनन्वित' पदार्थमें सङ्केत-ग्रह नहीं होता है तो 'केवल' या अनन्वित' पदार्थकी उपस्थिति भी नहीं होती है। अतएव 'अन्वित'का ही 'अभिधान' अर्थात् 'अभिधा'से बोधन होनेसे 'अन्विताभिधान' ही मानना उचित है, 'अभिहितान्वय'का मानना उचित नहीं है यह प्रभाकरके सिद्धान्त-का सार है।

अगली पंक्तिमें अन्विताभिधानवादके सिद्धान्तको इस प्रकार दिखलाते हैं—

[पदोंके द्वारा अन्वित पदार्थोंकी ही उपस्थिति होती है इसलिए पदार्थोंका परस्पर सम्बन्धरूप] वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। [तात्पर्याख्या शक्तिसे बादको प्रतीत नहीं होता है] यह 'अन्विताभिधान-वादियों' [प्रभाकर आदि] का मत है।

प्रभाकरका परिचय

इस 'अन्विताभिधानवाद'के सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाले प्रभाकर, वस्तुतः 'अभिहिता-न्वयवादी' कुमारिलभट्टके शिष्य हैं। पर उनका अनेक विषयोंमें अपने गुरुसे मतभेद रहा है। प्रभाकर अपने विद्यार्थी-जीवनमें ही बड़े प्रभावशाली विद्यार्थी थे और अपने स्वतन्त्र विचारोंके लिए प्रसिद्ध थे। प्रत्येक विषयपर वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और स्वतन्त्र विचार-शैलीसे विचार करते थे जिसके कारण कभी-कभी उनके गुरु कुमारिलभट्टको भी कठिनाईका सामना करना पड़ता था।

एक बारकी बात है कि कुछ विद्वानोंमें 'आतिवाहिक-पिण्ड'के सिद्धान्तपर विवाद छिड़ गया।

आतिवाहिक-पिण्डका अभिप्राय मृत्युके बाद दिये जानेवाले पिण्डसे है । एक पक्ष उसके दिये जानेका समर्थन करता था और उसकी एक विशेष विधिका प्रतिपादन करता था । दूसरा पक्ष उसका विरोधी था । अन्तमें यह विवाद निर्णयके लिए कुमारिलभट्टके पास पहुँचा । कुमारिलभट्टने अपनी सम्मतिके अनुसार एक पक्षमें व्यवस्था दे दी । परन्तु यह व्यवस्था प्रभाकरको रुचिकर प्रतीत नहीं हुई और उन्होंने उसका प्रतिवाद किया । बाहरके विद्वान् तो कुमारिलभट्टकी व्यवस्था लेकर चले गये परन्तु जो विवाद अबतक बाहर था वह अब घरमें प्रारम्भ हो गया । कुमारिलभट्टने अनेक प्रकारसे प्रभाकरको अपना सिद्धान्त समझानेका प्रयत्न किया परन्तु उसको सन्तोष न हुआ, या यों कहना चाहिये कि कुमारिलभट्ट अपनी युक्तियोंसे उसको चुप न कर सके । जैसे गान्धीजी अपने जीवन-कालमें जवाहरलालजीको अपने अहिंसा-सिद्धान्तको पूरी तरहसे समझा नहीं सके पर उनको यह विश्वास था कि मेरे सिद्धान्तका पालन करनेवाले 'जवाहर' ही होंगे, उसी प्रकार कुमारिलभट्टको यह विश्वास था कि इस 'आतिवाहिक-पिण्ड'के सिद्धान्तको प्रभाकर इस समय भले ही अपने इस तर्कके सामने न टिकने दे पर किसी दिन इस सिद्धान्तको मानेगा ही । इसलिए उस समय उन्होंने इस विषयपर आगे चर्चा बन्द कर दी और प्रभाकरसे कह दिया कि फिर कभी इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करेंगे ।

बहुत दिन बीत गये । एक दिन सहसा कुमारिलभट्टकी मृत्युका समाचार सुनायी दिया । यद्यपि सहसा किसीको उनकी मृत्युका विश्वास न होता था पर जब सभीने उनके शरीरकी परीक्षा कर उसमें जीवनका कोई चिह्न न पाया तो फिर उसपर विश्वास करनेके अतिरिक्त और मार्ग ही क्या था । फलतः सब लोगोंने उनका अन्तिम संस्कार करनेकी तैयारी प्रारम्भ कर दी । इस अन्तिम संस्कारके प्रसङ्गमें जब 'आतिवाहिक-पिण्ड'का अवसर आया तो लोगोंने प्रभाकरकी ओर देखा । परन्तु उस समय प्रभाकरने बिना किसी सङ्कोचके कुमारिलभट्टकी व्यवस्थाके अनुसार ही सारी प्रक्रिया करवायी । सारी काररवाई पूर्ण हो जानेके बाद मृतक-यानके उठाये जानेके पूर्व कुमारिलभट्टके शरीरमें कुछ चेतनाका संस्कार-सा प्रतीत हुआ और धीरे-धीरे थोड़ी देर बाद वे उठकर बैठ गये, जैसे सोकर उठे हों । उठनेके बाद सब लोगोंमें प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी और इस बीचमें क्या-क्या हुआ इस सबका समाचार उनको सुनाया गया । उस प्रसङ्गमें जब उनको यह मालूम हुआ कि आज प्रभाकरने मेरे 'आतिवाहिक-पिण्ड' सम्बन्धी सिद्धान्तको ही मान्य ठहराया था तब उनको भी प्रसन्नता हुई और उन्होंने प्रभाकरको सम्बोधन करके कहा, 'प्रभाकर जितमस्माभिः'—कहो प्रभाकर, हम जीते न । प्रभाकरने उत्तर दिया, 'भगवन् मृत्वा जितम्'—भगवन्, मरकर जीते । मुझे जीतनेके लिए आपको मरनेका छल करना पड़ा या दूसरा जन्म लेना पड़ा ।

प्रभाकरको 'गुरु'की उपाधि

यह उन गुरु-शिष्यके शास्त्र-समरकी एक झाँकी है । पर एक और घटना इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । एक दिन कुमारिलभट्टके यहाँ विद्यार्थियोंके पाठ हो रहे थे । प्राचीन पाठशालाओंकी प्रणाली यह थी कि पाठके समय छोटे-बड़े सभी विद्यार्थी, गुरुजीके पास ही बैठकर सबके पाठ सुनते थे । इससे जो विद्यार्थी उस ग्रन्थको पहिले पढ़ चुके होते थे उनको उसका पाठ दुबारा-तिबारा सुननेसे वह और अधिक परिमार्जित हो जाता था और जिन्हें आगे चलकर वह ग्रन्थ पढ़ना होता था उनका कुछ प्रारम्भिक संस्कार बन जाता था जो आगे उनको सहायता देता था ।

ऐसे ही पाठके प्रसङ्गमें सब विद्यार्थियोंके साथ बैठे हुए प्रभाकर, अपनेसे किसी उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंका पाठ सुन रहे थे । पढ़ाते-पढ़ाते गुरुजी अकस्मात् रुक गये । कोई क्लिष्ट पंक्ति आ गयी

थी जो लग नहीं रही थी । इसलिए गुरुजीने उस पाठको वहीं रोक दिया और देखकर कल पढ़ानेको कह दिया ।

पाठोंके समाप्त हो जानेके बाद जब सब लोग उठकर चले गये और गुरुजी अपने भोजन आदि अन्य कार्योंमें लग गये तो प्रभाकरने आकर गुरुजीकी पुस्तक उठा ली और जहाँ गाड़ी अटक गयी थी उस पाठको विचारने लगे । तनिक देर सोचनेके बाद उन्हें मालूम हो गया कि यह, 'ईश्वरकी रचना' को '७ सेरके चना' बना देनेवाले आजके प्रेसके भूतोंके समान, लेखकके प्रमादका खेल है । उसमें कोई शास्त्रीय गुत्थी नहीं है । पुस्तकमें लेखकने प्रमादसे पाठ अशुद्ध लिख दिया था । इसलिए वह पंक्ति नहीं लग रही थी । पुस्तकमें लिखा हुआ था 'अत्रापि नोक्तं तत्रापि नोक्तम् इति पौनरुक्त्यम्' । इसका अर्थ यह होता था कि 'यहाँ भी नहीं कहा है और वहाँ भी नहीं कहा है इसलिए पुनरुक्ति है' । यही समस्या बन गयी थी । पुनरुक्ति तो तब होती है जब एक ही बात दो बार कही जाय । जो बात न यहाँ कही गयी, न वहाँ कही गयी वह पुनरुक्त कैसे हो सकती है यह बात समझमें नहीं आ रही थी । प्रभाकरने कलम लेकर उस पाठको संशोधन करके इस प्रकार लिख दिया—

'अत्र तुना उक्तं तत्र अपिना उक्तम् इति पौनरुक्त्यम् ।'

अर्थात् यहाँ जो बात 'तुना' अर्थात् 'तु' शब्दसे कही है वही बात वहाँ अर्थात् दूसरे स्थानपर 'अपिना' अर्थात् 'अपि' शब्दसे कही गयी है इसलिए पुनरुक्ति है ।

'अत्र तुनोक्तं तत्रापिनोक्तम् इति पौनरुक्त्यम् ।'

इस पाठमें जो पुनरुक्ति समझमें नहीं आ रही थी पाठका संशोधन कर देनेसे वह बिलकुल स्पष्ट हो गयी । प्रभाकर चुप-चाप पुस्तक रखकर चले आये । कुछ समय बाद जब कुमारिलभट्टने उस पाठको विचारनेके लिए पुस्तक उठायी तो सब-कुछ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो गया और यह समझनेमें भी उनको देर न लगी कि यह कार्य प्रभाकरका है । उनको अपने शिष्यकी प्रतिभापर पहिले ही बड़ा विश्वास था पर आज उसकी अपूर्व प्रतिभा देखकर उनको बड़ा आनन्द हुआ और वे गद्गद हो गये । विश्वविद्यालयीय बाह्याडम्बरमय वातावरणके समान नहीं, अपितु विशुद्ध भावनासे अपने समस्त शिष्य-मण्डलके बीच आज उन्होंने अपने उस शिष्यको 'गुरु'की गौरवमयी उपाधि प्रदान की । तबसे आजतक प्रभाकर 'गुरु' नामसे प्रसिद्ध हैं और दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'इति गुरुमतम्' कहकर अत्यन्त सम्मानपूर्वक उनके मतका उल्लेख किया जाता है ।

तौतातिक मत

इसके विपरीत कुमारिलभट्टके मतका प्रायः 'इति तौतातिकं मतम्' 'तौतातिक मत' नामसे उल्लेख किया जाता है । 'तौतातिक' शब्दका अर्थ 'तु शब्दः तातः शिक्षको यस्य स तुतातः, तस्येदं तौतातिकम्' यह होता है । 'तु' शब्द जिसका 'तात' अर्थात् शिक्षक है वह तु-तात हुआ और उसका मत 'तौतातिक-मत' हुआ । ऊपरकी घटनाके अनुसार 'तु' शब्दसे ही कुमारिलभट्टको यह शिक्षा मिली थी इसलिए वे ही 'तु-तात' हुए, और उनका मत 'तौतातिक-मत' कहलाया जाने लगा ।

इन तीनों अर्थोंका व्यञ्जकत्व

इस प्रकार ग्रन्थकारने वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक तीन प्रकारके शब्दों और उनके अनुसार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका विवेचन किया और उसके साथ 'अभिहितान्वय-वादियोंके मतमें 'तात्पर्यार्थ' भी होता है यह बात यहाँतक दिखलायी है । इसके बाद वे यह कह रहे हैं कि इन तीनों प्रकारके अर्थोंमें व्यञ्जकत्व भी रहता है अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और

[सू० ८] **सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।**

तत्र वाच्यस्य यथा—

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थित्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥६॥
[मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥७॥
[साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया ॥
इति संस्कृतम्]

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितम् इति लक्ष्यम् । तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी, अर्थात् तीनों ही अर्थ व्यञ्जक हो सकते हैं । उन तीनों अर्थोंके व्यञ्जकत्वके उदाहरण क्रमशः देते हुए इसी बातको आगे कहते हैं—

[सूत्र ८]—प्रायः [इन] सभी अर्थोंका व्यञ्जकत्व भी [साहित्यशास्त्रमें] माना जाता है ।

उनमेंसे वाच्य [अर्थके व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

हे मातः ! आज घरकी [आटा-दाल] सामग्री नहीं रही है यह बात तुमने बतला ही दी है । तो अब यह बताओ कि क्या करना चाहिये, क्योंकि दिन ऐसा ही तो नहीं बना रहेगा [थोड़ी देरमें दिन छिप जायगा फिर क्या होगा] ॥६॥

यहाँ [कहनेवाली वधू] स्वच्छन्द विचरणके लिए [अर्थात् उपपतिके पास] जाना चाहती है यह बात व्यङ्ग्य है ।

लक्ष्य [अर्थके व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

हे सखि, उस सुन्दरके पास बार-बार जाकर मेरे लिए तुमने बड़ा कष्ट उठाया अब उसकी आवश्यकता नहीं है । [मेरे प्रति] अपनी सद्भावना और स्नेहके सदृश जो तुमको करना चाहिये था सो तुमने कर लिया ॥७॥

यहाँ, मेरे प्रियके साथ रमण करके तूने [मेरे साथ] शत्रुता निबाही है यह लक्ष्य अर्थ होता है और उससे कामुकविषयक सापराधत्वका प्रकाशन व्यङ्ग्य है ।

यह श्लोक भी वञ्चिता नायिकाकी उक्ति है और यह ठीक उसी ढंगका है जिस ढंगका 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उदाहरण सं० २ का श्लोक पहिले दिया जा चुका है । उसमें भी नायिकाकी भेजी हुई दूतीने उसका संवाद नायकके पास पहुँचानेके बजाय स्वयं उसके साथ 'स्वैरविहार' करके उस

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥८॥
[पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥
इति संस्कृतम्] ।

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वम् । तेन च जनरहितत्वम् । अतः संकेतस्थानमेतदिति कयाचित् कंचित् प्रति उच्यते । अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

उस नायिकाको धोखा दिया था । इसी प्रकार यहाँ भी नायिकाकी सखीने बीचमें स्वयं ही उसके प्रियके साथ रमण कर उसको धोखा दिया है । यह बात वक्ता तथा बोद्धाके वैशिष्टचसे व्यङ्ग्य है ।

इस प्रकार वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थके व्यञ्जकत्वके उदाहरण दिये गये हैं । आगे व्यङ्ग्यार्थके व्यञ्जकत्वका तीसरा उदाहरण देते हैं—

व्यङ्ग्य [अर्थके व्यञ्जकत्व] का [उदाहरण] जैसे—

देखो, कमलके पत्तेपर निश्चल और बिना हिले-डुले बैठी हुई बलाका [बगुलिया] निर्मल [हरे रंगकी] मरकत-मणिकी तश्तरी [भाजन] में रखी हुई शङ्ख-शुक्तिकी तरह विदित होती है ॥८॥

यहाँ [बलाकाके] निश्चल होनेसे उसकी निडरता [आश्वस्तता लक्षणासे सूचित होती है । [और उस [आश्वस्तत्वरूप लक्ष्यार्थ] से [स्थानका] जनहरित होना [व्यञ्जनासे सूचित होता है]। इसलिए यह संकेतस्थान है यह [बात पहिले व्यङ्ग्यार्थसे फिर व्यञ्जना द्वारा] कोई नायिका किसीसे [अर्थात् अपने कामुक प्रियसे] कह रही है । अथवा झूठ बोलते हो तुम यहाँ नहीं आये [अन्यथा यह बलाका ऐसी निश्चल-निष्पन्द नहीं रह सकती थी] यह [पहिले व्यङ्ग्यार्थसे] व्यञ्जना द्वारा सूचित होता है ।

यह पद्य 'हाल-कवि'-विरचित 'गाथासप्तशती'के प्रथम शतकका चतुर्थ पद्य है । ग्रन्थकारने उसे व्यङ्ग्यार्थके व्यञ्जकत्वको दिखलानेवाले उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है । इसमें बलाका निष्पन्द अर्थात् बिना हिले-डुले बैठी है यह वाच्य अर्थ है । इससे वह सर्वथा आश्वस्त है, उसको किसी प्रकारका भय नहीं है यह बात लक्षित होती है । इस आश्वस्तत्वसे यह स्थान विजन एकान्त-स्थान है यह व्यङ्ग्य निकलता है । इस व्यङ्ग्य अर्थसे यह 'सङ्केत'के लिए उचित स्थान है । यह दूसरा व्यङ्ग्यार्थ निकलता है, इसलिए यह व्यङ्ग्यार्थकी व्यञ्जकताका उदाहरण है ।

यहाँ श्लोकमें निश्चल तथा निष्पन्द दो विशेषणोंका प्रयोग किया गया है । वैसे अनेक स्थानोंपर ये दोनों शब्द समानार्थक रूपमें प्रयुक्त होते हैं । परन्तु यहाँ यदि उनको समानार्थक माना जाय तो पुनरुक्ति होती है, इसलिए उनके अर्थमें जो सूक्ष्म भेद है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये । चलन शरीरकी स्थानान्तर-प्रापिका क्रिया है । अर्थात् चलनक्रिया शरीरमें होती है और उसके होनेपर चलनेवाला व्यक्ति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँच जाता है । परन्तु स्पन्दन शरीरके अवयवोंकी क्रिया है जो स्थानान्तर-प्रापक नहीं होती है। अर्थात् अपने स्थानपर बैठे या खड़े हुए जो शरीरके अवयवोंका हिलाना-डुलाना है वह 'स्पन्दन' कहा जाता है । 'स्पदि किञ्चिच्चलने' धातुका यही भावार्थ है । इसलिए इन दोनों शब्दोंके सह-प्रयोगमें भी पुनरुक्ति नहीं होती है ।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

[सू० ९] **साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥७॥**

इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

वाचक शब्दका स्वरूप

इस प्रकार तीन प्रकारके शब्द तथा अर्थोंका निरूपण कर चुकनेके बाद उन वाचक आदि तीनों प्रकारके शब्दोंके स्वरूपको कहते हैं—

क्रमशः वाचक आदि [तीनों प्रकारके शब्दों]के स्वरूपका निरूपण करते हैं—

[सू० ६]—जो [शब्द] साक्षात् संकेतित अर्थको [अभिधा शक्तिके द्वारा] कहता है वह 'वाचक' [शब्द कहलाता है] ॥७॥

लोकव्यवहारमें [इह] बिना संकेत-ग्रहके शब्दके अर्थकी प्रतीतिके न होनेसे संकेतकी सहायतासे ही शब्द अर्थविशेषका प्रतिपादन करता है [यह सिद्धान्त निश्चित होता है] इसलिए जिस [शब्द]का जहाँ [जिस अर्थमें] अव्यवधानसे संकेतका ग्रहण होता है वह [शब्द] उस [अर्थ] का 'वाचक' होता है ।

संकेतग्रहके उपाय

लोकव्यवहारसे छोटे बालकोंको संकेतग्रह किस प्रकार होता है यह हम अभी दिखला चुके हैं । उस प्रक्रियाको 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया कहते हैं क्योंकि उसमें पहिले उत्तमवृद्ध अर्थात् बालकके पिता आदिने मध्यमवृद्ध अर्थात् बालकके बड़े भाई या नौकर आदिको कलम उठानेकी आज्ञा दी थी । फिर कलम रखकर दावात उठानेकी आज्ञा दी थी और मध्यमवृद्धने उसीके अनुसार क्रिया की थी । उस व्यवहारमें एक शब्दको हटाकर जो दूसरे शब्दका इसी प्रकार एक अर्थके स्थानपर दूसरे अर्थका निवेश किया गया इसीको आवाप-उद्वाप कहते हैं, इसलिए व्यवहारमें 'आवापोद्वाप' द्वारा संकेतका ग्रहण होता है यह बात स्पष्ट हो जाती है । यह लोकव्यवहार संकेतग्रहका प्रधान साधन है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी माने गये हैं जिनका संग्रह निम्नलिखित कारिकामें किया गया है—

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥'

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध—ज्ञात—पदके सान्निध्यसे भी शक्ति या संकेतका ग्रहण माना जाता है । इन सबमें मुख्य उपाय व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्दोंका और सबसे पहिले शक्तिग्रह व्यवहारसे ही होता है ।

इनमें 'भू सत्तायाम्' आदि धातुपाठसे अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रोंसे भू-धातु तथा करण आदि पदोंका संकेतग्रह व्याकरणके द्वारा होता है । 'यथा गौस्तथा गवयः' यह उपमान प्रमाणका उदाहरण है । जो व्यक्ति गौको जानता है पर गवय (नील गाय) को नहीं जानता है, उसको गौके सदृश गवय होता है इस वाक्यकी सहायतासे गवय पदका संकेतग्रह हो जाता है । कोश तथा आप्तवाक्य अर्थात् पिता आदिके बतलानेसे भी नये पदार्थोंके नामोंका ज्ञान बालकोंको होता ही है । व्यवहारका उदाहरण ऊपर दे चुके हैं । विवृति अर्थात् व्याख्या भी संकेतग्रहका साधन है और 'वाक्यशेष' तथा सिद्ध पद अर्थात् ज्ञात अर्थवाले पदकी सन्निधिसे अज्ञात अर्थवाले पदका अर्थ भी ज्ञात हो जाता है । इस प्रकार ये सब संकेतग्रहके उपाय माने गये हैं ।

[सू० १०] संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

संकेतग्रहका विषय

यह शक्तिग्रह किसमें होता है, यह संकेतग्रहसे सम्बन्ध रखनेवाला महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका अनेक विवेचकोंने अनेक प्रकारसे समाधान किया है। कोई जातिमें संकेतग्रह मानते हैं, कोई व्यक्तिमें और कोई जातिविशिष्ट व्यक्तिमें। यद्यपि साधारणरूपसे व्यवहार किसी व्यक्तिमें ही होता है इसलिए संकेतग्रह व्यक्तिमें ही होना चाहिये परन्तु व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दो प्रकारके दोषोंकी सम्भावना रहती है। जिस शब्दका जिस अर्थमें संकेतग्रह होता है उस शब्दसे उसी अर्थकी प्रतीति होती है। बिना संकेतग्रहके अर्थकी प्रतीति नहीं होती। इसलिए यदि व्यक्तिमें संकेतग्रह माना जाय तो जिस व्यक्ति-विशेषमें संकेतग्रह हुआ है उस शब्दसे उस व्यक्ति-विशेषकी ही उपस्थिति होगी। अन्य व्यक्तियोंकी प्रतीतिके लिए प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग संकेतग्रह मानना आवश्यक होगा। इस दशामें एक गो शब्दसे प्रतीत होनेवाली सभी गो-व्यक्तियोंमें अलग-अलग संकेतग्रह माननेमें अनन्त शक्तियोंकी कल्पना करनी होगी। यही 'आनन्त्य' दोषका अभिप्राय है। फिर व्यवहार से तो वर्तमान देश और वर्तमान कालकी गो-व्यक्तियोंमें ही संकेतग्रह हो सकता है, भूत-भविष्य और देशान्तर या कालान्तरकी सब गो-व्यक्तियोंमें संकेतग्रह सम्भव भी नहीं है इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह नहीं माना जा सकता है।

इस 'आनन्त्य-दोष' अर्थात् अनन्त शक्तियोंकी कल्पनाके दोषको बचानेके लिए यदि यह कहा जाय कि अन्य सब व्यक्तियोंमें अलग-अलग शक्तिग्रहकी आवश्यकता नहीं होती है, दो-चार व्यक्तियोंमें व्यवहारसे संकेतग्रह हो जाता है, शेष व्यक्तियोंका बोध बिना संकेतग्रहके ही होता रहता है; तब 'व्यभिचार-दोष' होगा। 'व्यभिचार' शब्दका अर्थ है 'नियमका उल्लङ्घन'। संकेतकी सहायतासे ही शब्द अर्थकी प्रतीति कराता है यह नियम है। अब यदि यह मान लिया जाता है कि गो-शब्दसे बहुत-सी गो-व्यक्तियोंका बोध बिना संकेतग्रहके होता है तो इस नियमका उल्लङ्घन होता है। इसलिए 'व्यभिचार-दोष' आ जाता है। इस प्रकार व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य-दोष' हो जाता है और उससे बचनेका प्रयत्न करनेपर 'व्यभिचार-दोष' आ जाता है। इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह मानना सम्भव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि 'महाभाष्यकार'ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः' लिखकर जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छा-शब्दरूपसे शब्दोंका चार प्रकारका विभाग किया है। व्यक्तिमें शक्ति माननेपर यह चारों प्रकारका शब्द-विभाग भी नहीं बन सकता है। क्योंकि जब व्यक्तिमें संकेतग्रह माना जायगा तो गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः, आदि चारों शब्दोंसे व्यक्तिका ही बोध होगा। इसलिए गौ-शब्द जातिवाचक है, शुक्ल पद गुणवाचक है, चल पद क्रियावाचक है और डित्थ पद उस व्यक्तिका नाम होनेसे यदृच्छाशब्द है इस प्रकारका विभाग नहीं बन सकता है। अतएव व्यक्तिमें शक्ति न मानकर व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छारूप धर्मोंमें ही संकेतग्रह मानना उचित है यह सिद्धान्त स्थिर होता है। इसी बातको ग्रन्थकारने इस प्रकार लिखा है—

[सू० १०]—संकेतित अर्थ जाति आदि [अर्थात् जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा] भेदोंसे चार प्रकारका होता है। अथवा [मीमांसकोंके मतमें] केवल जाति [रूप एक प्रकारका] ही [संकेतित अर्थ] होता है।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति, 'गौः शुक्लः चलो डित्थः' इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च, तदुपाधावेव संकेतः ।

उपाधिश्च द्विविधः वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः; सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः, पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च । तत्राद्यो जातिः । उक्तं हि वाक्यपदीये—"न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः।" इति ।

द्वितीयो गुणः । शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते ।

साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः ।

यद्यपि [आनयन, अपनयन आदिरूप] अर्थक्रियाका निर्वाहक होनेसे प्रवृत्ति-निवृत्ति [रूप व्यवहार] के योग्य व्यक्ति ही होता है [इसलिए व्यवहार द्वारा होनेवाला संकेतग्रह उस व्यक्तिमें ही होना चाहिये] फिर भी आनन्त्य तथा व्यभिचार [दोष] आ जानेके कारण उस [व्यक्ति]में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है इसलिए, और सफेद रंगकी [शुक्लः], [चलः] चलती हुई, डित्थ नामक, गौ इत्यादि [गुणवाचक 'शुक्ल' पद, क्रियावाचक 'चल' पद, जातिवाचक 'गौ' पद तथा यदृच्छात्मक संज्ञारूप 'डित्थ' पद—इन सब शब्दोंसे केवल व्यक्तिकी ही उपस्थिति होनेपर] का विषय-विभाग नहीं हो सकता है इसलिए भी [व्यक्तिमें नहीं अपितु] उसके उपाधि-[भूत धर्म जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा] में ही संकेतका ग्रहण होता है ।

उपाधिभेद द्वारा शब्दोंका चतुर्विध विभाग

यह उपाधि [मुख्यरूपसे] दो प्रकारकी होती है । १. वस्तुका [यथार्थ] धर्म और २. वक्ताके द्वारा अपनी इच्छासे [उस अर्थमें] सन्निवेशित । [इनमेंसे वक्ताकी यदृच्छासे सन्निवेशित उपाधि यदृच्छात्मक रूढ़ि शब्दोंमें रहती है] । वस्तु-धर्म भी दो प्रकारका होता है, एक सिद्धरूप और दूसरा साध्यरूप । [इनमें साध्यरूप वस्तुधर्म 'क्रिया' कहलाता है] । सिद्ध [रूप, वस्तु-धर्म] भी दो प्रकारका होता है । एक पदार्थका प्राणप्रद या जीवनाधायक और दूसरा विशेषताका आधान करानेका कारण । इनमेंसे पहिला [अर्थात् वस्तुका प्राणप्रद सिद्ध धर्म] 'जाति' होता है । जैसा कि [भर्तृहरिने अपने] वाक्यपदीय [नामक ग्रन्थ] में कहा है कि—'गौ स्वरूपतः न गौ होती है न अगौ । गोत्व [जाति] के सम्बन्धसे ही गौ कहलाती है' । [इसलिए वस्तुका प्राणप्रद जीवनाधायक वस्तु-धर्म 'जाति' कहलाता है] ।

दूसरा [अर्थात् वस्तुका विशेषाधान-हेतु सिद्ध वस्तु-धर्म] 'गुण' होता है । क्योंकि शुक्ल आदि [गुणों] के कारणसे [ही] सत्ताप्राप्त वस्तु] अपने सजातीय अन्य पदार्थोंसे विशेष] भिन्नताको प्राप्त होती है । [गौ के साथ गुण-वाचक शुक्ल विशेषण अन्य गौओंकी अपेक्षा उसकी विशेषता या भेदको सूचित करता है] ।

साध्य [रूप वस्तुधर्म दाल आदिके पकानेमें चूल्हा जलाकर बटलोई रखनेसे लेकर उसके उतारने पर्यन्त आगे-पीछे किया जानेवाला] पूर्वापरीभूत [सारा व्यापार-कलाप] क्रियारूप [क्रिया शब्दसे वाच्य] होता है ।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति ।

'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादौ 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः ।

डित्थ आदि [किसी व्यक्तिविशेषके वाचक रूढ़ि] शब्दोंका [स्फोटकी पूर्वप्रदर्शित प्रक्रियाके अनुसार पूर्व-पूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृत चरम वर्णके श्रवणसे] अन्त्य-बुद्धि [चरमवर्णके श्रवण] से गृहीत होनेवाला [गकार, औकार, विसर्जनीय आदिके नामके] क्रमभेदसे रहित [बिना क्रमके बुद्धिमें एक साथ उपस्थित होनेवाला पदस्फोटरूप स्वरूपको वक्ताकी अपनी स्वेच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थोंमें [उसके वाचक] उपाधिरूपसे सन्निविष्ट किया जाता है। [अर्थात् किसी पदार्थ या व्यक्ति-विशेषका नाम रखनेवाला व्यक्ति रूढ़ संज्ञारूप शब्दका उस अर्थके साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है कि व्यक्ति इस नामसे बोधित होगा]। इस प्रकार यह [रूढ़] संज्ञारूप यदृच्छात्मक [शब्द होता] है।

इस प्रकार ग्रन्थकारने यहाँतक प्रतिपादन किया कि संकेतग्रह व्यक्तिमें नहीं होता है अपितु व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मोंमें होता है। उसीके अनुसार शब्दोंका चार प्रकारका विभाग किया जाता है। अपने इस चतुर्विध विभागकी सम्पुष्टिमें महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनिकी सम्मति प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं कि—

'सफेद रंगकी 'चलती हुई', 'डित्थ' नामकी, 'गाय' इत्यादि [वाक्य] में [जाति-शब्दके रूपमें गौ पदका, गुण-शब्दके रूपमें शुक्ल पदका, क्रिया शब्दके रूपमें चल पदका और यदृच्छा-शब्दके रूपमें डित्थ पदका प्रयोग होनेसे] शब्दोंकी प्रवृत्ति [या प्रवृत्ति-निमित्त] चार प्रकारकी होती है यह महाभाष्यकारने कहा है।

परम-अणु-परिमाणकी गुणोंमें गणना कैसे

इस विभाजनके अनुसार वस्तुके प्राणप्रद धर्मका नाम 'जाति' और उसके विशेषाधानहेतु धर्मको 'गुण' कहा जाना चाहिये। परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन'में शुक्ल आदि 'रूप'के समान 'परिमाण'को भी गुण माना है। उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण आदि २४ गुणोंमें 'परिमाण'की भी गणना की गयी है। यह परिमाण मुख्यरूपसे 'अणु' तथा 'महत्' दो प्रकारका होता है। परन्तु उन दोनोंके साथ परमशब्दको जोड़कर उनका एक-एक भेद और हो जाता है। अर्थात् अणु-परिमाणके दो भेद हो गये—एक 'अणुपरिमाण' और दूसरा 'परम-अणुपरिमाण'। इसी प्रकार महत्-परिमाणके भी एक 'महत्-परिमाण' तथा दूसरा 'परममहत्-परिमाण' दो भेद हो जाते हैं। इनमेंसे 'परम-अणु-परिमाण' केवल परमाणु-संज्ञक पदार्थ अर्थात् पृथिव्यादि द्रव्योंके सबसे सूक्ष्म और अविभाज्य अवयवमें रहता है। इस 'परम-अणु-परिमाण'के लिए 'पारिमाण्डल्य-परिमाण' शब्दका भी प्रयोग होता है। यह परम-अणु-परिमाण 'परमाणु'-रूप सूक्ष्मतम पदार्थका प्राणप्रद धर्म है, विशेषाधान हेतु नहीं। इसलिए आपकी परिभाषाके अनुसार परम-अणु-परिमाणके वाचक 'परमाणु-परिमाण' शब्दको जाति-शब्द मानना चाहिये। परन्तु 'वैशेषिक-दर्शन'में उसका पाठ गुणोंमें किया गया है। इसका क्या कारण है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि 'परम-अणु-परिमाण' वस्तुतः जाति-वाचक शब्द ही है। परन्तु जैसे लोकमें अन्य अर्थोंमें प्रसिद्ध 'गुण', 'वृद्धि' आदि शब्दोंका व्याकरण शास्त्रमें विशेष अर्थमें प्रयोग होता है, उसी प्रकार वैशेषिक दर्शनमें परम-अणु-परिमाणकी गणना गुणोंमें की गयी है।

परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।
गुण-क्रिया-यदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते ।
यथैकस्य मुखस्य खड्ग-मुकुर-तैलाद्यालम्बनभेदात् ।

इसी बातको ग्रन्थकारने निम्नलिखित पंक्तिमें लिखा है—

परम-अणु [परिमाण तथा आदि शब्दसे परम-महत्-परिमाण] आदिका [उनके प्राणप्रद-धर्म होनेके कारण जाति-शब्द मानना उचित होनेपर भी 'वैशेषिकदर्शन' में उनका] गुणोंके बीच पाठ होनेसे [उस शास्त्रमें 'नदी', गुण', वृद्धि' आदि व्याकरणके विशेष संज्ञाशब्दोंकी भाँति] परिभाषासे निर्धारित गुणत्व है।

गुण शब्द आदिमें दोषोंकी शङ्का और उसका निवारण

ऊपर ग्रन्थकारने यह कहा था कि व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं इसलिए व्यक्तिमें संकेतग्रह न मानकर व्यक्तिके उपाधिभूत जाति, गुण आदि धर्मोंमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये। गोत्व जाति सब गो-व्यक्तियोंमें एक ही है इसलिए उसमें संकेतग्रह माननेपर एक जगह संकेतग्रह हो जानेसे सब गो-व्यक्तियोंकी उपस्थिति हो सकती है। इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण सर्वत्र एक ही है इसलिए एक बार संकेतग्रह हो जानेपर सब शुक्ल पदार्थोंका उससे बोध हो सकता है, अलग-अलग शक्तिग्रहकी आवश्यकता नहीं है।

इसपर यह शङ्का उपस्थित होती है कि शंख, दूध, कपड़ा आदि अनेक शुक्ल पदार्थोंमें रहनेवाला शुक्ल रूप भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है। इसी प्रकार भातका पकाना, ईंटोंका पकाना आदि क्रियाओंमें पाक आदि क्रिया भी भिन्न-भिन्न ही होती है। इसलिए एक जगह शुक्ल पदका संकेतग्रह होनेसे काम नहीं चलेगा। जैसे भिन्न गो-व्यक्तियोंमेंसे एक व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं उसी प्रकार शंख, दूध आदिमें आश्रित शुक्ल आदि गुणों तथा पाक आदि क्रियाओंमें भेद होनेसे भी 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष आ सकते हैं। अतः एक जगह संकेतग्रह माननेसे काम नहीं चल सकता है।

इस शङ्काका उत्तर ग्रन्थकारने यह दिया है कि शुक्ल आदि गुण और पाक आदि क्रियाओंका भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें जो अलग-अलग रूप दिखलायी देता है उसका कारण उनका वास्तविक भेद नहीं, अपितु उपाधिका भेद है। जैसे एक ही मुखको समतल, नतोदर, उन्नतोदर आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके दर्पणोंमें, अथवा तेल, पानी, तलवार आदिमें देखा जाय तो सब जगह उसका प्रतिबिम्ब अलग-अलग दिखलायी देता है; परन्तु मुखमें वस्तुतः भेद नहीं है, वह सब केवल उपाधिकृत भेद है। इसी प्रकार शुक्लादि गुण और पाकादि क्रियाएँ भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न प्रकारकी दिखलायी भले ही देती हों परन्तु उनका यह भेद पारमार्थिक नहीं, औपाधिक है। इसलिए गुण, क्रिया आदिमें संकेतग्रह माननेमें कोई दोष नहीं आता है। इसी बातको अगली पंक्तिमें इस प्रकार लिखा है—

[भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें भिन्न रूपसे प्रतीत होनेवाले] गुण, क्रिया और यदृच्छाके एकरूप होनेपर भी आश्रयके भेदसे उनमें भेद-सा दिखलायी देता है [वह वास्तविक भेद नहीं है]। जैसे एक ही मुखका तलवार, दर्पण तथा तेल आदि आश्रयोंके भेदसे [प्रतिबिम्बोंमें भेद-सा प्रतीत होता है। वह वास्तविक नहीं, औपाधिक भेद है। इसी प्रकार गुण आदिमें प्रतीत होनेवाला भेद भी केवल औपाधिक भेद है। अतः गुण आदिमें संकेतग्रह माननेमें 'आनन्त्य', 'व्यभिचार' दोषोंके आनेकी सम्भावना नहीं है।]

केवल 'जाति'में शक्ति माननेवाला मीमांसक-मत

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' इस कारिकांशमें संकेतित अर्थके विषयमें १. 'जात्यादिः' और २. 'जातिरेव वा' ये दो पक्ष दिखलाये थे। इनमेंसे 'जात्यादिः' यह पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुगामी अलङ्कारशास्त्रियोंका है और 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष मीमांसकोंका है। 'जात्यादि' रूप प्रथम-पक्षके अनुसार जात्यादि अर्थात् १. जाति २. गुण ३. क्रिया और ४. यदृच्छारूप वस्तुके उपाधिभूत इन चार धर्मोंमें संकेतग्रह होता है। इस पक्षका आधार 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' यह महाभाष्यका वचन है। इसलिए ग्रन्थकारने इस प्रमाणको उद्धृत कर यहाँतक इन चारोंको शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त माननेका उपपादन किया। अब 'जातिरेव वा' यह मीमांसकोंका दूसरा पक्ष रह जाता है, उसका उपपादन अगले अनुच्छेदमें करते हैं।

मीमांसकोंका सिद्धान्त यह है कि जाति आदि चारोंके स्थानपर केवल जातिमें ही शब्दकी शक्ति या संकेतग्रह होता है। अर्थात् केवल जातिको ही शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त मानना उचित है। जाति-शब्दोंके समान गुण, क्रिया तथा यदृच्छा-शब्दोंमें भी जातिमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये। अनुगत अर्थात् एकाकार प्रतीतिके कारणको 'सामान्य' या जाति कहते हैं। गुण, क्रिया और यदृच्छाशब्दोंमें भी जातिका अनुसन्धान किया जा सकता है—जैसे शंख, दूध, बर्फ आदि अनेक शुक्ल पदार्थोंमें शुक्लः शुक्लः यह अनुगत प्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है इसका कारण 'शुक्लत्व-सामान्य' ही है। 'जाति'का ही दूसरा नाम 'सामान्य' है। उसका लक्षण 'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' अनुगत—एकाकार प्रतीतिका हेतु 'सामान्य' कहलाता है, यह किया गया है। जैसे दस घट व्यक्तियोंमें घटः घटः इस अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार प्रतीतिका कारण 'घटत्व-सामान्य' माना जाता है, उसी प्रकार दस जगह रहनेवाले शुक्ल गुणमें जिसके कारण शुक्लः शुक्लः यह अनुगत या एकाकार प्रतीति होती है वह 'शुक्लत्व-सामान्य' है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक पदार्थोंके पाकमें रहनेवाली पाक-क्रियामें पाकः पाकः इस अनुगतप्रतीतिका कारण 'पाकत्व-सामान्य' है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित यदृच्छा-शब्द और प्रतिक्षण परिणामके कारण भिद्यमान उनके अर्थोंमें भी सामान्यका अनुसन्धान किया जा सकता है। इसलिए जाति शब्दोंके समान शेष तीनोंमें भी जातिमें ही संकेतग्रह मानना चाहिये और जातिको ही उन शब्दोंका प्रवृत्ति-निमित्त मानना चाहिये।

जाति या सामान्यके लक्षणमें दो बातें आवश्यक होती हैं। एक तो यह सामान्य ही अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार-प्रतीतिका कारण होता है। दूसरी बात यह है कि वह नित्य और अनेकमें समवेत धर्म होता है। 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह भी सामान्यका दूसरी तरह लक्षण किया गया है। इसके अनुसार शुक्लत्वादिको 'सामान्य' माननेमें तो कोई कठिनाई नहीं होती है, क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्ल रूप भिन्न-भिन्न हैं। अभी 'जात्यादि' पक्षकी व्याख्याके अन्तिम भागमें अनेक पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्लादि गुणोंके एकरूप होनेका जो प्रतिपादन किया था, मीमांसक उस सिद्धान्तको नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले शुक्ल आदिको अभिन्न मानना अनुभवके विपरीत है क्योंकि उनकी शुक्लताकी प्रतीतिमें अन्तर है। अतः वे भिन्न ही हैं और उनमें अनुगत-प्रतीतिका कारण शुक्लत्व-सामान्यको मानना ठीक है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओंमें भी पारमार्थिक भेद होनेके कारण उनमें पाकत्व आदि जातिको प्रवृत्ति-निमित्त मानना ही उचित है। इसलिए, जाति-शब्दोंके समान गुण-शब्द तथा क्रिया-शब्दोंमें भी जातिको ही प्रवृत्ति-निमित्त मानकर उसीमें संकेतग्रह मानना उचित है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

हिम-पयः-शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम् । गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि । बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च, प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

यदृच्छा-शब्दोंमें जातिका उपपादन

परन्तु सामान्य जातिके उक्त लक्षणमें 'अनेकसमवेतत्व'का समावेश होनेके कारण यदृच्छा-शब्दोंमें जातिको प्रवृत्ति-निमित्त माननेमें थोड़ी कठिनाई प्रतीत हो सकती है । इसलिए उसके समाधानका विशेष मार्ग निकालना पड़ा है । कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदृच्छा शब्द तो अनेक व्यक्तियोंके वाचक नहीं, अपितु केवल एक व्यक्ति-वाचक रूढ शब्द होते हैं । उनमें 'अनेकसमवेतत्व'के न रहनेसे जातिकी कल्पना कैसे की जाय । जाति तो अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाला—अनेकसमवेत—धर्म है और यदृच्छा-शब्दोंमें स्फोट-रूप शब्द भी एक है और उसका वाच्यार्थ व्यक्ति-विशेष भी एक है तब उसमें जातिकी कल्पना कैसे की जाय ।

यह एक शंका हो सकती है । इसका समाधान करनेके लिए मीमांसकोंने उच्चारण करनेवाले व्यक्तियोंके भेदसे शब्दोंमें और प्रतिक्षण होनेवाले वृद्धि वा ह्रासरूप परिवर्तनके आधारपर व्यक्तियोंमें भेदकी कल्पना की है । अर्थात् बाल-वृद्ध-शुक आदि द्वारा उच्चारण किये जानेवाले 'डित्थ' या देवदत्त आदि एक व्यक्ति-वाचक शब्द-व्यक्तियोंमें अनेकत्व मानकर उनमें अनुगत-प्रतीति करानेवाली 'डित्थत्व' आदि जातिकी कल्पना की जा सकती है । इसी प्रकार "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः" एकमात्र चेतन आत्माको छोड़कर सारे पदार्थोंमें प्रतिक्षण परिणाम, प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है इस सिद्धान्तके अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तनके कारण यदृच्छा-शब्दोंके वाच्यार्थ व्यक्तियोंमें भी भेदकी कल्पना करके उनमें अनुगत-प्रतीतिके कारणरूपमें जातिको माना जा सकता है । अतः यदृच्छा-शब्दोंका संकेतग्रह भी जातिमें ही मानना चाहिये ।

इस प्रकार मीमांसक जाति आदि चारके स्थानपर केवल एक जातिमें ही संकेतग्रह मानते हैं । मम्मटाचार्यने अपनी कारिकामें 'जातिरेव वा' लिखकर उसी मीमांसक-मतका प्रदर्शन किया है । अगले अनुच्छेदमें उसी मीमांसक-सिद्धान्तका उपपादन करते हुए वे लिखते हैं कि—

बर्फ, दूध और शंख आदिमें रहनेवाले वास्तवमें भिन्न [अर्थात् प्रथम सिद्धान्तमें कहे अनुसार एकरूप नहीं] शुक्ल आदि गुणोंमें जिनमें जिनके कारण शुक्लः शुक्लः इस प्रकारका एकाकार कथन और प्रतीतिकी उत्पत्ति होती है वह शुक्लत्व आदि सामान्य [जाति] है । गुड़ और तण्डुल आदिके पाकादिमें भी इसी प्रकार पाकत्व आदि 'सामान्य' [रहता] है । इसी प्रकार बालक, वृद्ध और तोता आदिके द्वारा उच्चारण किये जानेवाले 'डित्थ' आदि शब्दोंमें अथवा प्रतिक्षण भिद्यमान-परिवर्तन-शील 'डित्थ' आदि पदार्थोंमें डित्थत्व आदि [सामान्य] रहता है । इसलिए सब शब्दोंका प्रवृत्तिनिमित्त केवल एक जाति ही है । [अर्थात् वैयाकरणोंके पूर्वोक्त मतके अनुसार] जात्यादि चारको प्रवृत्ति-निमित्त न मानकर केवल जातिको ही प्रवृत्ति-निमित्त मानना चाहिये और उसीमें संकेतग्रह मानना चाहिये यह अन्यों [अर्थात् मीमांसकों] का सिद्धान्त है ।

इस प्रकार 'जातिरेव वा' लिखकर ग्रन्थकारने शक्ति-विषयक जो यह दूसरा मत दिखलाया है वह ग्रन्थकारको मान्य नहीं है । मीमांसकोंके मतको दिखलानेके लिए ही उसे लिखा है ।

तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

संकेतग्रहविषयक नैयायिक-मत

इस प्रकार संकेतग्रहके विषयमें वैयाकरण, आलङ्कारिक और मीमांसकोंके मतका वर्णन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त नैयायिकों तथा बौद्ध आदि अन्य दार्शनिकोंने भी इस प्रश्नपर विचार किया है और उनके मत इन पूर्वप्रदर्शित मतोंसे भिन्न हैं। नैयायिकोंके मतमें न केवल जातिमें शक्तिग्रह माना जा सकता है और न केवल व्यक्तिमें। केवल व्यक्तिमें संकेतग्रह माननेसे आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं तो केवल जातिमें शक्तिग्रह माननेपर शब्दसे केवल जातिकी उपस्थिति होनेके कारण व्यक्तिका भान शब्दसे नहीं हो सकता है। जातिमें शक्ति मानकर यदि व्यक्तिका भान आक्षेपसे माना जाय तो उसका शाब्द-बोधमें अन्वय नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्तके अनुसार शब्द-शक्तिसे लभ्य अर्थका ही शाब्दबोधमें अन्वय हो सकता है। आक्षेप-लभ्य अर्थ शाब्द-बोधमें अन्वित नहीं हो सकता है। इसीलिए नैयायिकोंके मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एकमें शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता। इसलिए 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः' [न्यायसूत्र २,२,६८] जाति तथा आकृतिसे विशिष्ट व्यक्ति पदका अर्थ होता है यह नैयायिक-सिद्धान्त है। इसे ग्रन्थकारने अगली पंक्तिमें 'तद्वान् पदार्थः' कहकर दिखलाया है। 'तद्वान्का अर्थ जातिमान् है। अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्तिमें संकेतग्रह मानना चाहिये, यह नैयायिक-मत है।

बौद्ध-मत

इसके अतिरिक्त बौद्ध-दार्शनिकोंका भी इस विषयमें अपना अलग मत है। उनके मतमें शब्दका अर्थ 'अपोह' होता है। 'अपोह'का अर्थ 'अतद्-व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। दस घट-व्यक्तियोंमें 'घटः-घटः' इस प्रकारकी एकाकार प्रतीतिका कारण नैयायिक आदि 'घटत्व सामान्य'को मानते हैं। उनका 'सामान्य' एक नित्य पदार्थ है क्योंकि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह सामान्यका लक्षण है। इसके अनुसार 'सामान्य' नित्य है। परन्तु बौद्धोंका पहिला सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। उनके मतसे सारे पदार्थ 'क्षणिक' हैं इसलिए वे 'सामान्य' जैसे किसी नित्य-पदार्थको नहीं मानते। उसके स्थानपर अनुगत प्रतीतिका कारण वे 'अपोह'को मानते हैं। 'अपोह' शब्द बौद्ध-दर्शनका पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ 'अतद्-व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' होता है। अर्थात् दस घट-व्यक्तियोंमें जो 'घटः घटः' इस प्रकारकी अनुगत प्रतीति होती है उसका कारण 'अघट-व्यावृत्ति' या 'घटभिन्नभिन्नत्व' है प्रत्येक घट अघट अर्थात् घटभिन्न सारे जगत्से भिन्न है। इसलिए उसमें 'घटः घटः' यह एक-सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धोंके मतमें 'अपोह' ही शब्दका अर्थ होता है। उसीमें संकेतग्रह मानना चाहिये। इस बौद्धमतका संकेत ग्रन्थकारने 'अपोहो वा शब्दार्थः' लिखकर किया है। इन सब पक्षोंका विस्तार-पूर्वक विवेचन ग्रन्थगौरवके भयसे तथा प्रकृतमें विशेष उपयोग न होनेसे ग्रन्थकारने नहीं किया है। यही बात वे अगली पंक्तिमें दिखलाते हैं—

किन्हीं लोगोंने 'तद्वान्' [अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति] और 'अपोह' [अर्थात् अतद्-व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व] शब्दका अर्थ है यह कहा है [ये दोनों मत क्रमशः नैयायिक तथा बौद्धोंके हैं]। ग्रन्थके बढ़ जानेके भयसे और प्रकृतमें उपयोग न होनेसे उनको [विस्तारपूर्वक] नहीं दिखलाया है।

[सू० ११] स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात् संकेतितः । अस्येति शब्दस्य ।

मम्मटका सिद्धान्त मत

यहाँ संकेतग्रहके विषयमें जो तीन-चार मत दिखलाये हैं उनमेंसे पहिलेके साथ 'इति महाभाष्यकारः', दूसरेके साथ 'इत्यन्ये' और तीसरे तथा चौथेके साथ 'कैश्चित्' शब्दका प्रयोग किया गया है । नरसिंह ठक्कुर आदि 'काव्यप्रकाश'के कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ यह लगाया है कि इनमेंसे कोई भी मत ग्रन्थकारको अभिमत नहीं है । इसलिए इन शब्दोंके द्वारा सब मतोंमें अपना अस्वरस प्रदर्शित किया है । नरहिं ठक्कुरने तो यहाँतक लिख दिया है कि 'तस्माद् व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः', अर्थात् 'इसलिए व्यक्तिपक्ष ही अधिक उचित होता है ।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्रमें प्रायः व्याकरणशास्त्रके दार्शनिक सिद्धान्तोंको अपनाया गया है । स्वयं काव्यप्रकाशकारने 'बुधैर्वैयाकरणैः' आदि लिखकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है । इसलिए इस विषयमें भी साहित्यशास्त्रमें व्याकरण-सिद्धान्तके अनुसार 'जात्यादि' चारमें संकेतग्रह मानना ही अभीष्ट है । मम्मटाचार्य भी इसी सिद्धान्तको मानते हैं । उन्होंने यहाँ महाभाष्यकारके नामका उल्लेख अपने मतके समर्थनमें प्रमाण प्रस्तुत करनेके लिए ही किया है ।

श्रीमम्मटाचार्यने इसी विषयपर 'शब्द-व्यापार-विचारः' नामक एक और छोटा-सा प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है । उसमें भी मीमांसक आदि अन्य मतोंका खण्डन करके उन्होंने वैयाकरण-सम्मत और महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदित जात्यादि चारोंमें संकेतग्रह माननेके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया है । उन्होंने उस ग्रन्थमें स्पष्टरूपसे लिखा है कि—

'तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः ।'

अर्थात् अभिधा-शक्तिसे प्रतिपादित होनेवाला 'मुख्य अर्थ जाति आदिके भेदसे चार प्रकारका समझना चाहिये ।' अतः नरसिंह ठक्कुरका लेख भ्रममूलक है ।

अभिधालक्षण

ऊपर अर्थके 'वाच्य', 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' रूपसे तीन भेद बतलाये थे । इनमेंसे वाच्यार्थको मुख्यार्थ नामसे भी कहा जाता है । 'मुखमिव मुख्यः' इस विग्रहमें 'शाखादिभ्यो यः' [५-३-१०३] सूत्रसे य-प्रत्यय होकर मुख्य-शब्द सिद्ध होता है । जैसे शरीरके सारे अवयवोंमें मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहिले दिखलायी देता है उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य सब अर्थोंमें वाच्यार्थ सबसे प्रधान और सबसे पहिले उपस्थित होनेवाला अर्थ है इसलिए मुखके समान होनेसे उसको 'मुख्यार्थ' कहा जाता है । उस वाच्यार्थ या 'मुख्यार्थ'का बोधन करानेवाला जो शब्दका व्यापार है उसको 'अभिधा' व्यापार कहते हैं । आगे 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' तथा 'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः' इत्यादि अनेक स्थलोंपर ग्रन्थकार वाच्य अर्थ तथा वाचक शब्दके लिए मुख्यार्थ तथा मुख्य-शब्द पदका प्रयोग करेंगे । अतः यहाँ वाच्यार्थको ही मुख्यार्थ कहा जाता है । इस बातको ग्रन्थकार आगे कहते हैं—

[सू० ११]—वह [साक्षात् संकेतिक अर्थ] मुख्य अर्थ [कहलाता] है, और उस [का बोधन कराने] में इस [शब्द] का जो व्यापार होता है वह अभिधा [व्यापार या अभिधा-शक्ति] कहलाता है ॥८॥

[कारिकामें प्रयुक्त] 'सः' इस [पद] से साक्षात्-संकेतित [अर्थ लिया जाता है] । 'अस्य' इस [पद] से 'शब्दका' [यह अर्थ लिया जाता है] ॥८॥

[सू० १२] मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

लक्षणा-निरूपण

मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थकी बोधिका अभिधा-शक्ति होती है और अन्य सबकी अपेक्षा सबसे पहिले अभिधा-शक्ति ही अपने अर्थ अर्थात् वाच्यार्थका बोध कराती है परन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थका वाक्यके अन्य पदोंके अर्थोंके साथ अन्वय होनेमें बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्यकी उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धिके कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजनके प्रतिपादनके लिए मुख्यार्थसे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थकी प्रतीति हो सकती है। उस अन्य अर्थको 'लक्ष्यार्थ' और उसकी बोधिका शक्तिको 'लक्षणा-शक्ति' कहा जाता है। लक्षणा-शक्तिके व्यापारके लिए १. मुख्यार्थ-बाध, २. लक्ष्यार्थका मुख्यार्थके साथ सम्बन्ध तथा ३. रूढ़ि या प्रयाजनमेंसे अन्यतर, इन तीन कारणोंकी आवश्यकता होती है। इसी अभिप्रायसे लक्षणाका लक्षण करनेके लिए ग्रन्थकार अगली कारिका लिखते हैं—

[सू० १२]—१. मुख्यार्थका बाध [अर्थात् अन्वयकी अनुपपत्ति या तात्पर्यकी अनुपपत्ति] होनेपर, २. उस [मुख्यार्थ] के साथ [लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थका] सम्बन्ध होनेपर, ३. रूढ़िसे अथवा प्रयोजन-विशेषसे जिस [शब्द-शक्ति] के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह [मुख्यरूपसे अर्थमें रहनेके कारण शब्दका] आरोपित व्यापार लक्षणा [कहलाता] है ॥६॥

इस कारिकामें 'लक्ष्यते यत् सा' इस स्थलपर जो 'यत्' शब्दका प्रयोग हुआ है उसकी दो प्रकारकी व्याख्या की जाती है। प्रथम व्याख्याके अनुसार 'यदिति यया इत्यर्थे लुप्तकरगं तृतीयान्तमव्ययम्' 'यत्' पद 'यया' इस अर्थमें करण-विभक्तिके लोप द्वारा बना हुआ तृतीयान्त अव्ययपद है। उसके अनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा' जिस शब्दशक्तिसे अन्य अर्थ लक्षित होता है वह 'लक्षणा' कहलाती है, यह अर्थ होता है। दूसरी व्याख्याके अनुसार 'यत्' यह क्रियाविशेषण है 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते' जो प्रतिपादित होता है वह 'लक्षणा' है। इन दोनों ही व्याख्याओंमें और विशेषकर दूसरी व्याख्यामें 'लक्ष्यते' यह पद णिजन्तसे बना हुआ आख्यातका रूप है। णिच्-प्रत्ययका अर्थ प्रयोजक हेतुका व्यापार होता है, 'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते' का अर्थ 'अन्यार्थ-प्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा' यह होता है। परन्तु यह व्याख्या अधिक क्लिष्ट हो जाती है। इसलिए 'यत्' पदको 'यया'के अर्थमें लुप्तकरण तृतीयान्त अव्यय मानना ही अधिक अच्छा है।

कुछ लोगोंने 'यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकारकी व्याख्या भी की है, परन्तु यह व्याख्या नितान्त असङ्गत है क्योंकि 'प्रतिपत्ति' अर्थात् ज्ञान 'लक्षणा' नहीं है अपितु शब्दकी शक्ति 'लक्षणा' है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्टने अपने श्लोकवार्तिक' में ' अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' यह लिखा है। उसीके आधारपर इन व्याख्याकारोंने यहाँ भी 'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' इस प्रकारकी व्याख्या कर दी है। परन्तु एक तो वह काव्यप्रकाशकारका सिद्धान्तमत नहीं, अपितु मीमांसकोंका मत है, इसलिए उसके आधारपर व्याख्या उचित नहीं है। काव्यप्रकाशकारको शब्द-व्यापारको ही लक्षणा मानना अभिमत है अतः 'यया' अर्थमें ही 'यत्' अव्ययका प्रयोग समझना चाहिये। दूसरे, वहाँ भी 'प्रतीति' पदका अर्थ ज्ञान नहीं अपितु 'प्रतीतिका करणभूत व्यापार' किया जाता है। करणमें क्तिन्-प्रत्यय करके 'प्रतीयतेऽर्थोऽनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह होता है।

'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात्, 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात्, मुख्यार्थस्य बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

मुख्यार्थबाधके दो रूप

इस कारिकामें 'लक्षणा' का मुख्य कारण 'मुख्यार्थबाध' बतलाया गया है । इस 'मुख्यार्थबाधकी भी दो प्रकारकी व्याख्या की जाती है । अधिकांश व्याख्याकार मुख्यार्थबाधका अर्थ 'अन्वयानुपपत्ति' करते हैं । जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरणमें गङ्गाका अर्थ जलकी धारा और 'घोषका अर्थ आभीरपल्ली—घोषियोंकी बस्ती—है । गङ्गाकी धाराके ऊपर घोषियोंकी बस्ती नहीं रह सकती है इसलिए यहाँ अन्वयके अनुपपन्न होनेके कारण गङ्गा पद लक्षणासे तटरूप अर्थका बोधक होता है ।

परन्तु नागेशभट्टने 'परमलघुमञ्जूषा'में 'अन्वयानुपपत्ति'के स्थानपर 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणाका बीज माना है और उसका हेतु यह दिया है कि यदि अन्वयानुपपत्तिको लक्षणाका बीज माना जायगा तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोगमें लक्षणा नहीं हो सकेगी । कोई व्यक्ति अपना दही बाहर रखा हुआ छोड़कर किसी कामसे तनिक देरके लिए कहीं जा रहा है । वह चलते समय अपने साथीसे कहता है कि 'जरा कौओंसे दहीको बचाना' । इसका अभिप्राय केवल कौओंसे बचाना ही नहीं है अपितु कौए, कुत्ते आदि जो कोई दहीको बिगाड़ने या खानेका प्रयत्न करें, उन सबसे दहीकी रक्षा करना यह वक्ताका अभिप्राय है । यह अभिप्राय 'काक' पदकी 'दध्युपघातक' अर्थमें लक्षणा करनेसे ही पूरा हो सकता है । अन्यथा नहीं । परन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोगमें 'अन्वयानुपपत्ति' नहीं है । सब पदोंका अन्वय बन जाता है इसलिए यदि अन्वयानुपपत्तिको ही लक्षणाका बीज मानें तो यहाँ लक्षणाका अवसर ही नहीं आता । इसलिए नागेशभट्टने 'अन्वयानुपपत्ति'के स्थानपर 'तात्पर्यानुपपत्ति'को लक्षणाका बीज माना है । अन्वयमें बाधा न होनेपर भी 'काक' पदका मुख्यार्थमात्र लेनेसे वक्ताके तात्पर्यकी उपपत्ति नहीं होती है इसलिए लक्षणा करना आवश्यक हो जाता है । अतः तात्पर्यानुपपत्तिको ही लक्षणाका बीज मानना चाहिये, यह नागेशभट्टका अभिप्राय है ।

लक्षणाके दो उदाहरण

'कर्मणि कुशलः' [अर्थात् चित्रकर्म आदि किसी विशेष] 'काममें कुशल है' इत्यादिमें 'कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] कुशोंके लानेका कोई सम्बन्ध न होनेसे [मुख्यार्थका बाध होता है] और 'गङ्गायां घोषः' इत्यादिमें गङ्गा [पदके जलप्रवाहरूप मुख्यार्थ] आदिमें घोष [आभीर-पल्ली] आदिका आधारत्व सम्भव न होनेसे मुख्यार्थका बाध होनेपर [प्रथम उदाहरणमें] विवेचकत्वादि और [दूसरे उदाहरणमें] सामीप्य-सम्बन्ध होनेपर, [पहिले उदाहरणमें कुशल पदके दक्षरूप अर्थमें रूढ़ होनेके कारण] रूढ़िसे अर्थात् प्रसिद्धिसे, और [दूसरे उदाहरणमें] 'गङ्गातटे घोषः' इत्यादि [मुख्य शब्द] के प्रयोगसे जिन [शैत्य, पावनत्वादि धर्मों] की उस रूपमें प्रतीति नहीं है उन शैत्य,] पावनत्व आदि धर्मोंके उस प्रकारके प्रतिपादनस्वरूप प्रयोजनसे मुख्य अर्थसे जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है वह शब्दका व्यवहितार्थविषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' (कहलाता) है ।

[सू० १३] स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥

ग्रन्थकारने कारिकामें 'लक्ष्यते यत् सा' इस अंशमें 'यत्' पदका प्रयोग किया है । यह पद कुछ अस्पष्ट-सा है इसलिए इसकी व्याख्यामें ऊपर लिखे अनेक मतभेद पाये जाते हैं । वृत्ति लिखते समय यदि वे अपने इस पदकी स्पष्ट व्याख्या कर देते तो अच्छा होता । परन्तु उन्होंने वृत्ति लिखते समय भी उसकी व्याख्या न करके फिर उसी 'यत्' शब्दका प्रयोग कर दिया है । इससे उसका अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ और व्याख्याकारोंको अनेक प्रकारकी व्याख्या करनेका अवसर मिल गया है ।

प्रयोजनवती-लक्षणाके उदाहरणरूपमें 'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है । लक्षणाका यह उदाहरण साहित्यशास्त्रके सभी ग्रन्थोंमें दिया गया है, परन्तु वह उनका अपना बनाया हुआ उदाहरण नहीं है अपितु जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द तथा 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' के सिद्धान्तको उन्होंने व्याकरणशास्त्रसे उधार लिया है उसी प्रकार यह उदाहरण भी उन्होंने व्याकरणशास्त्रसे ही लिया है । महाभाष्यकारने 'पुंयोगादाख्यायाम्' [४-१-४८] सूत्रके महाभाष्यमें 'गङ्गायां घोषः' तथा 'कूपे गर्गकुलम्' ये दो लक्षणाके उदाहरण दिये हैं । वहाँसे ही साहित्यशास्त्रमें यह उदाहरण ले लिया गया है । यह भी साहित्यशास्त्रके व्याकरणानुगामी होनेका प्रमाण है ।

लक्षणाके दो भेद

आगे ग्रन्थकार लक्षणाके 'उपादान-लक्षणा' तथा 'लक्षण-लक्षणा' नामसे दो भेद करते हैं । जहाँ शब्द अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए अन्य अर्थका आक्षेप कर लेता है और स्वयं भी बना रहता है उसको 'उपादान-लक्षणा' कहते हैं । उसमें मुख्यार्थका भी उपादान या ग्रहण रहता है इसलिए उसकी 'उपादान-लक्षणा' यह अन्वर्थ-संज्ञा है ।

जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' या 'यष्टयः प्रविशन्ति' आदि उदाहरणोंमें 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द भाला और लाठी रूप अचेतन अर्थोंके वाचक हैं, उनमें प्रवेश-क्रियाका अन्वय नहीं हो सकता है इसलिए यहाँ मुख्यार्थका बाध होनेपर 'कुन्त' आदि शब्द अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए 'पुरुष' पद या पदार्थका आक्षेप कर लेते हैं । इस प्रकार 'कुन्त' शब्द 'कुन्तधारी पुरुष'का बोधक हो जाता है और उसका अन्वय होनेमें जो बाधा थी वह दूर हो जाती है । 'कुन्ताः प्रविशन्ति'का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष घुसे आ रहे हैं' यह हो जाता है । कुन्तधारी पुरुषोंका वाहुल्य-सूचन ही लक्षणाका प्रयोजन है । इस प्रकार यह प्रयोजनवती उपादानलक्षणाका उदाहरण है ।

इसके विपरीत जहाँ वाक्यमेंका कोई शब्द वाक्यमें प्रयुक्त दूसरे शब्दके अन्वयकी सिद्धिके लिए अपने अर्थका परित्याग कर अन्य अर्थका बोधक हो जाता है वहाँ 'लक्षण-लक्षणा' होती है । जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरणमें वाक्यमें प्रयुक्त 'घोष' पदके आधेयत्वरूपसे अन्वयका उपपादन करनेके लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल-प्रवाह' रूप मुख्यार्थका परित्याग कर सामीप्यसम्बन्धसे 'तट' रूप अन्य अर्थको बोधित करता है अतएव यह प्रयोजनवती 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण है । लक्षणाके इन्हीं दोनों भेदोंको ग्रन्थकार निम्नलिखित प्रकारसे दिखलाते हैं—

[सू० १३]—[वाक्यमें प्रयुक्त किसी पदका] अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए अन्य अर्थका आक्षेप करना 'उपादान' और दूसरेके [अन्वयकी सिद्धिके] लिए अपने [मुख्य अर्थ] का परित्याग [समर्पण] 'लक्षण' [कहलाता] है, इस प्रकार वह शुद्धालक्षणा ही दो प्रकारकी कही गयी है [गौणीके ये भेद नहीं होते हैं] ॥१०॥

'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते । तत उपादानेनेयं लक्षणा ।

उपादान-लक्षणाके दो उदाहरण

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'भाले घुस रहे हैं' और 'यष्टयः प्रविशन्ति' 'लाठियाँ घुस रही हैं, इत्यादि [वाक्यों] में 'कुन्त' आदि [पदों] के द्वारा अपने [अचेतनरूपमें] प्रवेश [क्रिया] की सिद्धिके लिए अपनेसे संयुक्त [अर्थात् कुन्तधारी] पुरुषोंका आक्षेप [द्वारा बोध] कराया जाता है । इसलिए [स्वार्थका परित्याग किये बिना अन्य अर्थके ग्रहणरूप अथवा स्वार्थके भी ग्रहणरूप] उपादानसे यह लक्षणा है । [अतः यह 'उपादान-लक्षणा' कहलाती है] ।

मुकुलभट्टके उपादान-लक्षणाके दो उदाहरण

उपादान-लक्षणाके इन उदाहरणोंके बाद लक्षण-लक्षणाका उदाहरण देना चाहिये । परन्तु उसको प्रस्तुत करनेके पूर्व ग्रन्थकार 'मुकुलभट्ट' तथा मण्डनमिश्र आदि मीमांसकों द्वारा दिये गये 'उपादान-लक्षणा'के दो उदाहरणोंका खण्डन करते हैं । मुकुलभट्ट काव्यप्रकाशकारसे कुछ पहिले हुए हैं । उनका एकमात्र ग्रन्थ 'अभिधावृत्तिमातृका' इस समय उपलब्ध होता है । इस ग्रन्थमें उन्होंने अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना इन तीनों शक्तियोंके स्थानपर केवल 'अभिधा' शक्तिको ही माननेका सिद्धान्तरूपसे प्रतिपादन किया है । अभिधाके उन्होंने दस भेद माने हैं । इनमें जात्यादि चार प्रकारके अर्थोंकी बोधक चार प्रकारकी अभिधाशक्ति तथा लक्षणाके छह भेदोंका भी अभिधामें अन्तर्भाव करके दस प्रकारकी अभिधाशक्ति उन्होंने सिद्ध की है । व्यञ्जनाके सब भेदोंका अन्तर्भाव लक्षणाके छह भेदोंमें कर लिया है । इस प्रकार दस तरहकी अभिधाके अतिरिक्त अन्य किसी शक्तिके माननेकी आवश्यकता नहीं है यह बात उन्होंने सिद्ध की है । ग्रन्थका उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है—

'इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्' ।।१३।।

इस ग्रन्थमें उन्होंने 'उपादान-लक्षणा'के गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये दो उदाहरण दिये हैं । जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार आदि साहित्यशास्त्रके अधिकांश आचार्य वैयाकरणोंके अनुयायी हैं और उन्होंने अन्य विषयोंके साथ लक्षणाके उदाहरण भी व्याकरणशास्त्रसे लिये हैं—'गङ्गायां घोषः', 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादि लक्षणाके सब उदाहरण काव्यप्रकाशकारने महाभाष्यसे ही लिये हैं—उसी प्रकार 'मुकुलभट्ट' मीमांसक-मतके अनुयायी हैं इसलिए उन्होंने अपने उदाहरणोंका संग्रह प्रायः मीमांसाके ग्रन्थोंसे किया है । 'गौरनुबन्ध्यः' और 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये उदाहरण मुकुलभट्टने मीमांसा-ग्रन्थोंसे ही लिये हैं ।

'गौरनुबन्ध्यः' यह वैदिक प्रयोगमें और पदमें 'उपादान-लक्षणा'का उदाहरण है । उसका अर्थ 'गायको बाँधना चाहिये' यह होता है । यज्ञमें गौके उपाकरण आदि द्वारा पूजनके लिए यहाँ उसके बाँधनेका विधान किया गया है । दूसरे लोग 'अनुबन्ध्यः' का अर्थ 'आलम्भः' 'हन्तव्यः' मारना चाहिये यह करते हैं । जैसा कि कहा जा चुका है, मीमांसक लोग केवल जातिमें शब्दकी शक्ति मानते हैं इसलिए गौ शब्दका वाच्यार्थ 'गोत्व' जाति होता है । उस जातिमें बन्धन अथवा आलम्भनरूप क्रिया सम्भव नहीं है इसलिए मुख्यार्थका बाध होता है । तब गो-शब्द बन्धनके साथ अपने 'गोत्व' जातिरूप अर्थके अन्वय-की सिद्धिके लिए व्यक्तिका आक्षेपसे बोध कराता है । इसलिए यह पदमें उपादानलक्षणा है । यह मुकुलभट्टका या मीमांसकोंका अभिप्राय है ।

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुवन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते,न तु शब्देनोच्यते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात् । इत्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या । न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम् । व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते ।

मीमांसक लोग अर्थवाद-वाक्योंको 'प्राशस्त्य' का लक्षक मानकर वाक्यमें भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। इसलिए 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' 'देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है' यह लौकिक प्रयोगमें वाक्य-लक्षणाका उदाहरण मुकुलभट्ट आदि मीमांसकोंने दिया है। इस उदाहरणमें दिनमें न खानेवाला देवदत्त मोटा हो यह बात साधारणतः सम्भव नहीं है। इसलिए मुख्यार्थका बाध होनेपर यह वाक्य अपने अन्वयकी सिद्धिके लिए रात्रि-भोजनका आक्षेप द्वारा बोध कराता है। इस दृष्टिसे यह भी उपादान-लक्षणाका उदाहरण बन जाता है। मुकुलभट्टने उपादान-लक्षणाका लक्षण तथा इन दोनों उदाहरणोंमें उस लक्षणका समन्वय करते हुए लिखा है कि—

'स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत् ।
उपादानं लक्षणन्तु तद्विपर्यासतो मतम् ॥ का० ६३ ।

यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम् । यथा 'गौरनुबन्ध्यः' इति । अत्र हि गोत्वस्य याग प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिद्ध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः । यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति । अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति ।

अत्र च 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूर्णस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति । सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते ।'

इस प्रकार मुकुलभट्टने उपादान-लक्षणाके जो दो उदाहरण दिये हैं उनका क्रमशः खण्डन करनेके लिए काव्यप्रकाशकार पहिले उनका अनुवाद करते हुए फिर उनका खण्डन करते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः'के विषयमें मुकुलभट्टके मतका अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

मुकुलभट्टके प्रथम उदाहरणका खण्डन

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादि [वाक्य] में, श्रुतिमें प्रतिपादित किया हुआ मेरा [अर्थात् गौ शब्दके मुख्यार्थ 'गोत्व' जातिका] 'अनुबन्धन' कैसे बन सके इसके [उपादनके] लिए [मुख्यार्थ] जातिसे [अमुख्यार्थभूत] व्यक्तिका आक्षेप किया जाता है। [क्योंकि गोत्वरूपी] 'विशेषणका बोध करानेमें क्षीण हुई अभिधाशक्ति [किसी भी प्रकारसे गो-व्यक्तिरूप] विशेष्यका बोध नहीं करा सकती है' इस युक्तिसे। [अतः उस विशेष्यभूत गो-व्यक्तिका बोध उपादान-लक्षणा द्वारा होता है]।

आगे उसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

यह उपादान-लक्षणाका उदाहरण [मुकुलभट्टको] नहीं देना चाहिये। क्योंकि यहाँ [लक्षणाके प्रयोजक रूढ़ि तथा प्रयोजनरूप दो मुख्य हेतुओंमेंसे] न तो कोई [विशेष] प्रयोजन ही है और न यह रूढ़ि है। किन्तु [व्यक्तिके बिना जाति रह नहीं सकती है इसलिए] अविनाभावके कारण जातिसे व्यक्तिका [अनुमान] आक्षेप किया जाता है [अतः यह लक्षणाका उदाहरण नहीं है]।

यथा 'क्रियताम्' इत्यत्र कर्ता। 'कुरु' इत्यत्र कर्म।
'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादौ 'गृहम्', 'भक्षय' इत्यादि च।

जैसे [कोई यह कहे कि] 'क्रियताम्' [तुम] 'करो' [इसमें कोई क्रिया बिना कर्ताके नहीं हो सकती है इसलिए] इत्यादिमें ['कृतिः अर्थात् यत्नः साश्रया गुणत्वात्' इस अनुमानसे] कर्ता ['त्वया'का लाभ होता है]। 'करो' यहाँ ['कृतिः सविषया कृतित्वात्' इस अनुमानसे 'पाकम्' आदि] कर्म [का आक्षेपसे लाभ होता है]। 'प्रवेश करो' और 'पिण्डीको' [इन दोनोंके कहनेपर अविनाभावसे क्रमशः] घरमें [प्रवेश करो] और [पिण्डीको] 'खाओ' इत्यादि [की अविनाभावसे प्रतीति होती है, इनमेंसे किसी भी स्थलमें लक्षणा नहीं मानी जाती है। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' में भी किसी प्रकारकी लक्षणा नहीं है। अतः उसको उपादान-लक्षणाके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत नहीं करना चाहिये]।

यहाँ 'क्रियताम्', 'कुरु', 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादि सब असम्पूर्ण वाक्य प्रयुक्त किये गये हैं। उनमें पूरकरूपसे जिन अन्य अंशोंकी अपेक्षा रहती है उनकी पूर्ति 'अध्याहार' या 'आक्षेप'के द्वारा की जाती है। अध्याहारके विषयमें मीमांसकोंमें दो प्रकारके सिद्धान्त पाये जाते हैं। कुमारिलभट्ट 'शब्दाध्याहार-वाद'के माननेवाले हैं और उनके शिष्य प्रभाकर 'अर्थाध्याहारवाद' के समर्थक हैं। ऊपर जो अध्याहारके चार उदाहरण दिये गये हैं उनमेंसे पहिले दो अर्थाध्याहारवादी प्रभाकरके अभिप्रायसे और अन्तिम दो शब्दाध्याहारवादी भट्ट-मतके अभिप्रायसे दिये गये हैं। 'क्रियाताम्' तथा 'कुरु' ये दोनों क्रियापद हैं। उनमें पहिली जगह कर्ता 'त्वया' की और दूसरी जगह कर्म 'पाकम्' आदिकी अपेक्षा है। इन दोनोंकी पूर्ति अध्याहार अथवा आक्षेपसे की जाती है। किन्तु वहाँ कर्ता तथा कर्म पदोंका अध्याहार न होकर उनके अर्थोंका अध्याहार किया जाता है इसलिए वे 'अर्थाध्याहारवाद'के पोषक उदाहरण हैं। इसके विपरीत 'प्रविश' तथा 'पिण्डीम्' इन दोनों उदाहरणोंमें अपेक्षित 'गृहम्' तथा 'भक्षय' इन पूरक अंशोंका शब्दरूपमें 'अध्याहार' किया जाता है। इसलिए ये दोनों 'शब्दाध्याहार'के उदाहरण हैं। ग्रन्थकारने इन उदाहरणोंको इसलिए प्रस्तुत किया है कि जिस तरह यहाँ कर्ता या कर्मके बिना क्रिया-पदोंका अन्वय सम्भव न होनेसे अविनाभाव द्वारा उन पदों या उनके अर्थोंका अध्याहार या आक्षेप किया जाता है उसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उदाहरणोंमें व्यक्तिके बिना जाति नहीं रह सकती है इसलिए अविनाभाव द्वारा जातिसे व्यक्तिका अध्याहार या आक्षेप किया जाता है। व्यक्तिका बोध लक्षणासे नहीं होता है। अतः इसको उपादान-लक्षणाके उदाहरणरूपमें प्रस्तुत करना उचित नहीं है।

मुकुलभट्टका दूसरा उदाहरण, उसका खण्डन

मुकुलभट्टने इसी प्रकार 'उपादानलक्षणा' का दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह दिया है। इस उदाहरणमें विशेषता यह है कि यह 'पद-लक्षणा' के बजाय 'वाक्यलक्षणा' का उदाहरण है। मीमांसक लोग 'अर्थवाद' वाक्योंकी 'प्राशस्त्य' में लक्षणा मानकर वाक्यमें भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' इस उदाहरणमें गौपदमें लक्षणा थी तो यहाँ पूरे वाक्यमें लक्षणा है, इस दृष्टिसे यह उदाहरण दिया गया है। इस उदाहरणमें लक्षणाका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारने रात्रिभोजनको 'श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति'का विषय बतलाया है। अर्थात् यहाँ रात्रि-भोजनका ज्ञान लक्षणासे नहीं, अपितु अर्थापत्तिप्रमाणसे होता है इसलिए यह भी उपादान-लक्षणाका उदाहरण नहीं हो सकता है। वह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थार्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात् ।

'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।

उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रितत्वात् ।

अर्थापत्ति लक्षणा नहीं

मीमांसक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंके समान अर्थापत्तिको भी अलग प्रमाण मानते हैं और उसका लक्षण "अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः" इस प्रकार करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि किसी अनुपपद्यमान अर्थको देखकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना जिस प्रमाणके द्वारा की जाती है उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं । जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ 'देवदत्त मोटा है' यह अनुपपद्यमान अर्थ है और 'रात्रिभोजन' उसका उपपादकीभूत अर्थ है । यदि देवदत्त दिनमें न खाय और रात्रिमें भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता है । दिनमें न खानेवाला व्यक्ति रात्रिभोजनके बिना पीन नहीं हो सकता । इसलिए यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ दिवा अभुञ्जानके पीनत्वको देखकर उसके उपपादक रात्रिभोजनकी कल्पना अर्थापत्तिके द्वारा होती है ।

यह अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है—एक दृष्टार्थापत्ति और दूसरी श्रुतार्थापत्ति । जहाँ अनुपपद्यमान अर्थको स्वयं आँखोंसे देखकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना की जाती है वह दृष्टार्थापत्ति कहलाती है और जहाँ किसी अन्यके मुखके अनुपपद्यमान अर्थको सुनकर उसके उपपादक अर्थकी कल्पना की जाती है वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है । 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यही दोनों प्रकारकी अर्थापत्तियोंका उदाहरण बन सकता है ।

यहाँ ग्रन्थकारने दृष्टार्थापत्तिके स्थानपर अर्थार्थापत्ति शब्दका प्रयोग किया है । यह प्रयोग पूर्वोक्त अर्थाध्याहारवादकी दृष्टिसे किया गया है । श्रुतार्थापत्ति-पक्षमें यहाँ रात्रिभोजनका ज्ञान "रात्रौ भुङ्क्ते" इस शब्दके अध्याहारसे होता है और अर्थार्थापत्ति-पक्षमें शब्दका अध्याहार न करके साक्षात् रात्रिभोजनरूप अर्थका आक्षेपसे ज्ञान होता है । इस प्रकार इन दोनों मीमांसक-सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे ही यहाँ ग्रन्थकारने श्रुतार्थापत्ति तथा अर्थार्थापत्ति शब्दोंका प्रयोग किया है ।

और 'देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिनमें नहीं खाता है, यहाँ रात्रि-भोजन लक्षणासे उपस्थित नहीं होता है । क्योंकि वह श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्तिसे सिद्ध होता है ।

लक्षण-लक्षणाका उदाहरण

इस प्रकार मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत किये गये उपादान-लक्षणाके दोनों उदाहरणोंका खण्डन ग्रन्थकारने यहाँतक कर दिया है । अपने मतके अनुसार उपादान-लक्षणाके 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि उदाहरण वे पहले ही दे चुके हैं । इसलिए अब क्रमप्राप्त 'लक्षण-लक्षणा'का 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण देते हैं । 'लक्षण-लक्षणा'का यही उदाहरण मुकुलभट्टने भी दिया है ।

'गङ्गायां घोषः' इसमें [वाक्यके भीतर प्रयुक्त हुए] घोषके अधिकरणत्वकी सिद्धिके लिए 'गङ्गा' शब्द अपने [जलप्रवाहरूप मुख्य] अर्थका परित्याग कर देता है, इसलिए इस प्रकारके उदाहरणोंमें यह 'लक्षण-लक्षणा' होती है ।

यह दोनों प्रकारकी [लक्षणा] उपचारसे मिश्रित न होनेके कारण शुद्धा है ।

'गङ्गायां घोषः' उदाहरणका विश्लेषण

लक्षण-लक्षणाका दूसरा नाम, जो वेदान्त-शास्त्रमें मुख्यतः प्रयुक्त होता है, 'जहत्स्वार्था-लक्षणा' भी है। 'जहत्स्वार्था' तथा 'लक्षण-लक्षणा' दोनों ही नामोंका अभिप्राय यह है कि यहाँ लक्षक पद दूसरे पदोंके अन्वयकी सिद्धिके लिए अपने मुख्यार्थका परित्याग कर देता है। यह 'जहत्स्वार्था' या लक्षण-लक्षणाके अनेक उदाहरणोंमें 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। मुकुलभट्टने भी यह उदाहरण दिया है और 'काव्यप्रकाश'की अपेक्षा अधिक विस्तारसे कई बार उन्होंने इस उदाहरणके अर्थका विवेचन किया है। इस उदाहरणमें 'लक्षण-लक्षणा'के लक्षणका समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है—

"यत्र तु पूर्वोदितोपादानरूपविपर्यासिसंश्रयात् न स्वार्थसिद्धयर्थतया अर्थान्तरस्याक्षेपः अपितु अर्थान्तरसिद्धयर्थत्वेन स्वसमर्पणम्, तत्र लक्षणम्, यथा पूर्वमुदाहृतं 'गङ्गायां घोषः' इति। अत्र हि तटस्य घोषाधारतया धारणक्रियान्वितस्य गङ्गाशब्देन स्वसमर्पणं क्रियते। अतो अर्थान्तरभूतं तटमवगमयितुं गङ्गाशब्देन स्ववाच्यभूतः स्रोतोविशेषोऽत्र समर्प्यते, इति अर्थान्तरसिद्धयर्थत्वेन स्वसमर्पणम्। एवं चात्र पूर्वोदितोपादनरूपविपर्यासाल्लक्षणत्वम्।" (पृ० ७)

इसका यह अभिप्राय हुआ कि तटके घोषका आधार होनेके कारण उस अर्थान्तर तटके अन्वयकी सिद्धिके लिए गङ्गाशब्द अपने अर्थको छोड़ देता है और तटका लक्षणसे बोध कराता है। अतः यहाँ लक्षण-लक्षणा है। इसीका अनुवाद काव्यप्रकाशकारने 'तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति' इन शब्दोंमें कर दिया है।

परन्तु इस उदाहरणमें यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती है कि लक्षणा करनेके बाद यहाँ केवल 'तटे घोषः' इतना ही अर्थ प्रतीत होता है अथवा गङ्गा अर्थका सम्बन्ध भी तटके साथ जुड़ा रहता है और 'गङ्गातटे घोषः' यह अर्थ प्रतीत होता है। मुकुलभट्टने आगे चलकर 'तटस्थे लक्षणा शुद्धा' इत्यादि पञ्चम कारिकाकी व्याख्यामें इस प्रश्नपर कुछ प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—

"गङ्गायां घोषः' इत्यत्र घोषाधिकरणभूततटोपलक्षणाभिसन्धानेन गङ्गायां घोषो न वितस्तायामिति गङ्गाशब्दे प्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेन उपरागो न प्रतीयते। तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्।" (पृ० ६)

इसका अभिप्राय यह हुआ कि गङ्गा शब्दसे जो तटरूप अर्थ उपस्थित होता है वह केवल तटरूपसे उपस्थित होता है। गङ्गासे उपरक्त या सम्बद्ध तटके रूपमें उपस्थित नहीं होता है। गङ्गा शब्दके प्रयोगसे केवल इतनी विशेषता हो जाती है कि वितस्ता नदीका तट नहीं उपस्थित होता है।

मुकुलभट्टका यह सिद्धान्त 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' है। मम्मटाचार्य अभी इसका खण्डन करेंगे। प्रकृतमें इस व्याख्यासे जो शंका उपस्थित हुई थी उसका कुछ परोक्ष-सा समाधान तो होता है कि गङ्गा शब्द अपने मुख्यार्थको बिलकुल छोड़ देता है। परन्तु यह समाधान कुछ शाब्दिक-सा समाधान ही प्रतीत होता है; क्योंकि वह तट वितस्ता (झेलम) नदीका नहीं, गङ्गा नदीका ही है। इस रूपमें भी गङ्गारूप लक्षक पदका तटरूप लक्ष्यार्थके साथ सम्बन्ध प्रतीत होता ही है। तब यह पद जहत्स्वार्था या 'लक्षण-लक्षणा'का उदाहरण कैसे हो सकता है यह एक समस्या बनी ही रहती है।

न्यायमें लक्षण-लक्षणाका उदाहरण

न्यायके ग्रन्थोंमें परम्परा-सम्बन्धसे होनेवाली लक्षणाको लक्षण-लक्षणा कहा गया है और उसका उदाहरण 'द्विरेफः' यह दिया गया है। 'द्विरेफ' पदका वाच्यार्थ दो रेफसे युक्त 'भ्रमर' पद होता है। 'भौंरा' अर्थ उससे 'लक्षण-लक्षणा' द्वारा बोधित होता है।

लक्षण-लक्षणाका अधिक स्पष्ट उदाहरण

मुकुलभट्टके मतमें तो फिर भी कुछ समाधान-सा हो सकता है परन्तु काव्यप्रकाशकारके मतमें उतना भी आधार नहीं मिलता, क्योंकि उन्होंने आगे मुकुलभट्टके इस सिद्धान्तका खण्डन करके 'गङ्गात्वेन' या गङ्गाके साथ अभेदसम्बन्धसे ही तटकी उपस्थिति मानी है। उस अवस्थामें गङ्गा शब्द अपने अर्थको छोड़कर केवल तटका बोध कराता है, यह बात और भी दुरूह-सी हो जाती है और साधारण विद्यार्थीकी बुद्धिमें नहीं बैठती है। इसलिए इस प्रकारका कोई दूसरा उदाहरण ऐसा होना चाहिये जिसमें यह स्पष्टरूपसे प्रतीत हो सके कि यहाँ शब्द अपने मुख्यार्थको छोड़कर केवल लक्ष्यार्थका ही बोध करा रहा है। काव्यप्रकाशकारने आगे चतुर्थ उल्लासके आरम्भमें सू० २६ में लक्षणामूल ध्वनिके 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' नामक भेदका जो उदाहरण दिया है वह इस दृष्टिसे 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा'का बहुत सुन्दर उदाहरण हो सकता है। वह उदाहरण निम्नलिखित प्रकार है—

[1]'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥'

किसी अत्यन्त अपकार करनेवाले व्यक्तिके प्रति उसके अपकारसे पीड़ित व्यक्तिकी यह उक्ति है। इसमें 'आपने बड़ा उपकार किया' यह 'उपकृतम्' शब्दका मुख्यार्थ बाधित होता है। इसलिए उपकृत शब्द अपने अर्थको छोड़कर 'अपकृतम्' अर्थको 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा' से बोधित करता है। इसी प्रकार 'सुजनता', 'सखे', 'सुखितमास्स्व' आदि शब्द भी अपने अर्थोंको छोड़कर अपनेसे विपरीत 'दुर्जनता', 'शत्रो', 'सद्यः म्रियस्व' आदि अर्थोंको लक्षणासे बोधित करते हैं और अपकारातिशय व्यङ्ग्य होता है। इस प्रकार 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था-लक्षणा'का यह उदाहरण बिलकुल स्पष्ट है। 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण उतना स्पष्ट नहीं है।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणाविषयक मम्मटमत

इस प्रकार उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणाके नामसे जो दो प्रकारकी लक्षणा दिखलायी गयी है इसे मम्मट तथा मुकुलभट्ट दोनोंने शुद्धा लक्षणा माना है। शुद्धासे भिन्न लक्षणाका दूसरा भेद गौणी-लक्षणा नामसे कहा जाता है। इन शुद्धा तथा गौणी-लक्षणाओंका परस्पर-भेदक धर्म क्या है इसके विषयमें भी मुकुलभट्ट तथा मम्मटका मतभेद है। जैसा कि ऊपरकी मूल-ग्रन्थकी पंक्तिसे प्रतीत होता है, मम्मटाचार्य 'उपचार' को शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म मानते हैं। 'उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेण अमिश्रितत्वात्' इस पंक्तिसे विदित होता है कि मम्मटके मतमें उपचारसे रहित लक्षणा 'शुद्धा' तथा उपचारसे युक्त लक्षणा 'गौणी' कही जाती है। उपचारका लक्षण 'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्' यह किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थोंमें अतिशय सादृश्यके कारण उनके भेदकी प्रतीतिका न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे किसी पुरुष या बालकमें शौर्य, क्रौर्य आदिके सादृश्यातिशयके कारण 'सिंहो माणवकः' 'यह बच्चा शेर है' आदि प्रयोग उपचार-मूलक होते हैं; इसलिए गौण प्रयोग कहे जाते हैं। इन सबमें गौणी लक्षणा होती है और जहाँ सादृश्यसम्बन्धके अतिरिक्त सामीप्य आदिरूप कोई अन्य सम्बन्ध लक्षणाका प्रयोजक होता है वहाँ शुद्धालक्षणा होती है। इस प्रकार मम्मटाचार्यने उपचारके अमिश्रण तथा मिश्रणको शुद्धा तथा गौणी लक्षणाका भेदक धर्म माना है।

१. 'सुभाषितावली'में यह पद्य रविगुप्तके नामसे दिया गया है।

शुद्धा तथा गौणीविषयक मुकुलभट्टका मत

परन्तु मुकुलभट्टका मत इससे भिन्न है। वे 'उपचार'को 'शुद्धा' तथा 'गौणी'का भेदक धर्म नहीं मानते हैं। उनके मतमें उपचारका मिश्रण शुद्धामें भी होता है और गौणीमें भी। इसलिए उन्होंने 'शुद्धोपचार' तथा 'गौणोपचार' भेदसे उपचारमिश्रा लक्षणाके दो भेद करके फिर उनके 'सारोपा' तथा 'साध्यवसाना' दो भेद किये हैं। इस प्रकार उपचारमिश्रा-लक्षणाके चार भेद तथा शुद्धा-लक्षणाके उपादान-लक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा दो भेद कुल मिलाकर लक्षणाके छह भेद किये हैं।

[1] 'द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च। तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते। यथा 'आयुर्घृतम्' इति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावलक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वकार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचारः।

गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगत-गुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते। यथा 'गौर्वाहीकः' इति। अत्र हि गोगतजाड्य-मान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्दगोत्वयोरुपचारः।

केचित्तु उपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्। तदयुक्तम्, शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्। एवमयमुपचारः शुद्ध-गौणभेदेन द्विविधोऽभिहितः।'

इस प्रकार मुकुलभट्टने उपचारके शुद्धोपचार तथा गौणोपचार रूपसे दो भेद किये हैं। उनके यहाँ उपचारका अर्थ अन्यके लिए अन्य शब्दका प्रयोग है। जहाँ अन्यके लिए अन्यके वाचक शब्दका प्रयोग सादृश्यके कारण होता है वहाँ 'गौण उपचार, होता है और जहाँ सादृश्यसे भिन्न कार्यकारणभाव आदिके कारण अन्यके लिए अन्य शब्दका प्रयोग होता है वहाँ 'शुद्धोपचार' होता है। जैसे 'आयुर्घृतम्' इस उदाहरणमें आयुके कारणभूत घृतके लिए आयु शब्दका प्रयोग किया गया है यह शुद्धोपचारका उदाहरण है। और 'गौर्वाहीकः'में वाहीकदेशवासी पुरुषमें गौके सदृश जाड्य, मान्द्य आदि गुणोंका योग होनेसे गौशब्दका प्रयोग किया गया है। यह वाहीकके लिए गौशब्दका प्रयोग गुणोंके सादृश्यके कारण होनेसे 'गौण' उपचार कहलाता है। इस प्रकार उपचारके भी शुद्ध और गौण रूप होनेसे उपचारको शुद्धा तथा गौणीका भेदक नहीं माना जा सकता है।

इसलिए मुकुलभट्टने उपचारके स्थानपर 'ताटस्थ्य' अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थके भेदको शुद्धा तथा गौणीका भेदक धर्म माना है। अर्थात् मुकुलभट्टके मतानुसार गौणी-लक्षणामें सादृश्यातिशयके कारण लक्ष्य तथा लक्षकका अभेद प्रतीत होता है, जैसे 'गौर्वाहीकः'में गौ तथा वाहीक अर्थोंका अभेद प्रतीत होता है। तभी उन दोनों पदोंका समानाधिकरण-प्रयोग किया जाता है। परन्तु शुद्धालक्षणामें अर्थात् उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणामें लक्ष्य तथा लक्षकका अभेद नहीं, अपितु भेद या 'ताटस्थ्य' होता है। उपादान-लक्षणाके 'कुन्ताः प्रविशन्ति' और लक्षण-लक्षणाके 'गङ्गायां घोषः' इन दोनों उदाहरणोंमें लक्ष्य तथा लक्षक अर्थोंका अभेद नहीं, अपितु भेदरूप 'ताटस्थ्य' प्रतीत होता है। इसलिए मुकुलभट्टके सिद्धान्तमें—'तटस्थे लक्षणा शुद्धा'—शुद्धा लक्षणा तटस्थमें होती है। शुद्धा-लक्षणामें लक्ष्य और लक्षक अर्थोंका 'ताटस्थ्य' अर्थात् भेद प्रतीत होता है और गौणी लक्षणामें लक्ष्य-लक्षक अर्थोंका अभेद प्रतीत होता है। यह इन दोनोंका भेद है।

---

१. 'अभिधावृत्तिमातृका', पृष्ठ ७-८।

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् । तटादीनां हि गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः । गङ्गासम्बन्धमात्र-प्रतीतौ तु 'गङ्गातटे घोषः' इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः ।

[सू० १४] सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

[सू० १५] विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

विषयिणारोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात् ।

मुकुलभट्टके 'ताटस्थ्य'-सिद्धान्तका निराकरण

परन्तु मम्मटाचार्य इससे सहमत नहीं हैं । इसलिए अगले अनुच्छेदमें उन्होंने मुकुलभट्टके इस सिद्धान्तका खण्डन करते हुए लिखा है कि—

[शुद्धा-लक्षणाके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा] इन दोनों भेदोंमें लक्ष्य [अर्थ] और लक्षक [अर्थ] का [अर्थात् गङ्गाके जल-प्रवाहरूप लक्षक अर्थ तथा तीररूप लक्ष्यार्थका] भेद-प्रतीतिरूप 'ताटस्थ्य' नहीं [माना जा सकता] है । [क्योंकि लक्ष्यरूप] तट आदि [अर्थों] के गङ्गा आदि शब्दोंसे प्रतिपादन करनेमें [तत्त्व अर्थात् गङ्गात्वकी अथवा लक्ष्य तथा लक्षक, तीर तथा जलप्रवाहके] अभेदकी प्रतीति होनेपर ही [शैत्य-पावनत्वादि धर्मोंके अतिशयरूप] अभीष्ट प्रयोजनोंकी प्रतीति हो सकती है । [यदि तटमें तत्त्व अर्थात् गङ्गात्व अथवा गङ्गाशब्दके मुख्यार्थ जलप्रवाहके साथ अभेदकी प्रतीति न होकर] केवल गङ्गाका सम्बन्धमात्र प्रतीत होनेपर ['गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक शब्दके स्थानपर 'गङ्गातटे घोषः'] 'गङ्गाके किनारे घोष है, इस मुख्य शब्दसे कथन करनेसे लक्षणाका क्या भेद होगा ।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणाके दो-दो भेद

इस प्रकार शुद्धाके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दो भेदोंके करनेके बाद अब ग्रन्थकार शुद्धा और गौणी दोनों लक्षणाके सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो-दो भेद करके चार भेद दिखलायेंगे और उन चारोंके साथ आदिके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दोनों भेदोंको जोड़कर लक्षणाके कुल छह भेद सिद्ध करेंगे । पहिले सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद करते हैं—

[सू० १४]—जहाँ आरोप्यमाण [उपमान] तथा आरोपविषय [उपमेय] दोनों शब्दतः कथित होते हैं वह दूसरी [गौणी] सारोपा लक्षणा होती है ।

आरोप्यमाण [उपमान] तथा आरोप-विषय [उपमेय] जहाँ दोनों, स्वरूपका अपह्नव किये बिना, [शब्दतः] सामानाधिकरण्यसे निर्दिष्ट किये जाते हैं वह सारोपा लक्षणा होती है ।

[सू० १५]—और विषयी [अर्थात् आरोप्यमाण, उपमान] के द्वारा दूसरे [अर्थात् आरोप-विषयरूप उपमेय] का [अपने भीतर] अन्तर्भाव कर लिये जानेपर वह साध्यवसानिका लक्षणा हो जाती है ॥११॥

विषयी अर्थात् आरोप्यमाण [उपमान] के द्वारा अन्य अर्थात् आरोपके विषय [उपमेय] के निगीर्ण कर लिये जानेपर साध्यवसाना लक्षणा होती है ।

[सू० १६] भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ ।

इमौ आरोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च ।

अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाडचमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गो-शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् ।

सारोपा तथा साध्यवसानाके शुद्धा और गौणी दो भेद

[सू० १६]—ये [सारोपा तथा साध्यवसानारूप] दोनों भेद सादश्यसे तथा [सादृश्यको छोड़कर] अन्य सम्बन्धसे [सम्पन्न] होनेपर [क्रमशः] गौण तथा शुद्ध [लक्षणाके] भेद समझने चाहिये ।

गौणी सारोपा तथा साध्यवसानाके उदाहरण

ये सारोपा तथा साध्यवसानारूप भेदसादश्य-हेतुक होनेपर 'गौर्वाहीकः' 'वाहीक देशका वासी पुरुष गौ है' और 'यह गौ है' इनमें हैं । [और सादृश्यमूलक होनेसे वे गौणी लक्षणाके भेद कहलाते हैं] ।

यहाँ ग्रन्थकारने 'गौर्वाहीकः' सारोपा लक्षणाके और 'गौरयम्' साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किया है । लक्षणाके अन्य उदाहरणोंके समान ये दोनों भी ग्रन्थकारने '[1]पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्रके महाभाष्यमेंसे उद्धृत किये हैं । वाहीक किसी देशका नाम था । ऐसा जान पड़ता है, भारतकी उत्तरी सीमाके परे 'अपगान-स्थान' अफगानिस्तान आदि देश उन दिनों वाहीक नामसे व्यवहृत होते थे । अन्य लोग 'बहिर्भवो वाहीकः' व्युत्पत्तिके आधारपर शास्त्रीय आचारका पालन न करनेवालेको 'वाहीक' कहते हैं ।[2] 'वहिषष्टिलोपो यच्च' 'ईकक् च' इन दो वार्तिकोंके द्वारा बहिः शब्दके टि-भागका लोप और ईकक्-प्रत्यय करके 'बवयोरभेदः'के सिद्धान्तके अनुसार ब-वका अभेद मानकर 'वाहीक' शब्द सिद्ध होता है । इसलिए उसकी दोनों प्रकारकी व्याख्या की जा सकती है । यहाँ गौ आरोप्यमाण [उपमान] और वाहीक आरोपविषय [उपमेय] है । दोनोंका सामानाधिकरण्यसे शब्दतः प्रतिपादन इस वाक्यमें है । इसलिए दोनोंके स्वरूपके अनपह्नुत होनेके कारण यह सारोपा लक्षणाका उदाहरण है । इसके विपरीत 'गौरयम्'में आरोपविषय वाहीकका शब्दतः उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण गौके द्वारा निगीर्ण हो गया है । इसलिए वह साध्यवसाना लक्षणाका उदाहरण है । सादृश्यमूलक होनेके कारण दोनों गौणी लक्षणाके उदाहरण हैं । 'गौरयम्'में 'अयम्' पदसे आरोपविषयका संकेत मिल जानेसे वह साध्यवसानाका ठीक उदाहरण नहीं बनता है । उसके स्थानपर 'गौर्जल्पति' उदाहरण अधिक अच्छा है ।

गौणी साध्यवसानाविषयक तीन मत

'गौर्जल्पति' आदि गौणी साध्यवसानाके उदाहरणोंमें लक्षणा-वृत्तिसे बोध्य—लक्ष्य—अर्थ क्या है इस विषयमें मम्मटने तीन पक्षोंको निम्नलिखितरूपमें प्रस्तुत किया है—

१—यहाँ ['गौरयम्' आदि उदाहरणोंमें गो-शब्दके] अपने अर्थके सहचारी जाडच, मान्द्य [मूर्खता, आलस्य] आदि गुण, लक्षणा द्वारा बोधित होकर भी, गो-शब्दके [द्वारा वाहीकरूप] दूसरे अर्थको अभिधासे बोधित करनेमें प्रवृत्ति-निमित्त बन जाते हैं यह कोई [विवेचक] मानते हैं ।

---

१. 'अष्टाध्यायी' ४, १, ४८ ।

२. 'अष्टाध्यायी' ४, १, ८५ पर वार्तिक ।

स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

२—[गो-शब्दके] अपने अर्थके सहचारी [जाड्य, मान्द्य आदि] गुणोंसे अभिन्न रूपमें वाहीक-गत गुण ही लक्षितहोते हैं [परन्तु वे वाहीक अर्थके अभिधया बोधन में प्रवृत्ति-निमित्त नहीं होते हैं] यह अन्य मानते हैं।

३—[गौ तथा वाहीक दोनोंके] समान गुणोंके आश्रयरूपसे वाहीक अर्थ ही लक्षणासे उपस्थित होता है यह अन्य लोग [मुकुलभट्ट और मीमांसक] मानते हैं।

'स्वीयाः' व्याख्याका विवेचन

यहाँ ग्रन्थकारने तीन मतोंका उल्लेख किया है। परन्तु वे किन-किन आचार्यों या सम्प्रदायोंके मत हैं इसका कोई निर्देश नहीं किया है और इन मतोंकी खण्डन-मण्डनात्मक अपनी कोई टिप्पणी भी नहीं दी है। परन्तु उनके टीकाकारोंने अन्तिम मतको उनका अपना मत कहा है। अन्तिम मतके साथ ग्रन्थकारने 'इत्यपरे' इस पदका प्रयोग किया है। टीकाकारोंने इस 'अपरे' पदका 'न परे इति अपरे' इस प्रकारका समास करके उसका अर्थ 'स्वीयाः' किया है। इस प्रकार इस मतको 'स्वीय' अर्थात् अपने लोगोंका मत टीकाकारोंने बतलाया है। परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है। जैसा पहिले कहा जा चुका है, मम्मट तथा अन्य साहित्यशास्त्रियोंने अधिकांश दार्शनिक सिद्धान्त व्याकरणशास्त्रसे ही लिये हैं। इसलिए उनके 'स्वीय' वैयाकरण ही हो सकते हैं। पर काव्यप्रकाशकारने इस अन्तिम मतके समर्थनके लिए आगे 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' आदि जो कारिका उद्धृत की है वह कुमारिलभट्टकी अर्थात् मीमांसकोंकी कारिका है। उसके यहाँ उद्धृत करनेसे यह स्पष्ट है कि यह मत मीमांसकोंका है। 'अपरे' पदकी 'स्वीयाः' व्याख्या करनेवालोंने 'स्वोक्तेऽर्थे पूर्वमीमांसकसम्मतिमाह' लिखकर इस मतका समर्थन मीमांसक-मतके द्वारा कराया है। परन्तु जब मम्मट अन्य जगह वैयाकरणोंके सिद्धान्तका अनुसरण करते रहे हैं तो यहाँ उसको छोड़कर मीमांसक-मतका अनुसरण क्यों कर रहे हैं इस बातकी सङ्गति नहीं लगती है। इसलिए 'अपरे'की 'स्वीयाः' व्याख्या करना ठीक नहीं जँचता है। अतः अन्तिम मतको मीमांसकोंका मत मानना चाहिये।

मम्मटने अपने शक्तिविवेचनके प्रकरणमें मुकुलभट्टकी 'अभिधावृत्तिमातृका'का बहुत अधिक उपयोग किया है। उन्होंने पहिले मुकुलभट्टकी 'अभिधावृत्तिमातृका'का खण्डन करनेके लिए 'शब्द-व्यापारविचार' नामक अपने एक छोटेसे प्रकरण-ग्रन्थकी रचना की थी जिसमें मुकुलभट्टके मतसे जिन अंशोंमें वे सहमत नहीं थे उनका खण्डन किया था। शेष जिन अंशोंमें उनका मतभेद नहीं था उनका मुकुलभट्टके आधारपर अपने ग्रन्थमें विवेचन कर दिया था। 'काव्यप्रकाश'में यह जो शक्तियोंके विवेचन-का प्रकरण चल रहा है वह सब मम्मटके उसी 'शब्दव्यापारविचार'के आधारपर लिया गया है। अधिकांश पंक्तियाँ ज्यों की त्यों 'शब्दव्यापारविचार'से उद्धृत कर दी गयी हैं। इसलिए लक्षणाके इस विवेचनमें भी 'काव्यप्रकाश'पर मुकुलभट्टकी छाया पड़ी है। ऊपर उपादानलक्षणाके मुकुलभट्ट द्वारा दिये गये दो उदाहरणोंका ग्रन्थकारने जो खण्डन किया है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि इस प्रकरणके लिखते समय मुकुलभट्टका ग्रन्थ उनकी दृष्टिमें था और उसकी छाया उनके इस विवेचनपर भी पड़ रही है। इसलिए यद्यपि उन्होंने यहाँ मुकुलभट्टका न नाम लिया है और न ठीक उनके शब्दोंमें उनके मतको उपस्थित किया है फिर भी यह उनके मतका ही उल्लेख प्रतीत होता है। परन्तु यहाँ मम्मटने उनके मतको अपना लिया है। अतः वह उनका भी मत बन गया है।

मुकुलभट्टने इस विषयकी विवेचना करते हुए लिखा है ।

[1]'अत्र हि गोगतजाडचमान्द्यादिसदृशजाडचमान्द्यादियोगाद्वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः । केचित्तु शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम् । तदयुक्तम् । शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्' ।

इसका अर्थ यह हुआ कि गो-गत जाडच, मान्द्य आदि गुणोंके सदृश जाडच, मान्द्य आदि गुण वाहीकमें भी पाये जाते हैं इसलिए वाहीकमें 'गोशब्द' तथा गो-शब्दके अर्थ 'गोत्व' दोनोंका उपचारसे प्रयोग होता है । कुछ लोग केवल गोशब्दका उपचार या आरोप वाहीकमें मानते हैं, उनका सिद्धान्त मुकुलभट्टकी दृष्टिमें उचित नहीं है; क्योंकि अर्थका आरोप किये बिना शब्दका आरोप नहीं किया जा सकता । इसलिए गोगत जाडच, मान्द्य आदि गुणोंके सदृश गुणोंका वाहीकमें योग होनेसे उसमें गो-शब्द तथा गो-अर्थ 'गोत्व' दोनोंका आरोप होता है ।

मुकुलभट्टकी इस पंक्ति तथा तीसरे मतका प्रतिपादन करनेवाली 'काव्यप्रकाश'की पंक्तिमें अत्यन्त समानता है । मुकुलभट्टके 'गोगतजाडचमान्द्यादिसदृश-जाडचमान्द्यादियोगात्'के स्थानपर मम्मटने 'साधारणगुणाश्रयत्वेन' पदका प्रयोग किया है और 'वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः'के स्थानपर 'परार्थ एव लक्ष्यते' इस वाक्यकी रचना की है । इन दोनों वाक्योंकी तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पंक्तिमें मम्मट अपनी संक्षेप लेखनशैलीमें मुकुलभट्टके मतका ही अनुवाद कर रहे हैं ।

जैसा कि 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इन उदाहरणोंके विवेचनके प्रसङ्गमें दिखलाया जा चुका है, मुकुलभट्टने अपने विषयके प्रतिपादनमें प्रायः मीमांसासे सहायता ली है । मम्मट आदिने जहाँ अपने विवेचनमें उदाहरण आदि वैयाकरणोंसे लिये हैं और उन्हींके मतको अपनाया है वहाँ मुकुलभट्टने अपने विवेचनमें प्रायः मीमांसकोंके सिद्धान्तों तथा उदाहरण आदिको अपनाया है । इस दृष्टिसे विचार किया जाय तो भी 'काव्यप्रकाश'में जो मीमांसकाभिमत मत दिया गया है वह मुकुलभट्टका ही मत होना चाहिये । उसकी सङ्गति भी मुकुलभट्टके विवेचनके साथ मिल जाती है । क्योंकि यही नहीं, अपितु गौण उपचारका निरूपण करते हुए मुकुलभट्टने जो लिखा है उसकी छाया भी 'काव्यप्रकाश'की इस पंक्तिपर स्पष्ट दिखलायी देती है ।

[2]"गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते । स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते । यथा 'गौर्वाहीकः' इति ।'

इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—एक तो 'सदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्य' शब्दका प्रयोग और दूसरा 'गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी' इस व्युत्पत्तिका प्रदर्शन । मम्मटने तीसरे मतके प्रदर्शनमें 'साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते' यह जो लिखा है उसका 'सदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्य'के साथ अर्थसादृश्य पर्याप्त मात्रामें पाया जाता है । दूसरे इस मतके समर्थनमें जो कुमारिलभट्टकी कारिका मम्मटने उद्धृत की है उसके उत्तरार्द्ध 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता'के साथ मुकुलभट्टकी 'स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते' इस पंक्तिकी पूर्णतः सङ्गति लगती है इन सब कारणोंसे हमारे मतसे 'काव्यप्रकाश'में दिखलाया हुआ तीसरा मत मुकुलभट्टका मत है । और 'अपरे' की 'स्वीयाः' यह व्याख्या उचित नहीं है ।

इस विषयमें मुकुलभट्टका मत मम्मटको अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इसलिए वे उसके समर्थनमें 'श्लोकवार्तिक'से अगली कारिका उद्धृत करते हैं—

१-२. 'अभिधावृत्तिमातृका', पृष्ठ ७-८ ।

उक्तं चान्यत्र—

"अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।" इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रं न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादौ न लक्षणा स्यात् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

दूसरी जगह (अर्थात् कुमारिलभट्टके 'श्लोकवार्तिक' नामक ग्रन्थमें) कहा भी है—

'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे' यह इससे पहिला कारिका-भाग है । इसका अर्थ है कि 'मुख्यार्थके अन्य प्रमाणोंसे बाधित होनेपर' । इस अंशको मिलाकर ही कारिकाको उद्धृत करना उचित था । क्योंकि उसके बिना अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है । उसको मिलाकर अर्थ इस प्रकार होगा कि—

[मुख्यार्थका अन्य प्रमाणोंसे बाध होनेपर] अभिधेय [मुख्यार्थ] से सम्बद्ध [अविनाभूत] अर्थकी प्रतीति [करानेवाली शक्ति] 'लक्षणा' कहलाती है और लक्ष्यमाण [जाड्य-मान्द्य आदि] गुणोंके [वाहीकमें रहने रूप] योगसे [इस लक्षणा] वृत्तिकी गौणता हो जाती है [अर्थात् 'गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणी' लक्षणा कहलाती है] ।

[कारिकामें प्रयुक्त] 'अविनाभाव' शब्दसे यहाँ सम्बन्धमात्र समझना चाहिये, नान्तरीयकत्व अर्थात् व्याप्ति नहीं । क्योंकि व्याप्ति या नान्तरीयकत्व अर्थ लेनेपर [तत्त्वे] 'मचान पुकारते हैं' इत्यादिमें [मञ्च पदकी मञ्चस्थ पुरुषके अर्थमें] लक्षणा नहीं होगी और अविनाभाव [व्याप्ति] होनेपर तो आक्षेप [अनुमान] से ही [लक्ष्यमाण अर्थके] सिद्ध हो जानेसे लक्षणाकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।

इस अन्तिम मतके उपपादनमें जो अन्य मतोंकी अपेक्षा अधिक रुचि मम्मटने दिखलायी है, इससे यह प्रतीत होता है कि इस मतमें उनको विशेष सार दिखलायी देता है । इसलिए इस विषयमें उन्होंने मुकुलभट्टके मतको अपना लिया है । अर्थात् मुकुलभट्टका मत उनका अपना मत कहा जा सकता है; यदि वे उससे सहमत न होते तो उसका खण्डन अवश्य करते ।

शुद्धा सारोपा-साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण

इस प्रकार गौणी-सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण देनेके बाद शुद्धा-सारोपा तथा शुद्धा-साध्यवसाना लक्षणाके उदाहरण देते हैं ।

'घी आयु है' अथवा 'यह [घी] आयु ही है' इत्यादिमें सादृश्यसे भिन्न कार्य-कारण-भाव आदि अन्य सम्बन्ध [लक्षणाके प्रयोजक] हैं । इस प्रकारके उदाहरणोंमें कार्य-कारणभाव सम्बन्धपूर्वक आरोप तथा अध्यवसान होते हैं । [अर्थात् 'आयुर्घृतम्'में आरोप्यमाण आयु तथा आरोप-विषय घृत दोनोंके अनपह्नुत-स्वरूप अर्थात् शब्दतः उपात्त होनेसे शुद्धा-सारोपा तथा 'आयुरेवेदम्'में आरोप-विषय घृतके शब्दतः उपात्त न होने अर्थात् अपह्नुत-स्वरूप होनेसे साध्यवसाना-लक्षणा होती है] ।

'आयुरेवदम्'में 'इदं' सर्वनामसे आरोपविषयका संकेत हो ही जाता है । अतः वह 'साध्यवसाना'का ठीक उदाहरण नहीं बनता है । 'आयुः पिबामि' यह अधिक अच्छा उदाहरण है ।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम् ।
शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि ।

क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा इन्द्रार्था स्थूणा 'इन्द्रः' । क्वचित् स्वस्वामिभावात्; यथा राजकीयः पुरुषो 'राजा' । क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे 'हस्तः' । क्वचित् तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा 'तक्षा' ।

[सू० १७] लक्षणा तेन षड्विधा ॥१२॥

आद्यभेदाभ्यां सह ।

यहाँ [इन चारों उदाहरणोंमेंसे गौर्वाहीकः' तथा 'गौरयम्] गौणीके दोनों भेदोंमें [आरोप्यमाण गौ तथा आरोपविषय वाहीकका] भेद होनेपर भी [उन दोनोंके] तादात्म्यकी प्रतीति [लक्षणासे होती है] और [उन दोनोंके] सर्वथा अभेदका बोधन करना [उस गौणी लक्षणाका] प्रयोजन है । शुद्धा-लक्षणाके ['आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' आदि सारोपा तथा साध्यवसाना] दोनों भेदोंमें अन्योंसे भिन्न प्रकार [अर्थात् अति प्रबलता] से तथा नियमसे [अवश्य ही आयु आदि रूप] कार्य-कारित्वादि (लक्षणाका प्रयोजन) है ।

सादृश्यसे भिन्न सम्बन्ध होनेपर शुद्धा-लक्षणा होती है यह बात अभी कही थी और उस शुद्धा-लक्षणाके दो उदाहरण भी दिये थे । उसी प्रकारके कुछ और भी उदाहरण आगे दिखलाते हैं, जिनमें सादृश्य-सम्बन्धसे भिन्न सम्बन्ध लक्षणाके प्रयोजक हैं । अतएव वे सब शुद्धा-लक्षणाके उदाहरण हैं ।

कहीं तादर्थ्य [उसके लिए होने] से उपचार [अन्यके लिए अन्यके वाचक शब्दका प्रयोग] होता है, जैसे [यज्ञमें] इन्द्रके [पूजनके] लिए बनायी हुई स्थूणा [भी तादर्थ्य-सम्बन्धसे] 'इन्द्र' [कहलाती] है ।

कहीं स्व-स्वामिभाव सम्बन्धसे [अन्य शब्दका अन्यत्र प्रयोग होता है] जैसे राजाका [विशेष कृपा-पात्र] पुरुष [भी] 'राजा' [कहलाता] है ।

कहीं अवयवावयविभावसे [औपचारिक प्रयोग होता है] जैसे—'अग्रहस्त' यहाँ [हाथके] केवल आगेके भागके लिए 'हाथ' [शब्दका प्रयोग होता] है ।

कहीं 'उस कर्मके करनेके कारण' [तात्कर्म्य सम्बन्ध] से [औपचारिक शब्दका प्रयोग होता है], जैसे [बढ़ईका काम करनेवाले] अतक्षा [बढ़ईसे भिन्न ब्राह्मण आदिके लिए] बढ़ई [तक्षा शब्दका प्रयोग तात्कर्म्य सम्बन्धसे होता है] ।

[सू० १७]—इसलिए लक्षणा छह प्रकारकी हुई ॥१२॥

आदिके [उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणारूप] दोनों भेदोंके साथ [शुद्धा तथा गौणी दोनोंमेंसे प्रत्येकके सारोपा तथा साध्यवसाना दो-दो भेद कुल चारों भेदोंको मिलाकर लक्षणाके छह भेद हो जाते है] ।

षड्विधा लक्षणाका रहस्य

यहाँतक ग्रन्थकारने लक्षणाके छह भेदोंका निरूपण किया । हम पहले यह कह चुके हैं कि मम्मटने इस प्रसङ्गमें मुकुलभट्टके 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थका बहुत उपयोग किया है; इसकी पुष्टि मम्मटकी 'लक्षणा तेन षड्विधा' इस पंक्तिसे भी होती है । लक्षणाका यह छह प्रकारका विभाग मूलतः मुकुलभट्टने किया है । मम्मटने भी उसीका अनुवाद करके यहाँ 'लक्षणा तेन षड्विधा' यह लिख दिया है ।

सा च—

[सू० १८] **व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।** 1995

प्रयोजनं हि व्यञ्जन-व्यापारगम्यमेव ।

[सू० १९] **तच्च गूढमगूढं वा ।**

तच्चेति व्यङ्ग्यम् ।

'साहित्यदर्पण'में लक्षणाके सोलह भेद

साहित्यदर्पणकारने 'तेन षोडशभेदिता' लिखकर यहाँतक ही लक्षणाके छह भेदोंके स्थानपर सोलह भेद करके दिखला दिये हैं । वे सोलह भेद इस प्रकार होते हैं—पहिले रूढ़ि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती-लक्षणा ये दो भेद हुए । फिर उन दोनोंके उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणाके भेदसे, दो-दो भेद होकर चार भेद हुए । फिर उन चारों भेदोंके सारोपा तथा साध्यवसाना रूपसे दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए । फिर उन आठों भेदोंके शुद्धा तथा गौणी भेदसे दो-दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए । इस प्रकार साहित्यदर्पणकारने यहाँतक लक्षणाके सोलह भेद कर दिये हैं । मम्मट और मुकुलभट्टने यहाँतक केवल छह भेद ही किये हैं । इस अन्तरका कारण यह है कि मम्मट और मुकुलभट्ट दोनोंने 'उपादान-लक्षणा और 'लक्षण-लक्षणा' ये दोनों भेद केवल 'शुद्धा'के माने हैं, 'गौणी'के नहीं । विश्वनाथने 'गौणी'के भी ये दोनों भेद माने हैं । उनको मम्मटके ६ भेदोंमें मिला देनेसे ८ भेद बन जाते हैं । विश्वनाथने इनके रूढ़ि तथा प्रयोजनसे दो भेद करके १६ भेद बनाये हैं । मम्मट और मुकुलभट्टने ये भेद नहीं किये हैं । इसलिए उनके यहाँ भेदोंकी संख्या केवल ६ रह गयी है ।

लक्षणासे लक्षणामूला व्यञ्जनाकी ओर

'गौर्वाहीकः' आदिके विवेचनमें जो तृतीय मत मम्मटने दिखलाया था वह मूलतः मुकुलभट्टका मत था, परन्तु मम्मट भी उससे सहमत थे इसलिए उन्होंने उसका अपने मतके समान विस्तारपूर्वक और सप्रमाण उपपादन करनेका प्रयत्न किया है । यह बात हम पहिले लिख चुके हैं । वहाँसे यहाँतक मुकुलभट्टके साथ उनका विशेष मतभेद नहीं है इसलिए उसी पद्धतिपर उन्होंने विषयका विवेचन किया है परन्तु आगे उनका मुकुलभट्टके साथ मतभेद है और वह मतभेद व्यञ्जनाके विषयमें है । मुकुलभट्ट व्यञ्जनाको अलग वृत्ति नहीं मानते हैं परन्तु काव्यप्रकाशकार इस विषयमें ध्वनिवादी आचार्योंके अनुयायी हैं । ध्वन्यालोककारने प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजनको व्यञ्जनागम्य ही माना है । इसलिए मम्मट भी लक्षणाके विवेचनके साथ ही लक्षणा-मूला व्यञ्जनाका भी विवेचन करना चाहते हैं । अतएव यहाँसे आगे उनकी शैली मुकुलभट्टसे भिन्न हो जाती है । लक्षणा-मूला व्यञ्जनाके विवेचनकी भूमिका बाँधते हुए वे लिखते हैं—

[सू० १८]—रूढ़ि [गत भेदों] में व्यङ्ग्यसे रहित तथा प्रयोजन [मूलक भेदों] में [व्यङ्ग्यके] सहित होती है ।

क्योंकि प्रयोजन व्यञ्जना-व्यापारसे ही जाना जा सकता है [प्रयोजनवती लक्षणामें व्यङ्ग्य प्रयोजन अवश्य रहता है । अतएव वह व्यङ्ग्य-सहित ही होती है] ।

[सू० १९]—और वह [व्यङ्ग्य प्रयोजन कहीं] गूढ [दुर्ज्ञेय, सहृदयंकगम्य और कहीं] अगूढ़ [स्पष्ट, सर्वजनसंवेद्य] होता है ।

वह अर्थात् व्यङ्ग्य ['तत्' सर्वनाम इस पूर्व-प्रयुक्त व्यङ्ग्यका परामर्शक है] ।